सांख्य-योग दर्शनों में मान्य मानसिक तत्त्वों

का

आलोचनात्मक अध्ययन

[A Critical Study of Psychic Elements in the Systems of Sankhya and Yoga]

●

(प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

●

प्रस्तुतकर्त्री

श्रीमती आशा टन्डन

●

निर्देशक

डा० आद्याप्रसाद मिश्र

अध्यक्ष-संस्कृत विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय

विक्रमाब्द २०२९

(जून , १९७२ ई०)

श्रावण शुक्ल तृतीया

संस्कृत विभाग

प्रयाग विश्व विद्यालय

प्रयाग

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय है --'सांख्ययोग दर्शनों में मान्य मानसिक तत्त्वों का आलोचनात्मक अध्ययन' । एक भगवत्प्रिय और ईश्वरप्रेमी परिवार में जन्म लेने के कारण बाल्यावस्था से ही मुझे विविध महात्माओं के मुख से आत्मा सम्बन्धी विचारों के श्रवण का सौभाग्य समय-समय पर प्राप्त होता रहा, फलस्वरूप मन में आत्मा के यथार्थज्ञान की जिज्ञासा बढ़ती गई । आत्मतत्त्व या स्वतत्त्व का ज्ञान दर्शन के द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि दर्शन का अर्थ ही है --'दृश्यते तत्त्वत: ज्ञायते आत्मादितत्त्वमनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा आत्मादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सके, वही दर्शन है । अत: अपनी इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए बी० ए० में दर्शन विषय का वरण किया, यद्यपि दर्शन के साथ-साथ मैंने संस्कृत का भी अध्ययन सम्यक् प्रकार से किया, क्योंकि इसी के माध्यम से हमें अपनी पुरानी संस्कृति का ज्ञान सम्भव है । अत: संस्कृत भी मेरा एक विषय रहा । इसप्रकार बी०ए० में भारतीय दर्शन का अध्ययन करने से मेरी जिज्ञासा का कुछ समाधान हो पाया ।

उपर्युक्त जिज्ञासा की पूर्ण निवृत्ति पौराणिक ग्रन्थों या भारतीय दर्शन के मूलग्रन्थों के अध्ययन के बिना असम्भव है और ये ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही उपलब्ध हैं । अत: हमने एम०ए० कक्षा में संस्कृत

विषय ही लिया और प्रमुख दर्शनों, सांख्य,योग,न्याय,वेदान्तादि का अध्ययन करने से आत्म तत्त्व का कुछ ज्ञान हो सका । दर्शनवर्ग से एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् शोध-विषय के चयन का प्रश्न सामने आया ।

साधारणत: भारतीय दर्शन के विषय में ऐसा विचार प्रचलित रहा है कि यह विद्या अध्यात्मविद्या ही है,मनोविज्ञान का उसमें कोई स्थान नहीं तथा मन का उसमें कोई उल्लेख न हुआ परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है । भारतीय दर्शन का मुख्य उद्देश्य आत्मा का ज्ञान था, परन्तु साथ ही इस दर्शन में मन तत्त्व पर भी विस्तृत विवेचन हुआ है । मन के विभिन्न कार्यों अर्थात् विभिन्न मानसिक वृत्तियों पर भी भारतीय दार्शनिकों क ने पूर्ण विचार किया है । अत: लोक में प्रचलित उपर्युक्त धारणा की निवृत्ति के लिए और भारतीय दर्शन की व्यापकता के प्रदर्शन के लिए ही मेरे पूज्य गुरुवर्य ने मुझे प्रस्तुत विषय पर शोध करने की अनुमति दी । यद्यपि भारतीय सभी दार्शनिकों ने मन या चित्त पर विचार प्रस्तुत किए हैं,अत: मन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है,परन्तु शोध का विषय इतना व्यापक नहीं हो सकता, उसे कुछ सीमित ही होना चाहिए और साथ ही मन का विस्तृत अध्ययन 'Concept of mind in Indian Philosophy.' विषय के अन्तर्गत इसी विश्वविद्यालय में हो रहा है ,अत: मैंने केवल सांख्य योग दर्शनों(संयुक्त शास्त्रों) में मान्य मन की क्रियाओं को ही अनुसन्धान का विषय बनाया । मैं इस प्रयत्न में कहां तक सफल हो सकी, यह विद्वज्जन ही स्थिर कर सकेंगे ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में छ: अध्याय हैं । इन सभी से पूर्व एक विषय-प्रवेश है,जिसमें मानसिक तत्त्वों पर विचार प्रस्तुत किया

गया है । प्रथम अध्याय में सांख्य योगाभिमत सभी प्रमेयों या तत्वों के स्वरूप पर संक्षिप्त विचार करते हुए मन: तत्वों पर विशेष विचार किया गया है । द्वितीय अध्याय में इन तत्वों के सृष्टिक्रम और सृष्टि के प्रयोजन आदि का उल्लेख किया गया है । तृतीय अध्याय में इन सभी मानसिक तत्वों के सामान्या-सामान्यादि व्यापारों या क्रियाओं पर विशद विवेचन हुआ है । चतुर्थ अध्याय में चित्त की विशिष्ट वृत्तियों पर स्व व्यापारों पर विचार किया गया है । पंचम अध्याय चित्तवृत्तियों के निरोध के विविध उपायों का वर्णन करता है । षष्ठ अध्याय में वृत्तिनिरोध के पश्चात् चित्त की स्थिति किस प्रकार की होती है, इसका उल्लेख किया गया है । इन सभी के पश्चात् अन्त में अर्थात् उपसंहार रूप में उस परम पुरुषार्थ को स्पष्ट किया गया है, जिसकी प्राप्ति के लिए मानव को जन्म-जन्मान्तरों तक तपस्याएं, और प्रयत्न करने पड़ते हैं, वह है कैवल्य या मोक्ष ।

प्रस्तुत प्रबन्ध के सफल सम्पादन का श्रेय मेरे पूज्यगुरुवर्य डा० आद्याप्रसाद मिश्र को ही है, जिनका पर्याप्त निर्देशन मुझे यथावसर प्राप्त होता रहा । अत: हम इनकी महती अनुकम्पा के प्रति अत्यन्त आभारी हैं । हम उन सभी गुरुजनों के ऋणों से मुक्त नहीं हो सकते, जिन्होंने दर्शनादि का अध्यापन कर मुझे इस कार्य के योग्य बनाया ।

हम अपने पारिवारिक सदस्यों और विशेषकर अपने पूज्य पिता जी श्री मोतीलाल के विशेष आभारी हैं, जिनके असीम उत्साह और प्रबल अभिलाषा ने मुझे इस कार्य में प्रवृत्त किया । साथ ही अपने पतिदेव श्री भगवान्नारायण जी टण्डन के विशेष कृतज्ञ हैं, जिन्होंने विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भी मुझे इस कार्य की पूर्ति में पूर्ण सहयोग प्रदान किया है ।

अन्त में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के टंकक श्री रामहित त्रिपाठी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए मैं अपना कथन समाप्त करती हूं। प्रस्तुत प्रबन्ध जिस रूप में भी है, विद्वद्वर्ग के समक्ष मूल्यांकन हेतु प्रस्तुत है।

-o-

श्रीमती आशा टण्डन

(श्रीमती आशा टण्डन)

जून, १९७९ई०
श्रावण शुक्ल तृतीया

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठसंख्या

विषय | पृष्ठसंख्या

विषय-प्रवेश

प्रस्तुत विषय 'सांख्ययोग दर्शनों में मान्य मानसिक (आन्तरिक) तत्वों का आलोचनात्मक अध्ययन' में सांख्य योग दार्शनिकों को अभिमत मनस् तत्वों या मन: सम्बन्धी तत्वों की सीमित समीक्षा प्रस्तुत की जायगी। मानसिक तत्व के अन्तर्गत कौन-कौन तत्व आते हैं, यह निश्चय करना आवश्यक है । मनस् वस्तुत: मनोविज्ञान का विषय है । मनोविज्ञान का अर्थ है -- मन का विज्ञान । मनोविज्ञान को साइकालोजी (Psychology) भी कहते हैं-- यह शब्द ग्रीक शब्द ' Psyche ' और ' Logos ' से मिलकर बना है-- Psyche का अर्थ है-- आत्मा या मन और Logos का अर्थ है ज्ञान या विचार । अत: मनोविज्ञान का अर्थ है-- आत्मा या मन का ज्ञान । परन्तु आगे चलकर यह शब्द बहुत संकुचित हो गया और मनोविज्ञान का अर्थ मानसिक ज्ञानमात्र रह गया ।अत: आचार्यों ने मनोविज्ञान का ऐसा ही अर्थ किया -- ' Psychology deals with the phenomena of mind. It is the Science of mind or mental processes.' [1] निरंजन कुमार भी ऐसा ही लक्षण कहते हैं-- 'मनोविज्ञान एक ऐसा विषय है, जिसमें मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है[2] ।' अत: जिस विधा के द्वारा मन की विभिन्न क्रियाओं, व्यवहारादि पर विचार किया जाता है, वही मनोविज्ञान है ।

---

१ 'मैनुअल आफ साइकालोजी', पृ०२

२ शिक्षा-मनोविज्ञान, पृ०१

अब प्रश्न यह है कि मन से यहां मनोवैज्ञानिकों का क्या अभिप्राय है ? मनोवैज्ञानिकों ने इस पद पर भी प्रकाश नहीं डाला, परन्तु सामान्यत: वे मन से अन्तरिन्द्रिय मन (Mind) का ही ग्रहण करते हैं । हां, विभिन्न दार्शनिकों में इस विषय में मतभेद है । मन एक अन्तरिन्द्रिय है, अत: मन से अभिप्राय अन्त: तत्त्वों से है । इसलिए प्रस्तुत विषय में मन सम्बन्धी या यह कहिए कि सभी अन्त: तत्त्वों या करणों पर विचार होगा । परन्तु जहां तक अन्त:करणों की संख्या का प्रसंग है, विभिन्न दार्शनिक भिन्न-भिन्न मत व स्वीकार करते हैं । नैयायिकों को एक ही मन रूप अन्त:करण मान्य है । इनसे भिन्न वेदान्ती चतुर्विधान्त: करणों को स्वीकार करते हैं, यद्यपि इनमें से दो का अन्य दो में अन्तर्भाव भी उन्हें अभिमत है । ये चार हैं-- चित्त, अहंकार, बुद्धि और मन । उनके अनुसार इनमें से चित्त और अहंकार का बुद्धि और मन में अन्तर्भाव होता है । अत: मुख्यत: दो ही अन्त:करण हैं-- बुद्धि और मन । जैसा कि वेदान्तसार की इन पंक्तियों से स्पष्ट है --`बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्त: करणवृत्ति: । मनो नामसंकल्पविकल्पात्मिाऽन्त:करणवृत्ति: । अनयोरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भाव:`[१] ।

उपर्युक्त दोनों से भिन्न सांख्यदार्शनिकों को त्रिविधान्त:करण ही अभीष्ट है -- बुद्धि, अहंकार और मन । योग दर्शन सांख्य का समानतन्त्र होने पर भी चार अन्त:करण मानते हैं । उन्हें इन तीनों के अतिरिक्त एक चित्त भी अन्त:करण रूप से मान्य है । भिन्नता केवल इतनी ही है कि सांख्यदार्शनिक चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव मानते हैं । अत: सांख्यदर्शन में बुद्धि का ही प्राधान्य है । अत: प्रमाणादि को भी इस दर्शन में `बुद्धिवृत्त्य:` पद से कहा गया है । बुद्धि का प्राधान्य सांख्यदर्शन में अनेकश: वर्णित है, इसका उल्लेख प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में विस्तारपूर्वक किया जायगा ।

----

१ वेदान्त सार, पृ०३६

योग में चित्त ही प्रधान है, योगभाष्य और वृत्तियों में प्राय: चित्त का ही प्रयोग हुआ है । कहीं-कहीं चित्त का प्रयोग सभी अन्त:करणों के लिए अथवा अन्त:करणसामान्य के लिए,कहीं केवल बुद्धि के लिए और कहीं-कहीं केवल मन के लिए ही हुआ है । जैसे--`चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन....स्वामिन:` यहां चित्त का प्रयोग बुद्धि के अर्थ में हुआ है । इसी प्रकार प्रमाणों के प्रसंग में भी अनेकश: बुद्धि के स्थान पर चित्त का ही प्रयोग हुआ है । अभ्यास के प्रसंग में चित्त का प्रयोग अन्त:करणसामान्य के लिए हुआ --`चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थिति:` । इसीप्रकार बुद्धि आदि का मन संज्ञा से भी कथन हुआ है । `महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मन:` इस सूत्र में सांख्य सूत्रकार ने महत् या बुद्धि के लिए मन का प्रयोग किया है ।

अब प्रश्न यह है कि चित्त क्या है ? इस विषय में कुछ मतभेद है । कुछ आचार्य चित्त शब्द के अन्तर्गत बुद्धि,अहंकार और मन इन त्रिविध अन्त:करणों को गृहण करते हैं । विज्ञानभिक्षु ने `चित्तमन्त:करणसामान्य` कहकर एतादृश मत स्पष्ट किया है । इनसे भिन्न वाचस्पति मिश्र ने चित्त शब्द से बुद्धि या मनोमात्र का गृहण किया है--`चित्तशब्देन अन्त:करणं बुद्धिमुपलक्षयति` । अत: बुद्धि ही चित्त है । चित्त को ही मन संज्ञा से भी कहते हैं । अत: इनसे केवल एकादशेन्द्रिय मन का ही गृहण न करना चाहिए, वरन् चित्त, अहंकार, बुद्धि और मन इन चारों का ही मन में अन्तर्भाव हो जाता है । इसी कारण सांख्य योग दार्शनिक प्रमाण में बौद्ध बोध और पौरुषेय बोध रूप से द्विविध बोध मानते हैं । बौद्ध बोध से तात्पर्य बुद्धिगत ज्ञान से है और पौरुषेय बोध पुरुषगत ज्ञान को कहते हैं । जैसे— घट को देखकर घटाकाराकारित बुद्धि होती है और बुद्धि को घट का `अयं घट:` इस प्रकार से ज्ञान होता है, तत्पश्चात् पुरुष को `घटमिमं जानामि` एतादृश ज्ञान होता है , यही पौरुषेय बोध है यद्यपि इस ज्ञान को नैयायिक तो

अनुव्यवसाय कहते हैं और सांख्य-योगियों के मत में भी यह उपपन्न नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उनका पुरुष निर्गुण, अपरिणामी और कूटस्थ है[1]। अत: वह विविध विषयों के आकार को धारण नहीं कर सकता साथ ही बोध व्यवसायात्मक होता है और व्यवसाय बुद्धि का धर्म है न कि पुरुष का अत: बोध पुरुष को हो यह सम्भव नहीं। इस प्रकार पुरुष को ज्ञान नहीं होता, परन्तु अज्ञान के कारण पुरुष बुद्धिगत ज्ञान को स्वयं में आरोपित करके स्वयं को विविध कर्मों का कर्ता और विविध फलों का भोक्ता समझ बैठता है। बोध की इस प्रक्रिया के विषय में द्विविध मत प्रचलित हैं-- एक वाचस्पति का एकप्रतिबिम्बवाद और दूसरा विज्ञानभिक्षु का द्विप्रतिबिम्बवाद। पुरुष और बुद्धि का अज्ञान के कारण सन्निकर्ष होने से पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है और चित् तत्त्व के प्रतिबिम्ब के कारण बुद्धि चेतन सी प्रतीत होने लगती है और बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष बुद्धिकृत कर्मों को अपना समझकर स्वयं को इन कार्यों का कर्ता भोक्तादि समझने लगता है। इसी अज्ञानकृत अभिमान के कारण पुरुष उस बुद्धिवृत्ति का साक्षी, द्रष्टा और भोक्ता बनता है। अत: बुद्धिगत ज्ञान का अभिमानी होने से अथवा बुद्धिगत ज्ञान को स्वयं में आरोपित करने से पुरुष को उस ज्ञान का जो अभिमान होता है वही पौरुषेय बोध है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर तटस्थ ज्ञान को प्राप्त करना ही एकप्रतिबिम्बवाद है।

इनसे भिन्न विज्ञानभिक्षु द्विविध प्रतिबिम्ब मानते हैं। पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्ब तो उन्हें भी ग्राह्य है अर्थात् सर्वप्रथम पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है, फलस्वरूप बुद्धि चेतन सी हो जाती है और विषयाकाराकारित होकर विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है, तत्पश्चात् बुद्धि उस ज्ञान सहित पुन: पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है। अत: चित् पुरुष बोद ज्ञान का साक्षी या द्रष्टा प्रतीत होता है।

---

१. 'कूटेन मूलस्वरूपेण तिष्ठतीति कूटस्थः

इस प्रकार बुद्धि का स्वज्ञान सहित पुरुष में प्रतिबिम्बन और पुरुष में उस ज्ञान का आरोप ही पौरुषेय बोध है । जिसे सांख्य-योगदार्शनिक प्रमा या प्रमाण का फल मानते हैं । इस प्रकार इस सिद्धान्त में दो बार प्रतिबिम्बन होने के कारण ही इसे द्विप्रतिबिम्बवाद कहते हैं-- एक बार पुरुष का बुद्धि में और दूसरी बार बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्ब ।

इस प्रकार मन से ही बुद्धि, चित्त, अहंकार और मन इन चतुर्विध अन्त:करणों का ग्रहण होने के कारण मनोविज्ञान में इनका भी अध्ययन होना चाहिए । ये ही सांख्ययोग दर्शनों को मान्य मानसिक या अन्त: तत्त्व हैं । अब प्रश्न यह है कि क्या केवल अन्त:करण का ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में अध्ययन किया जायगा अथवा अन्य बाह्य करणों का भी । वस्तुत: अन्त:करण तो चार ही हैं और उनमें भी बुद्धि ही प्रधान है अत: बुद्धि को सांख्य दार्शनिकों ने द्वारिणी कहा है[1] । बुद्धितत्त्व सूक्ष्म होने से बाह्यार्थों से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती और विषयों से सन्निकर्ष के अभाव में तद्विषयक ज्ञान भी सर्वथा असम्भव है । अत: इन सभी विषयों के ज्ञान के लिए उनसे सन्निकर्ष अनिवार्य है । बुद्धि के असमर्थ होने से उसे बाह्य करणों या इन्द्रियों की अपेक्षा होती है । बुद्धि द्वारी है, बाह्यार्थों से सन्निकर्ष के लिए इन्द्रिय रूप द्वारों की आवश्यकता है । अत: सर्वप्रथम इन्द्रियों का विषयों से सन्निकर्ष होता है । तत्पश्चात् इन्द्रियां इस ज्ञान को मन और अहंकार के माध्यम से बुद्धि को अर्पित करती हैं तभी बुद्धि उनके ज्ञानार्जन में समर्थ होती है । अत: इन्द्रियां बुद्धि की सहायक होने से ही द्वार या प्रणालिका कही जाती है । अत: बिना बाह्य करणों (इन्द्रियों) की सहायता से अन्त:करणों की क्रियाओं आदि पर विचार करना सम्भव नहीं है । इसलिए अन्त:करणों

---

१ सान्त:करणा बुद्धि: सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥

--का०३५, पृ०२६६

पर सम्यक् विचार या उनकी सम्यक्रूपेण समीक्षा करने के लिए बाह्यकरणों का भी विवेचन करना आवश्यक है । अब प्रश्न यह है कि बाह्यकरण कितने और कौन-कौन हैं ? इन पर विस्तृत विचार शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में किया जायगा । परन्तु यहां भी उनकी गणना आवश्यक ही है । बाह्य-करण संख्यामें दश हैं-- पंच ज्ञानेन्द्रियां और पंच कर्मेन्द्रियां जैसा कि इस कारिका से स्पष्ट है --`अन्त:करणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्`[1] । अत: सभी इन्द्रियों को बाह्यकरण कहते हैं । अन्ततोगत्वा यह कह सकते हैं कि प्रस्तुत प्रबन्ध में सभी अन्त: और बाह्य करणों की समीक्षा प्रस्तुत की जायगी ।

अब इन मानसिक तत्त्वों या अन्त: और बाह्य द्विविध करणों के स्वरूप,क्रियाओं और प्रक्रियाओं पर आगे विचार किया जायगा । सांख्य योगदर्शन में ये करण उनके प्रमेयों या तत्त्वों के अन्तर्गत आते हैं । अर्थात् ये प्रमेय या विषय हैं, परन्तु इनकी वृत्तियां अन्य प्रमेयों या विषयों को ग्रहण करती हैं,अर्थात् विषयों के ग्रहण को ही वृत्ति कहते हैं । अत: इस प्रबन्ध में इन बुद्धि आदि का गृहीता रूप से उल्लेख हुआ है ।अत: गृहीता के ग्राह्य या विषयों का उल्लेख भी अनिवार्य है । अतएव सर्वप्रथम इन दर्शनों में मान्य तत्त्वों पर ही विचार किया जायगा । मुख्यत: सांख्य योगी द्विविध तत्त्व स्वीकार करते हैं-- पुरुष और प्रकृति । इन दोनों के अतिरिक्त कुछ अन्य पदार्थों को उन्होंने तत्त्व संज्ञा दी है । वे तत्त्व संख्या में २३ हैं और प्रकृति के अवान्तर परिणाम रूप हैं । इन्हीं परिणामों या तत्त्वों के अन्तर्गत ही उपर्युक्त त्रयोदश करण भी आते हैं । अत: पच्चीस ही प्रमेय या तत्त्व हैं । यद्यपि योगीजन इनसे भिन्न एक और तत्त्व ईश्वर को स्वीकार करते हैं, लेकिन इसे तत्त्व संज्ञा से नहीं कहा गया । वह पुरुषविशेष है अत: पुरुष में ही योगी इसका अन्तर्भाव कर देते हैं । अत: ये पच्चीस

---

[1] कारिका ३३ ,पृ० २६०

प्रमेय ही हैं । आगे प्रथम अध्याय में इन प्रमेयों का साधारणरूपेण विचार करते हुए उपर्युक्त अन्तः और बाह्य करणों का पर विशेष विचार किया जायगा ।

-o-

प्रथम अध्याय

-o-

सांख्ययोगाभिमत प्रमेयों का निरूपण

सांख्ययोगाभिमत तत्त्वों का उद्देश्य

(क) अव्यक्त का स्वरूप

(महत्
(ख) महत् तत्त्व का प्रथम विकारतत्व

(ग) व्यक्त तत्त्वों का स्वरूप

महत्

अहंकार

इन्द्रिय

तन्मात्र और पंचमहाभूत

(घ) एक अन्य तत्त्व ईश्वर

योग दर्शन में ईश्वर का स्थान

-o-

प्रथम अध्याय

-o-

सांख्ययोगाभिमत प्रमेयों का निरूपण

सांख्ययोगाभिमत तत्त्वों का उद्देश्य

किसी दर्शन में मान्य तत्त्वों का उद्देश्य या स्वरूप स्पष्ट करना सहज है, परन्तु सर्वप्रथम तत्त्व क्या है ? इसे निश्चय करना कुछ दुष्कर है । 'तत्त्व' जैसा कि इस पद से ही स्पष्ट है, 'तद्भाव' को कहते हैं, अर्थात् सत् पदार्थ की सत्ता या अस्तित्त्व अथवा असत् पदार्थ की असत्ता या अनस्तित्त्व को ही तत्त्व कहते हैं । अत: सत् वस्तु को सत् है, इस प्रकार यथार्थ रूप से ग्रहण करना ही तत्त्व-ज्ञान है और असत् वस्तु का असत् है, इस प्रकार का यथार्थ ज्ञान होना ही तत्त्व ज्ञान है[1] । अर्थात् ऐसे तत्त्व का जो सत् या असत् विषय है वे ही तत्त्व कहे जाते हैं । सर्वदर्शनसंग्रहकार[2] ने भी तत्त्व की ऐसी ही व्याख्या की है । तत्त्वज्ञान या वस्तु के मूलरूप का ज्ञान ही मोक्ष के लिए उपयोगी है, अत: जिस वस्तु का ज्ञान मोक्षोपयोगी हो, वही तत्त्व है । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सायनमाधव ने तत्त्व का यह लक्षण आस्तिक दर्शन के तत्त्वों की दृष्टि से किया है, क्योंकि अनास्तिक दर्शन या यह कहिए कि चार्वाक् दर्शन में तत्त्व का यह लक्षण नहीं घटता, क्योंकि वे मोक्ष जैसी कोई अवस्था नहीं स्वीकार करते । उनके लिए शरीर ही

---

१ न्यायभाष्य, पृ०४७

२ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १८६

आत्मा है और शरीर का नाश ही मुक्ति है, परन्तु वे इसे 'मुक्ति' संज्ञा नहीं देते। अत: इन्हें मोक्षोपयोगी कोई तत्त्व अभीष्ट नहीं। इस प्रकार मुख्यत: तत्त्व का लक्षण आस्तिक दर्शनों के लिए ही है।

सभी भारतीय दार्शनिकों में तत्त्वों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है और यह स्वाभाविक है। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' उक्ति के अनुसार सभी प्राणियों की बुद्धि या विचार भिन्न-भिन्न होते हैं। अत: कुछ दार्शनिक जैसे वेदान्ती एकमात्र परमतत्त्व या परब्रह्म को ही सत् तत्त्व मानते हैं। वस्तुत: एक तत्त्व ब्रह्ममात्र का ज्ञान होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अन्य सभी तत्त्व इन्द्रियादि मिथ्या हैं। ये तत्त्व अज्ञानावृत या तमसावृत बुद्धि के लिए ही सत् प्रतीत होते हैं। अत: इनकी व्यावहारिक सत्ता मात्र ही है न कि पारमार्थिक भी पारमार्थिक स्तर पर एक परमेश्वर या ब्रह्म ही सत् है। इस प्रकार वेदान्तियों को एक तत्त्व ही अभिमत है। इनसे भिन्न नैयायिक[1] षोडश पदार्थों को मानते हैं और उनके अनुसार इन १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान या यथार्थज्ञान से ही मोक्षप्राप्ति होती है, परन्तु इनके विपरीत सांख्यदार्शनिक दो तत्त्व ही स्वीकार करते हैं-- (१) प्रकृति और (२) पुरुष। इन दोनों तत्त्वों के पार्थक्यज्ञान से अथवा प्रकृतिपुरुष-विवेकज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है। ये दो ही मुख्य तत्त्व हैं, यद्यपि प्रकृति के २३ अवान्तर परिणाम भी हैं, जिन्हें सांख्ययोगाचार्यों ने 'तत्त्व' संज्ञा दी है। अत: इन्हें भी मिलाकर कुल २५ तत्त्व होते हैं। अब प्रश्न यह है कि ये पच्चीस तत्त्व ही क्यों हैं, इनकी संख्या पच्चीस से कम या अधिक क्यों न मानें। जहां तक तत्त्वसंख्या के निर्णय का प्रश्न है, सांख्यसूत्रकार ने सूत्र १।६१[2] के अन्त में 'पंचविंशतिर्गण:' पद का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया कि २५ ही[3] तत्त्व है, न अधिक और न कम। सांख्यसूत्र के वृत्तिकार अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु भी कपिल के मत से सहमत हैं।

----

१ न्यायसूत्र, पृ०५

२ सांख्यसूत्र, पृ० ४६

३ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ०४५

यद्यपि उन्होंने तर्कत: यह सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया है कि २५ तत्त्व ही मानने का क्या कारण है । सर्वप्रथम यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि ये तत्त्व कौन-कौन हैं-- प्रकृति, महत्, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां, पंच तन्मात्र, पंचमहाभूत और पुरुष । इन तत्त्वों की गणनामात्र से उपर्युक्त शंका का समाधान नहीं हो जाता । पंचमहाभूतपर्यन्त पदार्थों को ही 'तत्त्व' संज्ञा क्यों दी गई । इन भूतों के परिणाम घटपटादि को तत्त्व क्यों नहीं कहा गया ? ये प्रश्न स्वाभाविक हैं । इनका समाधान तत्त्वकौमुदीकार[1] तथा अन्य टीकाकारों के वचनों से हो जाता है । गोघट आदि पदार्थ भी पृथिवी आदि भूतों के समान स्थूल और बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य हैं । अत: गो आदि पृथिवी आदि के कार्यभूत तत्त्व नहीं हो सकते, क्योंकि कारण को सदैव कार्य से सूक्ष्म अर्थात् कार्य को कारण से स्थूल होना चाहिए । जब पृथिवी और गो आदि समानरूप से स्थूल और उन्हीं इन्द्रियों से ग्राह्य हैं, गो आदि के पृथक् तत्त्व रूप से ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता । वंशीधरमिश्र[2] ने इस विषय को अनुमान प्रमाण से स्पष्ट किया । गोघटादि स्थूल और इन्द्रियग्राह्य तो हैं ही, साथ ही शान्तादि धर्मों या गुणों से भी युक्त है । अत: ये कदापि भिन्न तत्त्व के रूप से ग्राह्य नहीं[3] । तत्त्वकौमुदी के टीकाकार शिवनारायणशास्त्री ने भी उपर्युक्त विषय पर विचार प्रकट करते हुए विज्ञानभिक्षु की सहायता ली[4] । विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक में तत्त्वान्तर परिणाम का लक्षण किया है-- 'तत्त्वत्वं द्रव्यत्वं तत्त्वान्तरत्वं च स्वावृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्' अर्थात् तत्त्व ही द्रव्य है, स्व अर्थात् अपने उपादान कारणमें न रहने वाली द्रव्यत्व की जो साक्षात् व्याप्य जाति है, उससे युक्त होना ही तत्त्वान्तर होना है । इस लक्षण के आधार पर गोघटादि की परीक्षा करने पर जब यह लक्षण गो आदि में पूर्णतया घटित हो, तब ही गो आदि तत्त्वान्तर हैं अन्यथा नहीं । जिस प्रकार ---------------

१ सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ०६५
२ सांख्यतत्त्वविभाकर, पृ०६३, का०३
३ सारबोधिनी, पृ०६२, का०३
४ योगवार्तिक, पृ०२०६, सूत्र २।१६

अहंकार के ब उपादानकारण महत् में न रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षाद्व्याप्य जो अहंकारत्वादि जाति है, उस जाति से अहंकार युक्त है, अत: वह महत् का तत्त्वान्तर है । परन्तु गौ आदि के उपादान पृथिवी आदि में द्रव्यत्व की साक्षाद्व्याप्य पृथिवीत्व जाति नहीं होना चाहिए,परन्तु मैं पृथिवी में (स्वोपादानपृथिव्यादिवृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य) पृथिवीत्वादि जाति होने के कारण गौ आदि पृथिवी आदि के तत्त्वान्तर नहीं । इस प्रकार तत्त्वत्व का पर्यवसान पृथिव्यादि पंचभूतों तक ही है न कि गौ घटादि पर्यन्त । साथ ही गौ घटादि को तत्त्व संज्ञा तभी दी जा सकती है, जब पृथिवी आदि भूतों में प्रकृतित्व हो । अर्थात् जिस प्रकार शब्दस्पर्शादि पृथिवी आदि की प्रकृति हैं अत: पृथिवी आदिभूत तत्त्व कहे जाते हैं,उसी प्रकार यदि पृथिवी आदि भूतों में प्रकृतित्व हो, तभी गौ आदि भी तत्त्व होंगे । जहां तक प्रकृतित्व का प्रश्न है 'तत्त्वान्तरोपादकत्वं प्रकृतित्वं' अर्थात् अन्य तत्त्व या तत्त्वान्तर को उत्पन्न करना ही प्रकृतित्व है । अत: जो तत्त्व अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करता है, वही प्रकृति या कारण है । शब्दादि आकाशादि भूतों की प्रकृति है, और आकाशादि से वे सूक्ष्म भी हैं । सूक्ष्म होने से वे स्थूल भूतों की प्रकृति कहे जा सकते हैं, परन्तु व स्थूलता सूक्ष्मता के आधार पर पृथिवी को प्रकृति नहीं कह सकते,क्योंकि स्थूलता और इन्द्रियग्राह्यता भूतों और उनके गौघटादि परिणामों में समान है । अत: यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भूतादि और गौ आदि में कौन किसका कारण है? कारणत्व के निश्चय के अभाव में पृथिवी में प्रकृतित्व का अवधारण नहीं हो सकता, इस प्रकार गौघटादि को तत्त्व रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता। युक्तिदीपिकार[१] ने इस तथ्य को भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है-- पृथिव्यादि भूतों से तत्त्वान्तर की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है । ग्राहकान्तर का अभाव होने से अर्थात् जिस प्रकार तन्मात्राओं से उत्पन्न महाभूतों को ग्रहण करने वाला इन्द्रिय रूप तत्त्व अहंकार से उत्पन्न होता है, उस प्रकार पृथिवी आदि महाभूतों के विकार

---

१ युक्तिदीपिका, पृ० २६

घटादि का अन्य कोई ग्राहक नहीं । अत: ग्राहकान्तर तत्त्वों के अभाव में घटादि को तत्त्वान्तर मानना उपयुक्त नहीं । अत: पृथिव्यादि विकार ही हैं और इन्हीं में तत्त्वसंख्या का पर्यवसान होता है । इस प्रकार पच्चीस ही तत्त्व होते हैं ।

सांख्य दार्शनिकों के समान योगदार्शनिक भी मुख्य दो तत्त्व ही स्वीकार करते हैं और प्रकृति के अवान्तर परिणामों को सम्मिलित करके कुल पच्चीस परन्तु योगियों ने एक अन्य ईश्वर को भी स्वीकार किया, यद्यपि उनका ईश्वर पुरुष का एक प्रकार ही है[1]। अत: उसे एक अन्य तत्त्व के रूप में मानना उचित नहीं । हां, उसे पुरुषविशेष कह सकते हैं । योगसूत्रकार पतंजलि ने इन सभी तत्त्वों का उद्देश्य नहीं किया, परन्तु द्वितीय पाद के १६ सूत्र[2] में उन्होंने गुणों के सभी परिणामों का मुख्य चार रूपों में विभाजन किया है -- विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग । इनके अतिरिक्त[3] पुरुष या चितिशक्ति एक अन्य तत्त्व है ही । योगसूत्रों के विविध भाष्यकारों ने यह स्पष्ट कर दिया कि पंचमहाभूत, पंचतन्मात्ररूप अविशेषों के विशेष हैं । पंच बुद्धीन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां मन और पंचतन्मात्र अविशेष हैं, और अस्मिता या महत् लिंगमात्र है । प्रधान या मूलप्रकृति अलिंग है । इस प्रकार इन चारों गुणपर्वों के अन्तर्गत २४ तत्त्वों का अन्तर्भाव हो जाता है[4]। महाभारत के अनुशासन पर्व में भी कई स्थलों में सांख्ययोग दर्शनों के पंचविंशति तत्त्वों का उल्लेख हुआ है ।

(क) अव्यक्त का स्वरूप

उपर्युक्त द्विविध तत्त्वों (प्रकृति और पुरुष) में प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन, परन्तु इनसे भिन्न कौन-कौन तत्त्व व्यक्त हैं और कौन अव्यक्त, ऐसी जिज्ञासा होती है । जहां तक अव्यक्त तत्त्व का प्रश्न है, प्रकृति क ही एकमात्र अव्यक्त है । अव्यक्त शब्द सापेक्ष है, अत: यह किन व्यक्त तत्त्वों की

---

१ `क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष: ईश्वर:`, योगसूत्र१।२४, पृ०१२८

२ `विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि`, योगसूत्र, २।१६, पृ०३७७

३ योगभाष्य, पृ०३७८-७९

४ अनुशासनपर्व, पृ०१२२५

अपेक्षा अव्यक्त है, यह जानना आवश्यक है । सभी आचार्यों[1] ने इस विषय में अपने मत दिये हैं । सांख्यकारिका २ के `व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्` पद की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने व्यक्त तत्त्वों की गणना की है । अत: अव्यक्त तो प्रकृति, परन्तु व्यक्त तत्त्वों के अन्तर्गत अन्य महत् से लेकर पंचमहाभूतपर्यन्त सभी तत्त्व सम्मिलित हैं । ये तत्त्व प्रकृति से स्थूल होने के कारण व्यक्त कहे जाते हैं । महाभारत के शान्तिपर्व[2] में भृगु ने व्यक्ताव्यक्त पदार्थों को स्पष्ट किया है । जो तत्त्व इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं,अर्थात् इन्द्रियों के विषय हैं, वे व्यक्त तत्त्व कहलाते हैं और जो इन्द्रियातीत और अपने कार्य रूप लिंग से अनुमित होते हैं वही अव्यक्त हैं।

अब प्रश्न है कि प्रकृति है क्या ? अथवा प्रकृति किसे कहते हैं ? प्रकृति के दो प्रकार के लक्षण हो सकते हैं -- स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण । सांख्यसूत्रकार ने प्रकृति का एक साधारण लक्षण किया है । सत्त्व,रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है । यह लक्षण उपयुक्त ही है और सांख्ययोगदार्शनिक ही नहीं,वरन् सर्वदर्शनसंग्रहकार[3] भी इससे सहमत हैं । व प्रधान त्रिगुणात्मक है, जिस अवस्था में सत्त्व,रजस् और तमस् समभाव रहते हैं, वही प्रकृति है । इस अवस्था में किसी की भी न्यूनता या आधिक्य न होने के कारण यह कहना सम्भव नहीं कि यह रज है और यह तम । इस प्रकार प्रकृति की अवस्था में तीनों गुण एक ही प्रतीत होते हैं । अत: एक ही `प्रकृति` इस संज्ञा से कहे जाते हैं । स्कान्दपुराण में भी प्रकृति के इस स्वरूप का वर्णन हुआ है[4] । इस प्रकार गुणों की न्यूनाधिक्यहीनावस्था अथवा अकार्यावस्था ही प्रकृति है । `देवीभागवत` में भी यह `साम्यावस्थात्मिकात्वं` पद से कही गई है । प्रश्न यह है कि सत्त्वादि की साम्यावस्था को प्रकृति मानने पर सृष्टिकाल में जब

---

१ गौडपादभाष्य,पृ०४,माठरवृत्ति, पृ०६

२ राजधर्मानुशासनपर्व, पृ०५२२

३ सर्वदर्शनसंग्रह,पृ०३११

४ स्कान्दपुराण,काशीखण्ड,पृ०११

उन गुणों में जब वैषम्य होता है, तभी महदादि की उत्पत्ति होती है । अतः सृष्टिकाल में प्रकृति का स्वरूप नष्ट हो जायगा, क्योंकि गुणों में साम्य न रहकर उस समय उनमें विषमता आ जाती है, अतः वह प्रकृति कैसे ? परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता । विज्ञानभिक्षु ने इसी शंका के निवारणार्थ प्रकृति का लक्षण करते हुए गुणों की साम्यावस्था मात्र को प्रकृति नहीं कहा, वरन् साम्यावस्था से उपलक्षित सत्त्वादि गुणों को ही प्रकृति कहा है -- 'अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं प्रकृतिरित्यर्थः'[1] प्रकृति का एतादृश लक्षण उचित ही है । इसका डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य ने भी समर्थन किया है[2] ।

यह सर्वमान्य है कि अकार्योपलक्षित सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है, परन्तु समस्या यह है कि विज्ञानभिक्षु ने इन तीनों को गुण न कहकर द्रव्य कहा है[3] । ये वस्तुएं गुण हैं अथवा द्रव्य ? वस्तुतः ये द्रव्य हैं संयोगविभाग युक्त होने से । संयोगादि से युक्त होना द्रव्य के लिए ही सम्भव है, गुणों के लिए नहीं, इसके अतिरिक्त सत्त्वादि लघुत्वगुरुत्वादि धर्मों से भी युक्त है, हां इन द्रव्यों को सांख्य शास्त्र में पुरुष के उपकरण रूप से प्रतिपादित होने के कारण गुण संज्ञा दी गई, यह अवश्य है कि इनकी गुण संज्ञा उनके परार्थ या पुरुष के भोगापवर्ग के लिए होने से है[4] । परार्थ का अर्थ है, जिसकी स्थिति दूसरे के लिए हो, अर्थात् उस पर की अपेक्षा जिसका अप्रधानभाव या गौणभाव है वे ही गुण है । इसी कारण सत्त्वादि गुण कहे जाते हैं । अतः सत्त्वादि गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है । यह हुआ प्रकृति का स्वरूप लक्षण।

प्रकृति का तटस्थ लक्षण करते समय सर्वप्रथम प्रकृति पद के अर्थ को समझना आवश्यक है । 'प्रकृति' इस पद में 'प्र' शब्द प्रकृष्ट वाचक (श्रेष्ठता का वाचक) है । 'कृति' शब्द क्रिया या सृष्टि रूप व्यापार का वाचक है, इस प्रकार सृष्टि रूप कार्य में जो प्रकृष्ट या मुख्य परम प्रवीण (देवी) है, वही प्रकृति

---

१ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ०४४
२ आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान, पृ० १६०
३ 'सत्त्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिकगुणाः संयोगविभागवत्त्वात्' - सांख्यप्रवचनभाष्य पृ०४६।
४ 'गुणाः इति परार्थाः'। तत्त्वकौमुदी, कारिका१२, पृ० १७२ ।

है[1] । यह हुआ प्रकृति का तटस्थ लक्षण ।प्रकृति का स्वरूप लक्षण भी इसी प्रकार है ।`प्र' शब्द सत्व गुण का द्योतक है,सत्व के श्रेष्ठ होने से `कृ' शब्द रज का माध्यम होने से और `ति' शब्द तम का द्योतक है, अन्त का होने से । इस प्रकार तीनों गुणों के समूह हैं या जो त्रिगुणात्मक है वही शक्तिवत् होकर सृष्टि करने से प्रकृति कही जाती है । इस प्रकार सृष्टि का जो आदि है या जो सृष्टि के आदि में विद्यमान रहती है, वही प्रकृति या प्रधान है[2] । अत: इन द्विविध लक्षणों से यह स्पष्ट ही है कि तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है । इसका व्युत्पत्यात्मक अर्थ स्पष्ट ही है `प्रकरोतीति प्रकृति:' अर्थात् जो उत्पन्न करे वही प्रकृति है । इस प्रकार प्रकृति सभी महदादि कार्यों को उत्पन्न करती है । अत: इन कर्मों की सृष्टि का मूल है । `प्र' उपसर्गपूर्वक `कृ' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगकर `प्रकृति' शब्द निष्पन्न हुआ । इसी कारण प्रकृति को प्रधान भी कहते हैं । इसके अतिरिक्त प्रकृति को माया,शक्ति,अजा,ज्ञान और अव्यक्त भी कहा गया है[3] प्रकृति जैसा कि उपर्युक्त लक्षण से स्पष्ट है,इसमें प्रकृति का स्वभाव अर्थ ही लिया गया है । क्योंकि त्रिगुण ही प्रकृति का स्वरूप या स्वभाव है । इनसे भिन्न इसका कोई अस्तित्व नहीं है । प्रकृति का इसतादृश अर्थ मानने पर ही प्रकृति को एक मनोवैज्ञानिक तत्व कहा जा सकता है,क्योंकि मनोविज्ञान मन के रूप और व्यवहार आदि को विषय बनाता है । आचार्य विश्वेश्वर लिखते हैं--`अव्यक्तमनोवादिनामव्यक्तमचेतनं वा मनोऽपि मनोविज्ञानस्य महदुपकारकं भवति[4] ।' अन्यथा प्रकृति का यदि सृष्टि(नेचर,क्रिएशन) अर्थ किया जाय तो सृष्टि का मनोविज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं, मनोविज्ञान से मनोव्यापारों और व्यवहारादि पर ही प्रकाश डालता है ।

जहां तक प्रकृति के वर्णन का प्रश्न है, इसके द्विविध रूप प्राप्य हैं । एक तो सांख्य दार्शनिकों को मान्य इसका त्रिगुण रूप और दूसरा

---

१ देवीभागवत,द्वितीय खण्ड,पृ०१२६

२ `प्रधीयतेऽस्मिन् हि कार्यजातमिति प्रधानमुच्यते' --सांख्यप्रवचनभाष्य,पृ०४८८

३ `प्रकृति: शक्तिरजा,प्रधानमव्यक्तं तमो मायाऽविद्येत्याद्या: प्रकृते: पर्याया:' सांख्यसार,पूर्वभाग,तृतीय परिच्छेद,पृ०३०।

४ `मनोविज्ञानमीमांसा,पृ०७

पुराणादि में प्रतिपादित ईश्वराधिष्ठित रूप । सांख्य की प्रकृति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है, अर्थात् उसे सृष्टि आदि की उत्पत्ति में किसी अन्य कारण ईश्वरादि की अपेक्षा नहीं । वह जड़ होते हुए भी स्वत: पर्याप्त है । पुरुष का उससे संयोग होता है यह तो आधुनिक सांख्याचार्यों का मत है । इनसे भिन्न पौराणिक सांख्य प्रकृति को देवी स्वरूप और परब्रह्म अथवा परमात्मा को उसका अधिष्ठाता रूप से स्वीकार करते हैं । इसका वर्णन कोटिश: पुराणों में हुआ है । देवीभागवत में देवी ने स्वत: उपदेश करते हुए अपनी विभिन्न संज्ञाओं को स्पष्ट किया है । वह कहती है कि वह पहले सत् चिद्रूप कहलाती थी, तत्पश्चात् उसी में माया नामक एक शक्ति स्वयं प्रकट हुई[1] । इसी शक्ति को विविध आचार्यों ने विविध संज्ञाओं से कहा । इस प्रकार उस(माया) शक्ति का ज्ञान, माया, प्रधान, प्रकृति, शक्ति और अजा नाम पड़ा[2] । उसी को कुछ विचारकों ने अविद्या भी कहा । वही शक्ति अव्यक्त या अव्याकृत है तथा सभी का कारण या तत्वों का आदि है[3] ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यह प्रकृति एक साधारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही नहीं, वरन् देवी का साक्षात् स्वरूप है[4] । यह प्रकृति-रूपिणी देवी परब्रह्म का वामांग है और पुरुष दक्षिणांग । यह प्रकृति सांख्य-योगदर्शनों में वस्तुत: एक प्रकृति रूप से ही ग्राह्य है, परन्तु पुराणकार ने उसमें पांच देवियों के रूप को ग्रहण किया है-- वे पांच हैं-- दुर्गा, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती और सावित्री । इस प्रकार प्रकृति इन पांचों देवियों के रूप को धारण करती है । साथ ही इन्हीं पांच देवियों तक सीमित नहीं, वरन् मूलप्रकृति के आदेशानुसार वह भक्तों के अनुरोध पर उन पर कृपा करने के लिए गंगा, तुलसी, जरत्कारु , देवसेना, मातृका, मंगलचण्डी, काली आदि अनेक देवियों के रूप को प्राप्त होती है । इतना ही नहीं, इसके अतिरिक्त संसार की सभी नारियों में आचार्य वेदव्यास ने उसी प्रकृति का दर्शन किया[5] । अब जिज्ञासा होती है कि प्रकृतिविषयक ऐसे वर्णन से

----

१ देवी भागवत- द्वितीय खण्ड, पृ०८५
२ ,, ,, पृ०८६
३ ,, ,, पृ०८७
४ ,, ,, पृ०१२७
५ ,, ,, पृ०१२८

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति अनेक है,क्योंकि अनेक देवों के रूपों को धारण करती है । अत: प्रकृति का अनेकत्व स्वीकार करना आवश्यक है,परन्तु जहां तक सांख्यशास्त्र का प्रश्न है, सांख्य दार्शनिक प्रकृति को एक ही मानते हैं[1] और उन्हें एक प्रकृति और एक पुरुष इस प्रकार दो तत्त्व इष्ट हैं । इन दोनों विरोधी अनेकत्व और एकत्व रूप धर्मों का एक साथ एक स्थल पर रहना सम्भव नहीं । अत: यह निश्चय करना आवश्यक है कि प्रकृति एक है या अनेक । इस शंका का समाधान भिक्षु आदि अनेक विद्वानों ने किया है । प्रकृति अनेक है,सभी सृष्टियों के आदि में प्रकृति अवश्य रहती है, किन्तु वे सभी प्रकृतियां अभिन्न हैं, उनके व्यक्तित्व मात्र का भेद है । अत: व्यक्तित्व भेद स्वीकार करने पर भी प्रकृति के एकत्व सिद्धांत को हानि नहीं होती[2] । इसका समर्थन एक लौकिक उदाहरण से हो जाता है -- जिस प्रकार वन के कोई वृक्ष विभिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व रखते हैं, अत: ऋतु भेद से उनमें भेद अवश्य प्रतीत होता है,परन्तु उनके व्यक्तित्व का ही भेद है । वस्तुत: वह एक ही है,उसी प्रकार प्रकृति भी यथार्थत: अभिन्न या एक ही है[3] । जहां तक प्रधान के एकत्व का प्रश्न है, सभी ने इसी मत का समर्थन किया है । प्रधान एक है,अनेक नहीं । प्रधान के विषय में ऐसा प्रश्न करना सर्वथा असंगत है, क्योंकि संख्या का व्यवहार तो बुद्धि की अपेक्षा से होता है । अर्थात् जो अभिन्न या समान बुद्धि को उत्पन्न करे वह एक और जो भिन्न-भिन्न बुद्धि को उत्पन्न करे वह अनेक । प्रधानावस्था में त्रिविध गुण साम्य को प्राप्त कर अपनी विशिष्टताओं को त्यागकर अभिन्न या समान बुद्धि उत्पन्न करते हैं,अर्थात् प्रधान एक है । परन्तु सृष्टिकाल में वे ही गुण विशेषताओं से युक्त होकर परस्पर उपकार से ~~उपकार से~~ संहत होकर व्यक्तादि भिन्न-भिन्न पदार्थों को उत्पन्न करते हैं[4] । यदि यह कहा जाय कि अनेक पुरुष होने से उनके अनेक शरीरों की उत्पत्ति

----

१ तत्त्वकौमुदी,का०१०,पृ०१६५

२ अेककत्वं सर्गभेदेऽप्यभिन्नत्वम् । अत: प्रकृतेरनेकव्यक्तिकत्वेऽपि नेकत्वहानि:' सांख्य प्रवचनभाष्य,पृ०८६ ।

३ 'आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान',पृ०१६५

४ युक्तिदीपिका, पृ०६६

के लिए अनेक प्रधान को मानना चाहिए । अर्थात् एक-एक प्रधान या प्रकृति प्रति-शरीर की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है । यह उपयुक्त नहीं, क्योंकि किसी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि एक प्रकृति एक ही शरीर को उत्पन्न करे । यह प्रत्यक्षगोचर है नहीं, एतद्विषयक कोई लिंग भी अप्राप्य और साथ ही किसी आप्तजन ने एतद्विषयक उपदेश भी नहीं किया । प्रमाणाभाव के साथ-साथ जब एक ही प्रधान से सम्पूर्ण सृष्टि का होना सम्भव है, प्रधान को अनेक मानना कल्पनागौरव ही होगा । प्रधान अपरिमित या व्यापक है अतः सभी पुरुषोपयोगी शरीरादि की उत्पत्ति में सक्षम है । अतः प्रधान एक है । प्रतिशरीर प्रधान को भिन्न मानने में प्रधान में अनवस्था का भी प्रसंग होगा[१] । षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में श्री गुणार्थ ने भी ऐसा ही विचार प्रकट किया है । कुछ[१] सांख्याचार्य प्रकृति को प्रतिपुरुष या प्रत्यात्मा भिन्न-भिन्न मानते हैं, ऐसे आचार्यों को उन्होंने मूला आचार्य कहा है । सांख्य के मूल प्रवर्तक कपिल ने भी प्रकृति को एक ही कहा है । अधिकतर आचार्य इसी मत के पोषक हैं । राजेश्वर शास्त्री ने भी इसी मत का समर्थन किया है अतः प्रकृति एक ही है[२] ।

अब देखना यह है कि विभिन्न पुराणों[३] और स्मृतियों[४] में प्रकृति के आविर्भाव का कथन हुआ है । यदि प्रकृति उत्पन्न होती उसको अनादि और अज होना सम्भव नहीं है, अतः उसे अनादि कैसे कहा गया । इस शंका का समाधान देवीभागवतपुराण के एक आख्यान से ही हो जाता है । नारद जी ने भगवान् नारायण से पूछा कि प्रकृति का आविर्भाव कैसे होता है तथा उसके पांच रूपादि कैसे हुए[५] । इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री नारायण ने कहा -- जैसे

---

१ युक्तिदीपिका, पृ० १४१

२ ब्रह्मवैवर्तपुराण, पृ० १०१

३ देवीभागवतपुराण - द्वितीयखण्ड, पृ० १२७

४ मनुस्मृति, पृ० ६

५ देवीभागवत, द्वितीय खण्ड, पृ० १४३

आत्मादि नित्य है, ठीक उसी प्रकार परब्रह्म की सनातनी लीला प्रकृति भी नित्य है । प्रकृति परमात्मा के समान है । अर्थात् परमात्मा के समान ही प्रकृति भी नित्या, अनादि और अजा है । सदा उसी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमात्मा के साथ अभिन्न रूप से प्रतिष्ठित रहती है[1] । अत: प्रकृति का आविर्भाव नहीं होता, वह नित्य है । सृष्टि काल में वह अपने सूक्ष्म रूप से स्थूल हो जाती है, अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त महदादि उत्पन्न होते हैं[2] ।

अन्य पुराणों में भी प्रकृति का विविध रूप से प्रतिपादन हुआ है । अब प्रश्न यह है कि प्रकृति को ये संज्ञाएं क्यों प्राप्त हुईं ? प्रकृति का आदि नहीं, क्योंकि सभी महदादि कार्य उत्पत्ति क्रमानुसार अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं, अर्थात् महत् तत्त्व स्वकारण प्रकृति में लय को प्राप्त होता है । यदि प्रकृति का भी आदि या जन्म मानें, तो प्रकृति का भी किसी अन्य तत्त्व में लय मानना होगा, वह तत्त्व कौन है जिसमें इसका लय हो और उसका क्या स्वरूप है, इसे स्पष्ट करना दुष्कर है । प्रकृति त्रिगुणात्मक है, अत: इसका कारण भी त्रिगुणात्मक ही होना चाहिए । जब प्रकृति भी त्रिगुण स्वरूप है और उसका कारण भी त्रिगुण ही है, उन दोनों के बीच कार्यकारणभाव कैसे सम्भव है । अत: प्रकृति अजा या अनादि है । सूत्रकार ने १।६७ सूत्र में प्रकृति को ही मूलकारण कहा है । प्रकृति २३ तत्त्वों का मूल है, परन्तु स्वयं वह अमूल अर्थात् निष्कारण है । कारणहीन होने से वह अनादि और अजा है । योगभाष्यकार व्यास ने भी इसका समर्थन किया है । यदि प्रकृति से पर उसके कारणरूप से कोई तत्त्व मानें, तब तो उस तत्त्व का भी कोई अन्य कारण होगा, इस प्रकार इस कारणकार्यपरम्परा का कहीं अन्त न होगा और अनवस्था दोष भी होगा । इस अनवस्था के निवारणार्थ प्रकृति को ही परमतत्त्व मानना उपयुक्त है ।

प्रकृति त्रिगुण स्वरूप है न कि तीनों गुण प्रकृति के धर्म । ये गुण प्रकृति के धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर धर्मों से

---

१ देवीभागवत-द्वितीयखण्ड, पृ० १४३

२ विष्णुपुराण- प्रथम खण्ड, पृ० ४८

अतिरिक्त धर्मी की पृथक् सत्ता स्वीकार करनी होगी, जिसमें धर्म रहते हैं । प्रकृति के [illegible] त्रिगुणों के पृथक् हो जाने पर कुछ शेष नहीं जिसको धर्मी के रूप से व स्वीकार करें । अत: गुण प्रकृति के धर्म नहीं वरन् तद्रूप ही है[१] ।

(ख) महत् तत्त्व का प्रथम विकारत्व

अव्यक्त तत्त्व के स्वरूप-वर्णन के पश्चात् व्यक्त तत्त्वों का प्रसंग है । परन्तु व्यक्त तत्त्व तो अनेक हैं,उसमें किसका वर्णन पूर्व और किसका बाद में करना है, इसे ही निश्चय करना आवश्यक है । यदि इस सृष्टि-क्रम के अनुसार प्रकृति से सर्वप्रथम महत् की,महत् से अहंकार और अहंकार से इन्द्रियों और तन्मात्राओं की सृष्टि होती है । अत: सर्वप्रथम महत् का ही वर्णन करना उपयुक्त होगा । परन्तु प्रश्न यह है कि क्या कारण है कि प्रकृति से सर्वप्रथम महत् की ही उत्पत्ति हो । इस विषय पर विचार करना आवश्यक है । जिस क्रम से इन तत्त्वों की उत्पत्ति होती है,उसी के विलोम क्रम से इनका प्रलयकाल में लय भी[२] । प्रत्येक कार्य अपने कारण में लीन होता हुआ उसे अव्यक्त या सूक्ष्म सिद्ध करता है । यह निश्चित है[३] कि जिस क्रम से इन तत्त्वों की उत्पत्ति होती है, तद्विपरीत क्रम से ही लय भी । इस प्रलयक्रम का उल्लेख अय्यास्वामी शास्त्री ने भी स्वकृत परमार्थ के अनुवाद में किया है[४] ।

उपर्युक्त सृष्टि और प्रलय का यह क्रम सभी आचार्यों को मान्य है, परन्तु किसी ने इसको प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया । क्या कारण है कि प्रकृति से क्षोभ होने पर सर्वप्रथम महत् की ही उत्पत्ति होती है अहंकार की नहीं । इस प्रश्न का उत्तर अद्यावधि किसी आचार्य ने नहीं दिया ।

---

१ `सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्` सांख्यसूत्र ६।३९,पृ०२५२

२ तत्त्वकौमुदी,पृ०१६४

३ महाभारत--शान्तिपर्व,पृ०६६२

४ सुवर्णसप्ततिशास्त्र, पृ०१४

यहां तक कि प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् ने भी लिख दिया कि इस सृष्टिक्रम को तर्कत: या प्रमाणत: सिद्ध करना असम्भव ही है[1]। यद्यपि उन्होंने इसे सिद्ध करने का कुछ प्रयास किया और इसकी सिद्धि के लिए आचार्य वाचस्पति की सहायता ली। वाचस्पति मिश्र ने कहा है--[2] इन्द्रियों का बाह्यार्थों से सन्निकर्ष होने पर सर्वप्रथम मन उसका संकल्प करता है, अर्थात् मन के द्वारा उस पदार्थ का संदिग्ध या अस्पष्ट ज्ञान होता है। तत्पश्चादेव अहंकार उसका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करता है और अन्ततोगत्वा बुद्धि द्वारा निश्चय या अध्यवसाय होता है। इस मत से अन्य सभी आचार्य सहमत हैं[3]। किसी पदार्थ से इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने से सविकल्पक या निश्चयात्मक ज्ञान असम्भव है, क्रमिक ज्ञान होता है। अत: सर्वप्रथम निर्विकल्पक या मन की सहायता से संशयात्मक ज्ञान, तत्पश्चादेव निश्चय। अत: यह निश्चित है कि बुद्धि ही श्रेष्ठ है। बुद्धि के निश्चय के बिना प्राणी किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि अहंकार को ही प्रथम मानें या यही प्रकृति का प्रथम विकार हो तो अभिमान होने पर ही प्राणी की प्रवृत्ति हो जाय, निश्चय की क्या आवश्यकता ? अथवा संशय होने के पश्चात् ही निश्चय हो जाय और तब अभिमान। परन्तु ऐसा नहीं होता। अत: प्रत्यक्ष प्रमाण से भी यह सिद्ध है कि अहंकार के पश्चात् ही निश्चय होता है और यही सभी आचार्यों की भी मान्यता है। अत: अहंकार को प्रथम विकार मानना अयुक्त ही है। बुद्धि या महत् ही प्रकृति के निकटतम है, क्योंकि चित्त की प्रवृत्ति के लिए महत् की सहायता अनिवार्य है, अत: प्रकृति का प्रथम परिणाम महत् ही है[4]।

---

१ The different principles of the Samkhya system cannot be logically deduced from Prarti, and they seem to be set down as its products, thanks to historical accidents. There is no deductive development of the products from the one Prakrti------" Indian Philosophy by Radhakrishnan Page. 274.

२ तत्त्वकौमुदी, पृ० २५०

३ गौडपादभाष्य, पृ० २८, सांख्यचन्द्रिका, पृ० २६

`महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मन:` १।७१ सांख्यसूत्र। शान्तिपर्व, पृ० ६६७, कूर्मपुराण पृ० ४६२, श्रीमद्भागवत्, पृ० २३६।

सांख्यशास्त्र में प्रकृति महदादि के बीच प्रकृतिविकृतिभाव[1] या कार्यकारणभाव का प्रतिपादन किया गया है,अर्थात् प्रकृति ही मूल कारण है[2] और महत् उसका कार्य । कार्यकारणभाव तभी सम्भव है, जब कि कारण पूर्वभावी हो और कार्य[3] पश्चाद्भावी क्योंकि 'यत् पूर्वभावी तत् कारणं यच्च पश्चाद्भावी तत्कार्यम्'[4] । प्रकृति अनादि और कारणरहित है । उसका कभी आदि अन्त संभव नहीं और महदादि अनित्य और सादि हैं[5] । प्रकृति का पूर्वभावित्व स्पष्ट है अनादि होने से । अतः प्रकृति ही कारण है और महदादि कार्य ।

रोधक्रम में भी जब कोई पदार्थ जिसमें लीन होता है,वह उसका कार्य होता है और निरोध काल में पंचमहाभूतों का तन्मात्राओं में,तन्मात्राओं का और इन्द्रियों का अहंकार में अहंकार का महत् और महत् का प्रकृति में लय शास्त्रप्रतिपादित है । प्रकृति विकार हो नहीं सकती अनादि होने से और साथ ही इसको विकार मानने में इसके भी कारण का प्रश्न होगा । तत्पश्चात् इसके कारण के भी कारण का इस प्रकार की अनवस्था होगी । अतः प्रकृति के पश्चात् होने वाला महत् ही प्रथम विकार होगा । इस प्रकार महत् के प्रथम विकारत्व की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से हो गई । जब प्रत्यक्षतः यह सिद्ध है, तब अनुमानादि से सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं[6] । क्योंकि अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्ष की सहायता की अपेक्षा रखते हैं । तथापि अत्यन्त संक्षेप में अनुमान प्रमाण से इसे सिद्ध करना आवश्यक ही है ।

----

१ सांख्यकारिका,पृ०६३

२ 'प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषां कार्यत्वश्रुतेः' सांख्यसूत्र ६।३२,पृ०२५०

३ सांख्यसूत्र-युगपज्जायमानयोर्वा न कार्यकारणभावः',१।३८,पृ०२८

४ तत्त्वकौमुदी,पृ०१६५

५ 'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्' -सांख्यसूत्र १।१२४,पृ०८७

६ तत्त्वकौमुदी,पृ०१०२

सांख्यसूत्रों १।६२-६५[1] में सूत्रकार ने बताया है कि महत् अहंकारादि कार्यों से उनके कारणों का अनुमान प्रमाण से बोध होता है। इस अनुमान का स्वरूप क्या है? इसपर सूत्रकार ने प्रकाश नहीं डाला, वृत्तिकार विज्ञानभिक्षु ने अवश्य स्पष्ट किया । बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों से और पंचतन्मात्राओं से उसके कारण अहंकार का अनुमान होता है[2] । अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है । एकादशेन्द्रियां और तन्मात्राएं अभिमान से युक्त द्रव्य रूप उपादान कारणवाली हैं कार्य होते हुए भी अभिमान से युक्त होने के कारण । अत: इन्द्रियों के और तन्मात्राओं का कारण अभिमान से युक्त ही हो सकता है । जो पदार्थ अभिमान रूप कार्यद्रव्यवाला नहीं है वह अभिमान रूप कारणवाला भी नहीं है । अत: अन्वय व्यतिरेक से भी इन्द्रियों और तन्मात्राओं के कारणरूप से अहंकार का ज्ञान होता है । अत: अहंकार ही इनसे सूक्ष्म और पूर्ववर्ती पदार्थ है[3] । इसी प्रकार अहंकार रूप कार्य से उसके कारणभूत महत् का अनुमान होता है । अत: महत् ही अहंकार से सूक्ष्म और पूर्ववर्ती है । इसी प्रकार अनुमान के ही आधार पर महत् के कारण रूप से प्रकृति को सिद्ध कर सकते हैं । यदि महत् प्रकृति का प्रथम विकार न हो, महत् के कारण रूप से प्रकृति का बोध नहीं होना चाहिए,परन्तु महत् से प्रकृति का ही अनुमान प्रमाण से बोध होता है[4] । सुखदु:खमोहधर्मिणी बुद्धि सुखदु:खमोहात्मक पदार्थ से उत्पन्न है, कार्य होते हुए सुखदु:खमोहात्मक होने से कान्तादि के समान । इस प्रकार प्रत्यक्ष के साथ-साथ अनुमान भी महत् को प्रकृति का प्रथम विकार सिद्ध करता है । यदि सांख्यप्रतिपादित सृष्टिक्रम उपयुक्त न मानकर अहंकार

----

१ सांख्यसूत्र,पृ०४६-५२

२ बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैरहंकारस्य -सांख्यसूत्र१।६३,पृ०४८

३ तेनान्त:करणस्य सांख्यसूत्र १।६४,पृ०४६

४ सांख्यप्रवचनभाष्य,सूत्र १।६५,पृ०५१

या इन्द्रियों को प्रथम विकार मानें, अनुमान से भी अहंकार या इन्द्रियों के कारणरूप से प्रकृति की ही सिद्धि होनी चाहिए न कि महदादि की । इस स्थल पर ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि महत् तो प्रथम विकार है परन्तु महत् के पश्चात् अहंकार को ग्रहण करना उपयुक्त है या नहीं । महत् के समान ही अहंकार को भी महत् के विकार रूप से प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से सिद्ध कर सकते हैं । किसी भी पदार्थ से इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर सर्वप्रथम संशय या अस्पष्ट ज्ञान ही होता है, तत्पश्चात् उसके कुछ निकट जाने पर अहंकार या अभिमान , तब निश्चय । यदि मन को महत् का विकार मानें तो निश्चय के पूर्व संशय ही होना चाहिए । जब तक उस पदार्थ का स्पष्ट ज्ञान ही नहीं, अर्थात् जब साधक संशय में है, अभिमान किस बात का ? जब स्पष्ट ज्ञान ही नहीं है कि यह पदार्थ है क्या? उसमें अहंभाव कैसे हो सकता है ? अर्थात् कुछ निकट जाने पर जब कुछ पदार्थ का किंचित् स्पष्ट ज्ञान होता है तभी उसमें अभिमान या अहंभाव सम्भव है । अब महत् के विकार रूप से अहंकार को हि स्वीकार करना चाहिए, अहंकार ही महत् के निकटतम है । अनुमान प्रमाण से भी अहंकार के कारण रूप से महत् का अनुमान होता है । यदि सृष्टिक्रम में महत् के पश्चात् अहंकार का क्रम न होकर मनादि का हो, मनादि के कारण रूप से महत् का अनुमान होना चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं । अनुमान इस प्रकार है-- अहंकार निश्चय से युक्त द्रव्य रूप उपादान कारण वाला है,कार्य होते हुए निश्चयात्मक होने से । जो निश्चयकार्य द्रव्य नहीं है, वह निश्चयरूप उपादान कारण वाला भी नहीं जैसे पुरुषादि । इस प्रकार भी ऐसा निश्चित है कि महत् के पश्चात् अहंकार को मानना उचित ही है ।

इस प्रकार इन्द्रियों के कारण रूप से अहंकार को सिद्ध करना सहज ही है । सर्वप्रथम बाह्यार्थों से इन्द्रियों का ही सन्निकर्ष होता है, तत्पश्चात् मन संकल्प करता है तत्पश्चादेव अहंकार । यदि अहंकार को इन्द्रियादि का कारण न मानें या इन्द्रियों को इसके पूर्व ही मानें, तो बाह्यार्थों से

सर्वप्रथम इन्द्रियों का सन्निकर्ष ही नहीं होना चाहिए । जब तक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष ही न हो अभिमान या निश्चय कुछ भी नहीं हो सकता । जब सन्निकर्ष ही नहीं अभिमान या निश्चय किस वस्तु का ? अर्थात् किसी कार्य के ज्ञान के लिए इन्द्रियों का उससे सन्निकर्ष परमावश्यक है । इन्द्रियों के अभाव में अन्त:करण साक्षात् उस पदार्थ से सम्बन्ध नहीं कर सकते । उनका सम्बन्ध तो इन्द्रियों के द्वार से ही सम्भव है । यदि इन्द्रियों के अभाव में सन्निकर्ष और ज्ञान सम्भव हो तब तो अन्धों को भी पदार्थों का ज्ञान होना चाहिए, बधिरों में भी श्रवण रूप क्रिया होनी चाहिए,क्योंकि अन्धे और बहरे व्यक्तियों में चक्षु और श्रोत्र रूप इन्द्रियों का ही अभाव है न कि अहंकार, बुद्धि का । प्रत्यक्षत: ऐसा नहीं देखा जाता अर्थात् अन्धे को पदार्थों का ज्ञान और बहरों को श्रवण का ज्ञान नहीं होता । अत: सृष्टिक्रम में अहंकार के पश्चात् इन्द्रियों का ही क्रम उचित है । कार्य होते हुए अभिमान से युक्त होने कारण एकादशेन्द्रियां और तन्मात्राएं अभिमान से युक्त द्रव्यरूप उपादानकारण-वाली है । अत: इन्द्रियों और तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानना सर्वथा युक्तिसंगत है । यही बात भूतों की,पंचभूत स्थूल है, अत: सूक्ष्म तन्मात्राओं से उनकी उत्पत्ति सर्वथा स्वीकार्य है । सूक्ष्म तन्मात्राओं को उनके पश्चात् या भूतों के कार्य रूप से स्वीकार नहीं कर सकते । कारण सदैव कार्य से सूक्ष्म होता है । साथ ही पंचमहा-भूत उपर्युक्त २५ तत्त्वों में स्थूलतम है और बाह्येन्द्रियों के ग्राह्य भी हैं । यह सम्पूर्ण विश्व इन्हीं पांचों का परिणाम है । अत: इन्हीं को सृष्टिक्रम का अंतिम तत्त्व कह सकते हैं । अनुमान से भी ये तन्मात्र के कार्य हैं । अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है-- अपकर्षकाष्ठापन्न स्थूलभूत अपने विशेष गुण से युक्त द्रव्यरूप उपादान वाले हैं । स्थूल होने से घटपटादि के समान है ।अर्थात् आकाश का कारण शब्द उसके विशेष गुण से युक्त, वायु का कारण स्पर्श उसके विशिष्ट गुण से युक्त इस प्रकार अन्य तीन भी । इस पंचभूतों के कारण रूप से तन्मात्राओं का अनुमान होता है । बुद्धि के द्वारा निश्चय करने के लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आवश्यक है यह पूर्व ही स्पष्ट हो गया है । इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के लिए इन्द्रिय और अर्थ का विषय इन द्विविध तत्त्वों का अस्तित्व अनिवार्य है,अत: इन्द्रियों की सत्ता सिद्ध ही हो चुकी, इन विषयों या इन भूतों की भी सिद्ध हो गई । इन्द्रियों के विषय रूप से इनको---------------------------------------

स्वीकार करना आवश्यक है । इस प्रकार इन्द्रियों के पश्चात् इन्हें मानना चाहिए । अत: तन्मात्राओं से इनकी उत्पत्ति का सिद्धान्त उपयुक्त ही है । अन्ततोगत्वा यह कहा जा सकता है कि सांख्याचार्यों को अभिमत यह सृष्टि क्रम सर्वथा युक्तिसंगत है ।

(ग) व्यक्त तत्त्वों का स्वरूप :--

महत्

महत् प्रकृति का प्रथम विकार है । यह उपर्युक्त विवेचन से ही स्पष्ट है[१] । अत: सर्वप्रथम महत् का ही लक्षण करना चाहिए । महत् अहंकारादि के लक्षण के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि इनके जो लक्षण हैं,वही उनका कार्य भी । इस प्रकार इनके कार्य या वृत्ति और उनके लक्षण या वृत्तिमान् में पूर्ण अभेद है[२] ।

यह स्पष्ट है कि महत् का कार्य है,निश्चय करना, क्योंकि व्यावहारिक स्तर पर बुद्धि या महत् अध्यवसाय या निश्चय करते ही प्रतीत होते हैं-- जैसे अन्धकार में स्थाणु को देखकर भ्रम होता है, 'स्थाणु है या पुरुष' । तत्पश्चात् मन में संशय बना रहता है । अंततोगत्वा उसके निकट आने पर उसके आकारों को देखकर बुद्धि पूर्णरूपेण निश्चय कर लेती है , यह स्थाणु ही है, पुरुष नहीं । अत: अध्यवसाय बुद्धि का कार्य है,यही उसका लक्षण भी होगा । बुद्धि को शास्त्रों में अनेक स्थलों पर अध्यवसायात्मिका या निश्चयात्मिका कहकर सम्बोधित किया गया है[३] । सांख्यसूत्रकार[४] ने इसका स्पष्ट लक्षण किया है, और विज्ञानभिक्षु[५] ने भी

---

१ 'महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मन:' -सांख्यसूत्र १।७१,पृ०५७

२ युक्तिदीपिका,पृ०२६

३ योगवासिष्ठ--पंचम स प्रकरण,पृ०११६

४ 'अध्यवसायो बुद्धि:' --सांख्यसूत्र--२।१३,पृ०१-२०

५ 'महत्तत्त्वस्य प्राधान्येनासाधारण्येन चाध्यवसायो वृत्ति:' -सांख्यसार,पृ०३०७

इसका समर्थन किया[1]। कारिकाकार ने भी सांख्यसूत्र को उद्धृत किया है। इनके पूर्व और पश्चात् के सभी आचार्यों गौडपाद,माठर,युक्तिदीपिकाकार,कम्ल बलरामोदासीन आदि ने भी इसका समर्थन किया है, यह उपयुक्त ही है। महाभारत[2] और पुराणों[3] में भी बुद्धि के निश्चयरूप कार्य का उल्लेख हुआ है। बुद्धि के विविध पर्यायों को भी कुछ आचार्यों ने स्पष्ट किया। भावागणेश ने महत् का त्रिविध लक्षण किया है-- इस प्रकार त्रिगुणात्मक प्रकृति का त्रिगुणात्मक प्रथम विकार या कार्य ही बुद्धि है, यह हुआ बुद्धि का प्रथम लक्षण। निश्चय रूप कार्य वाला अन्त:करण ही बुद्धि है, यह द्वितीय लक्षण और बुद्धि के धर्मज्ञानवैराग्यादि गुणों का योग होने से उसकी महत् संज्ञा यह है तृतीय लक्षण। भावागणेशकृत बुद्धि का तृतीय लक्षण उपयुक्त नहीं प्रतीत होता,क्योंकि यह अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। यदि धर्मज्ञानवैराग्यादि से युक्त होना बुद्धि का लक्षण हो, तब तो सिद्ध योगी जन भी इन धर्मादि से युक्त होते हैं। अत: इन्हें भी महत् कहना होगा। अत: यह लक्षण दूषित है। साथ ही यह लक्षण,लक्षण की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। `लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्`[4] या पदार्थ के असाधारण धर्म का कथन करना ही उस पदार्थ का लक्षण है,अर्थात् जो धर्म उस पदार्थ को अन्य सभी सजातीय, विजातीय पदार्थों से व्यवच्छिन्न करता है। वही उस पदार्थ का लक्षण है। धर्मादि गुणों से युक्त होना बुद्धि का असाधारण धर्म नहीं हो सकता। क्योंकि वह सिद्ध योगी पुरुषों में भी व्याप्त है। अत: धर्मादियुक्तत्व को बुद्धि के लक्षण के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, हां यह अवश्य कह सकते हैं कि धर्मादि श्रेष्ठ गुणों से युक्त होने के कारण बुद्धि की `महत्` संज्ञा हुई। अत: बुद्धि निश्चयात्मिका है। बुद्धि को मति ,मन,महत्,ब्रह्मा, पू: , बुद्धिवृत्ति: , ख्याति:, प्रज्ञा, स्मृति आदि अन्य संज्ञाएं भी दी गई[5]। बुद्धि को मन भी कहते हैं , परन्तु ग्यारहवां

---

१ सांख्यकारिका २३,पृ०२२६

२ महाभारत--भीष्मपर्व,पृ०१३५

३ कूर्मपुराण,पृ०४८६, वायुपुराण,पृ०६७

४ तर्कभाषा,पृ०८

५ सांख्यसूत्र--१।७१,पृ०५७

इन्द्रिय संशयात्मक मन के समान बुद्धि को संशयात्मिका न समझना चाहिए ।
उसको मन संज्ञा उसके चिन्तन-मनन रूप व्यापार के कारण है । बुद्धि का अध्यवसाय रूप कार्य चिन्तन या मनन का ही एक रूप है । अत: बुद्धि को मन भी कहते हैं, सूत्रकार ने स्वयं भी बुद्धि को मन संज्ञा दी है । योगवासिष्ठ में चित्त,अहंकार और बुद्धि आदि भी मन के पर्याय रूप से कहे गए हैं । अर्थात् मन जिस समय जिस प्रकार की क्रिया करता है, तदनुसार ही उसका नाम भी है । डा० आत्रेय के अनुसार बुद्धि, चित्त,अहंकार,कर्म,कल्पना,स्मृति और वासनादि मन के पर्याय हैं[१] । उनके अनुसारमन ही सब प्रकार के दु:ख-सुखों का उत्पादक है । मन के हाँथमेंही बन्ध और मोक्ष है। यह उचित ही है,क्योंकि यदि मन से तात्पर्य एकादशेन्द्रियमात्र से न लेकर चित्त सामान्य से लिया जाय, तो बन्ध मोक्ष सुख-दु:खादि चित्त के धर्म तो हैं ही । अत: चित्त ही इनका कारण है । इस प्रकार योगवासिष्ठ में मन पद का प्रयोग चित्तसामान्य के लिए हुआ है,परन्तु मन का स्वरूप निश्चय करते समय मन के संकल्प-विकल्पात्मक पक्ष का ही प्राधान्य है । अत: संकल्प करने का नाम मन है, मन संकल्प से भिन्न कुछ नहीं है, जैसे जल द्रव्यत्व से और वायु स्पन्दन से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं । जहां संकल्प है,वहीं मन है । अत: यह स्पष्ट है कि मन प्रधानत: इन्द्रिय को ही कहते हैं । संकल्प करना उसी का धर्म है न कि बुद्धि आदि का । हां इनका भी मन शब्द से कथन होता है मननात्मक होने से । यह महत् भी तीन प्रकार का होता है -- राजस्,सात्त्विक और तामस् । महत् के इन त्रिविध प्रकारों का उल्लेख उसके गुणों की प्राधान्य के आधार पर हुआ है ।अत: सत्त्वगुण की प्रधानता होने पर सात्त्विक,तमस् के आधिक्य पर तामस और रजस् का आधिक्य होने पर राजस । इस प्रकार त्रिविध प्रकार हैं । पुराणादि में इन तीनों प्रकारों को ब्रह्मा,विष्णु और महेश रूप त्रिविध देवता कहा गया है । ये देवता ही अहंकारोपाधिक होकर सृष्टि संहारादि करते हैं । आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्यसार के प्रारम्भ में ही मंगलाचरण करते हुए महत् को स्वयम्भू: ईश्वर

----

१ 'योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त',पृ०२२४-२२६

या देवता रूप कहा है[1] । पुराणों में किया गया यह वर्णन उपयुक्त नहीं प्रतीत होता,क्योंकि सांख्ययोगदार्शनिक महदादि को जड़ या अचेतन ही मानते हैं । पुराण-प्रतिपादित देवता चेतन रूप हैं अत: इन परस्पर विरोधी पदार्थों का ऐक्य कैसे सम्भव है ? अर्थात् महदादि ब्रह्मादि रूप नहीं हो सकता । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये सात्त्विकादि त्रिविध प्रकार स्वयं देवता स्वरूप नहीं है वरन् इन तीनों की उपाधि से उपहित चैतन्य विशेष उपर्युक्त त्रिविध देवरूप हैं । इस चैतन्य का ही ब्रह्मादि संज्ञाओं से कथन होता है,क्योंकि पुराण में ब्रह्मा तीनों ब्रह्म के गुणावतार रूप से प्रतिपादित हैं । अत: महदादि का देवरूपों में पुराणों में प्रतिपादन कुछ उचित ही प्रतीत होता है, परन्तु केवल सेश्वर सांख्य की दृष्टि से । निरीश्वर सांख्याचार्य देव या ईश्वर नामक कोई पदार्थ मानने को प्रस्तुत नहीं । पुराण-प्रतिपादित सम्पूर्ण सांख्यदर्शन सेश्वर ही है । इसका पूर्व ही उल्लेख हुआ है, वह प्रकृति को देवी और उससे उत्पन्न अन्य तत्त्वों को भी देवरूप ही स्वीकार करता है ।

अहंकार

महत् के पश्चात् अहंकार का ही प्रसंग है । सूत्रकार कपिल ने महत् के पश्चात् अहंकार की ही गणना की है[2] । वृत्तिकार विज्ञानभिक्षु ने भी अहंकार के कार्य का उल्लेख किया है-- `तस्यानन्तरो य: सोऽहंकारोती-त्यहंकारोऽभिमानवृत्तिकमहत् इत्यर्थ:` । अत: अहंकार का कार्य है अभिमान । इस प्रकार अहंकार या अभिमान करने वाला तत्त्व ही अहंकार है[3] । योगदार्शनिकों ने अहंकार को अस्मिता भी कहा है[4] । अत: अस्मिता ही अहंकार है ।अस्मिता

----

१ `महादाख्य: स्वयम्भूर्यो जगदंकुरईश्वर: ।
सर्वात्मने नमस्तस्मै विष्णवे सर्वविष्णवे ।।`--सांख्यसार,पृ०१

२ `चरमोऽहंकार:`-सांख्यसूत्र, १।७२,पृ०५७

३ तत्त्वयाथार्थ्यदीपन,पृ०२७१

४ `तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहंकार:`--योगभाष्य,पृ०७०३

क्या है? इसे स्पष्ट करने के लिए योगसूत्रकार ने `दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मितेवास्मिता` लिखा है। अत: दृक् शक्ति पुरुष, दर्शन शक्ति बुद्धि इन भिन्न-भिन्न तत्वों में एकरूपता की प्रतीति ही अस्मिता है, अर्थात् अपरिणामी शुद्ध और चेतन दृक् शक्ति का परिणामिना, मलिन, जड़ बुद्धि से पूर्ण पार्थक्य होने पर भी अविद्या के कारण इनमें ऐक्य की भावना रखना अथवा पुरुष में अहम् की प्रतीति ही अस्मिता है । यह अहंभाव ही अहंकार है । कारिकाकार और अन्य टीकाकारों का भी ऐसा ही मत है[1] । अत: अभिमान का भाव ही अहंकार है । मनुस्मृति में भी अस्मिता को अहंकार कहा गया है[2] । महत् के समान प्रकृति के अन्य सभी कार्य त्रिगुणात्मक हैं। अत: सभी गुणों के प्राधान्य के अनुसार अहंकार तीन प्रकार के होते हैं, इस प्रकार अहंकार भी त्रिविध है[3] ।

इन्द्रिय

अहंकार के पश्चात् इन्द्रियां ही प्रसंगप्राप्त हैं । इन्द्रियां क्या है? लगभग सभी आचार्य इन्द्रिय को इन्द्र या आत्मा का लिंग मानते हैं, जैसा कि इन्द्रिय पद से ही स्पष्ट है । इन्द्र अथवा आत्मा का लिंग या ज्ञापक होने से इन्द्रिय आत्मा का लिंग है । इन्द्रियां आत्मा का लिंग कैसे हो सकती हैं ? इन्द्रियां करण या साधन हैं । करण की सत्ता कर्ता के अभाव में असम्भव है । कर्ता के अभाव में करण का प्रयोक्ता कोई न होगा । अत: इन्द्रिय रूप करण की सत्ता के लिए उसके कर्ता रूप आत्मा की सत्ता मानना आवश्यक है । अत: आत्मा का अनुमापक होने से इन्हें इन्द्रियों को आत्मा का लिंग कहा गया ।

----

१ `योगवासिष्ठ`, पृ०८७ , सांख्यकारिका, पृ० २३३

२ अस्मिप्रत्ययमात्रमहंकार:`, पृ० १३, मनुस्मृति

३ मार्कण्डेयपुराण--प्रथम खण्ड, पृ० ३९८ । श्रीमद्भागवत-तृतीयस्कन्ध, पृ० १०६ ।

यदि कारण होने से ही इन्हें इन्द्रिय कहा गया तब तो बुद्धि अहंकार को भी करण होने से इन्द्रिय कहना होगा । वस्तुत: ये करण होने पर भी इन्द्रिय नहीं, अत: इन्द्रलिंगत्व 'इन्द्रिय' का लक्षण नहीं, वरन् व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ-मात्र है[1] । इन्द्रिय का लक्षण 'सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वमिन्द्रियम्' अर्थात्[2] सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न होता है । अर्थात् इन्द्रियां सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न होती हैं, यह हुआ इन्द्रिय का असाधारण धर्म क्योंकि अन्य कोई भी तत्त्व सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न नहीं होता । इस विषय में पर्याप्त मतभेद है, इसका विस्तृत विवेचन 'इन्द्रियों की उत्पत्ति' प्रकरण में होगा, परन्तु यहां इतना कहना ही आवश्यक है कि इन्द्रियां सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न होती हैं ।
विज्ञानभिक्षु ने भी सूत्रों के भाष्य में--'इन्द्रस्य संघातेश्वरस्य करणमिन्द्रियम्'[3] ऐसा लिखा है । पाणिनि के सूत्र 'इन्द्रियमिन्द्रलिंगम्' से भी यह स्पष्ट है । अत: सभी आचार्य इसी मत से सहमत हैं । निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य का भी यही मत है[4] । इन सभी आचार्यों से भिन्न सांख्य कारिकाओं के प्रसिद्ध टीकाकार नारायणतीर्थ ने इन्द्रिय का भिन्न लक्षण स्वीकार किया । 'इन्पदेन विषयास्तान् प्रति द्रवन्तीति व्युत्पत्त्येति गृहाण'[5] अर्थात् विषयों को ग्रहण करने वाला तत्त्व ही इन्द्रिय है । इन्द्रिय पद की यह व्युत्पत्ति भी उपयुक्त है । अत: इन्द्रियां आत्मा का लिंग है, यह पूर्व ही स्पष्ट हो गया । इन्द्रियां विषयों को ग्रहण करती है, यह भी बुद्धीन्द्रियों से स्पष्ट है । एकादशेन्द्रियों में पंच ज्ञानेन्द्रियां प्रतिनियतविषयक होती हैं । इन पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध नियत हैं, इनके अतिरिक्त अन्य विषयों को यह प्रकाशित नहीं करती । इस प्रकार विषयों को ग्रहण करना ही इनका कार्य है । यहां तक कि

----

१ सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० २४४ ।

२ ,, ,, पृ० ३३६ ।

३ सांख्यप्रवचनभाष्य', पृ० १२३

४ 'इन्द्र: --आत्मा, स येन ईयते-लिंगयते, अनुमीयते वास्त्यत्राह यस्येदं करणं, नाकर्तृकं करणमस्तीति, तद् इन्द्रियम् ।' --सारबोधिनी, पृ० २६ ।

५ सांख्यचन्द्रिका, पृ० २४ ।

इन इन्द्रियों का लक्षण इन्हीं कार्यों के आधार पर किया गया है[१]। इस प्रकार बुद्धि या ज्ञान की इन्द्रिय ही ज्ञानेन्द्रिय है । शब्दादि विषयों के ज्ञान करने में बुद्धि स्वत: समर्थ नहीं । बुद्धि अन्त:करण है, वह साक्षात् बाह्य विषयों से सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकती । अत: इन्द्रियां बाह्य विषयों से उदित होकर विषय गृहण करती है, तत्पश्चात् अन्त:करण उन विषयों को प्राप्त करता है । इस प्रकार बुद्धि को बाह्य विषयों का ज्ञान कराने में द्वार या प्रणाली होने के कारण ज्ञानेन्द्रियां बुद्धि की इन्द्रियां कही जाती हैं । इसी प्रकार कर्मेन्द्रियां कर्मों का करण या कर्मों के लिए होने के कारण कर्मेन्द्रियां कही जाता है । ये प्रतिनियतकर्म वाली होती है । पांचों कर्मेन्द्रियां--वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ वचन, आदान, विहरण आनन्द और उत्सर्ग रूप क्रियाओं के करण हैं[२]। योगभाष्यकार ने भी इन्द्रिय[३] का लक्षण किया है । प्रकाशरूप महत्तत्त्व का परिणाम जो अयुतसिद्धावयवरूप सात्त्विकाहंकार है, उसमें कार्य रूप से अनुगत जो सामान्यविशेष पदार्थों का समूह रूप द्रव्यविशेष हैं, वही इन्द्रिय कहलाती है । अर्थात् प्रकाशात्मक सात्त्विक बुद्धि का कार्य प्रकाशरूप अहंकार है। और उस सात्त्विक अहंकार के कार्य रूप से ग्राह्य जो पदार्थ या तत्त्व है, वही इन्द्रिय कहलाती है । योगवार्तिकार ने भी इनका समर्थन किया है[४]। भाष्यकार कृत यह लक्षण भी वाचस्पति आदि सांख्याचार्यों के मत का समर्थन करता है । इन्द्रियों को करण, निपातन, वैकारिक और तैजसादि भी कहते हैं[५]। इन इन्द्रियों के अतिरिक्त एक अन्य इन्द्रिय मन है । मन एक इन्द्रिय है यह सभी

----

१ सांख्यतत्त्वालोक, पृ० २३

२ ,, पृ० २४

३ योगभाष्य, पृ० ७०३ 'स्वरूपं पुन: प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य सामान्यविशेषयोर-युतसिद्धावयवभेदानुगत: समूहो द्रव्यमिन्द्रियम् ।'

४ योगवार्तिक, पृ० ३७५

५ तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, पृ० २७३

आचार्य स्वीकार करते हैं और मन की इन्द्रियों के साथ उन्होंने गणना भी की है[1]। मन इन्द्रिय है, परन्तु आत्मा का लिंग नहीं मन का इन्द्रियत्व सात्विकाहंकारोपादानत्व (सात्विक अहंकार रूप उपादानवाला होने से) के कारण है न इन्द्रलिंगत्व के आधार पर। यदि आत्मा का लिंग होने के कारण मन को इन्द्रिय मानें तब तो बुद्धि और अहंकार के भी इन्द्रियत्व का प्रसंग जैसा कि पूर्व ही स्पष्ट हो चुका है। इन्द्रलिंगत्व इन्द्रिय का लक्षण नहीं अतः इसे इन्द्रियत्व का प्रयोजक या कारण नहीं कहा जा सकता[2]। अतः मन भी इन्द्रिय है अन्य इन्द्रियों से समानधर्मता होने कारण।

कारिकाकार[3] ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है। मन उभयात्मक है द्विविध इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करता है[4]। मन का कार्य है, संकल्प करना, इन्द्रियों से (सात्विकाहंकारोपादानत्व रूप) साधर्म्य होने से मन इन्द्रिय भी है। सभी आचार्यों गौड़पाद, नारायणतीर्थ उदासीन आदि ने इनका समर्थन किया है। मन को इन्द्रियों का ईश्वर भी कहते हैं[5]। इस प्रकार जिसके द्वारा पदार्थों का साक्षात् ज्ञान करे वही इन्द्रिय है।

तन्मात्र और पंचमहाभुत

अब शेष हैं, पंच तन्मात्र और पंचमहाभुत। ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषय शब्दादि तन्मात्र के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। 'सा सा मात्रा यस्मिन् तत् तन्मात्रम्' अर्थात् वह मात्रा जिसमें है वह तन्मात्र है तन्मात्राओं का लक्षण पुराणों में भी किया गया है[6]। तन्मात्राओं को अविशेष भी कहते हैं।

---

१ 'कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्' --सांख्यसूत्र २।१६, पृ० १२३

२ तत्त्वकौमुदी, पृ० २४४ 'व्युत्पत्तिमात्रमिन्द्रलिंगत्वम् न तु प्रवृत्तिनिमित्तम्।'

३ 'उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं चसाधर्म्यात्।', कारिका २७, पृ० २४१

४ मनुस्मृति, पृ० ४

५ महाभारत--शान्तिपर्व, पृ० ६६७

६ मार्कण्डेय पुराण--प्रथमखण्ड, पृ० ३६६, विष्णु पुराण, पृ० ५२, प्रथम खण्ड।

ये पांच हैं-- शब्द,स्पर्श,रूप,रस और गन्ध । इनके विशेष धर्म शान्तत्वादि अनुभवातीत हैं, अर्थात् सूक्ष्म शब्दादि अनुभव के विषय नहीं बनते,अत: इन्हें अविशेष कहते हैं । तन्मात्राओं की तमोविग्रह,सूक्ष्म विग्रह और सूक्ष्मभूत आदि विविध संज्ञाएं हैं[१]। इनके विपरीत आकाशादि पंचभूतों के विशेष धर्म शान्तत्वादि स्थूल होने से अनुभवगोचर होते हं, अत: उन्हें विशेष कहा जाता है । ये हैं-- आकाश,वायु,[२]तेज,जल,पृथिवी । तन्मात्राओं को सूक्ष्म और महाभूतों को स्थूल भी कहते हैं ।

एक अन्य तत्त्व : ईश्वर

सांख्यदार्शनिकों में ईश्वरविषयक विचार में बहुत मतभेद है । कारण यह कि ईश्वर के न मानने के विषय में प्राय: सभी सांख्याचार्यों का मतैक्य है । प्रकृति और पुरुष के संयोग मात्र से ही सृष्टि होती है, ईश्वर की अपेक्षा नहीं । ईश्वराधिष्ठित सृष्टि का सूत्रकार ने खण्डन किया है और उससे होने वाली विभिन्न आपत्तियों को भी प्रस्तुत किया है । सांख्यसूत्रों के पंचमाध्याय के प्रारम्भ में ही सूत्रकार लिखते हैं-- 'नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्ति: कर्मणा तत्सिद्धे:'[३] अर्थात् कर्मफल की निष्पत्ति ईश्वराधिष्ठान रूप कारण से नहीं होती, कर्मफल प्राप्ति कर्मों के द्वारा ही होती है । अब प्रश्न यह है कि ईश्वर को अधिष्ठाता मानने पर उनमें स्वोपकार कर्त्तव्य का आरोप होगा,क्योंकि संसार में किसी भी

---

१ तत्त्वयाथार्थ्यदीपन,पृ० २७२

२ विष्णुपुराण,पृ०५३ ।

३ सांख्यसूत्र, ५।२, पृ० २९०।

कार्य को कर्ता अपनी उपकार या लाभ की दृष्टि से करता है । इस प्रकार अधिष्ठाता होने पर ईश्वर भी लौकिक या संसारी हो जायगा, अर्थात् उसकी पूर्णकामता सर्वज्ञता आदि असिद्ध हो जायेंगे । 'लौकिकेश्वरवदितरथा'[1] इस सूत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार ईश्वर और लौकिक पुरुष में भेद स्वीकार करते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में भी पुरुषों से भिन्न ईश्वर नामक कोई तत्त्व है यद्यपि वह एक प्रकार का पुरुष ही हो परन्तु कुछ तो विशेषता है ही । इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व और अनस्तित्व विषयक विचार के आधार पर सांख्य को दो रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है-- सेश्वर सांख्य । प्रथम जो पुराणों महाभारतादि में प्रतिपाद्य है और जिसे सांख्य सूत्रकार ने भी स्वीकार किया है अर्थात् प्राचीन सांख्य । दूसरा निरीश्वर या आधुनिक सांख्य जो सांख्य दार्शनिकों ईश्वरकृष्ण वाचस्पति मिश्रादि को भी मान्य है ।

पौराणिक और महाभारतादि में प्रतिपादित सांख्य सेश्वर तो है ही साथ ही वह सृष्टि को ईश्वराधिष्ठित मानता है अर्थात् प्रकृति स्वत: सृष्टि करने में पर्याप्त समर्थ नहीं, उसे ईश्वर की सहायता की अपेक्षा रहती है । सभी पुराणों में पुराणकार ने एतादृश सृष्टि का प्रतिपादन किया है । इनसे भिन्न सांख्यसूत्रकार यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, परन्तु कर्मफल देने में या सृष्टि में ईश्वर को प्रकृति की अपेक्षा नहीं यह तो पूर्व ही स्पष्ट हो चुका है ।

पौराणिक सांख्य से भिन्न निरीश्वर या आधुनिक सांख्याचार्य अपने ग्रन्थों में ईश्वर का उल्लेख ही नहीं करते । निरीश्वर सांख्य से तात्पर्य ईश्वरकृष्ण और उनके पश्चाद्भावी ग्रन्थकारों

----

१ सांख्यसूत्र , ५।४, पृ० २६१

से है । उन ग्रन्थों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके युग में या यह कहना चाहिए कि उनकी दृष्टि में ईश्वर नामक कोई तत्त्व है ही नहीं । ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिकाओं में तत्त्वों की गणना करते समय ईश्वर का नाम भी नहीं लिया । प्रकृति पुरुष और प्रकृति के अवान्तर परिणामों का ही उल्लेख किया है[1] । इनके पश्चाद्भावी अन्य टीकाकारों ने भी ईश्वर पर किंचिदपि प्रकाश नहीं डाला ।

अब प्रश्न यह है कि इस ईश्वर का स्वरूप क्या है, जिसे विभिन्न प्राचीन सांख्यदार्शनिक स्वीकार करते हैं । ईश्वर का किसी सांख्याचार्य ने लक्षण नहीं किया । हां, योगसूत्रकार ने इसे स्पष्ट किया है,यद्यपि उनका ईश्वर पुरुष रूप ही है । उससे भिन्न तत्त्व नहीं । योगदार्शनिक ईश्वर को एक भिन्न तृतीय तत्त्व के रूप से नहीं वरन् कुछ विशेष गुणों[2] से युक्त पुरुष मानते हैं । वे विशेष गुण कौन-कौन हैं यह योगसूत्रकार १।२४ से ही ज्ञात है । अर्थात् अविद्यादि पंचक्लेशों धर्माधर्म रूप द्विविध कर्मों, इन कर्मों के फलस्वरूप होने वाले पाप और पुण्य फल एवं उन फलों से बनने वाले संस्कार या वासनाएं, इन सभी से सर्वथा असंस्पृष्ट पुरुष विशेष ही ईश्वर संज्ञा को प्राप्त करता है । यद्यपि पुरुष चेतन होने से क्लेशादि से सर्वथा विलग है, क्योंकि क्लेशादि वस्तुत: मन या चित्त के धर्म हैं,परन्तु चित्त के होने पर भी पुरुष के कहे जाते हैं जैसे युद्ध में प्राप्त जय और पराजय वस्तुत: सैनिकों की होने पर भी उनके स्वामी राजा की कही जाती है । अत: पुरुष में क्लेशादि का उपचारमात्र है,परन्तु ईश्वर क्लेशादि के उपचरित भोग से भी सर्वथा

---

१ सांख्यकारिका ३,पृ०६३

२ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष: ईश्वर: --योगसूत्र १।२४

असम्बद्ध है । इस प्रकार सूत्रकार का अभिप्राय यहां उपचरित भोग के सम्बन्धाभाव से है । हां, एक संशय यह है कि प्रकृतिलीन और विदेह उपासकों[1] को भी सिद्धावस्था में उपर्युक्त भोगादि का परामर्श नहीं रह जाता, अत: उनको भी ईश्वर संज्ञा होनी चाहिए । ईश्वर से उन द्विविध उपासकों की भिन्नता है । ईश्वर में भोगों का सम्बन्धाभाव सार्वकालिक है, परन्तु इन प्रकृतिलीनादि उपासकों का किंचित्कालिक है। वे सिद्धावस्था के पूर्व तक भोगों से सम्बद्ध रहते हैं । अत: उन्हें ईश्वर नहीं कह सकते[2] । पंचदशीकार विद्यारण्य का भी पुरुषविषयक ऐसा ही मत है । इसप्रकार ईश्वर पुरुष विशेष है । पुरुष इस अर्थ में कि वह भी पुरुष की भांति चिद्रूप है, परन्तु इनमें भिन्नता भी है। पुरुष क्लेशादि को अविद्यावश आरोपित कर लेता है, परन्तु ईश्वर उन सभी से सर्वथा असंस्पृष्ट है । इसी भिन्नता के कारण ईश्वर को पुरुष ही न कहकर पुरुषविशेष अर्थात् कुछ विशेष गुणों से युक्त पुरुष कहा है ।

अब प्रश्न यह है कि ईश्वर को पुरुषविशेष क्यों न कहें? उनको 'ईश्वर' संज्ञा की क्या आवश्यकता ? ईश्वर में निरतिशय ऐश्वर्य है अत: इसे[3] ईश्वर कहते हैं । जहां ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है वही निरतिशय ऐश्वर्य है । यह ऐश्वर्य ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी

---

१ जहां तक प्रकृतिलीन और विदेहों का प्रश्न है, आचार्यों का इस विषय में मतभेद है, परन्तु साधारण रूप से पंचमहाभूत और एकादश इन्द्रिय रूप अनात्म पदार्थों में से किसी एक में आत्मबुद्धि करके जो उपासना करते हैं वे विदेह और प्रकृति महत्, अहंकार, और पंचतन्मात्ररूप अनात्म पदार्थों में से किसी एक में आत्मबुद्धि करके जो उपासना करते हैं, वे प्रकृतिलीन उपासक कहे जाते हैं ।

२ पंचदशी, पृ० २७३ ।

३ योगभाष्य, पृ० १३६ ।

का नहीं[१]। इस प्रकार ईश्वर तत्व योगियों की एक विशिष्ट मान्यता है।

योगदर्शन में ईश्वर का स्थान

ईश्वरविषयक विचार में भिन्नता होने के कारण ही सांख्य और योगदर्शन समानतन्त्र होने पर भी कुछ भिन्न हैं। परन्तु योगीजन ईश्वर को क्रिया-वासनाओं आदि से सर्वथा विमुक्त पुरुष ही मानते हैं। यह तो स्पष्ट हो चुका है। इनका ईश्वर न कर्ता है और न भोक्ता ही। इन सभी क्रियाओं का उसमें पूर्ण अभाव है। अर्थात् सर्वथा निष्क्रिय होने से ईश्वर निरर्थक सा प्रतीत होता है। योगियों का ईश्वर को स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है, यह जानना आवश्यक है। सृष्टि प्रकृति और पुरुष के संयोग का एक परिणाम है। व इस संयोग में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं। प्रकृति स्वतन्त्र है, उसका अधिष्ठातादि भी ईश्वर नहीं हो सकता। इस विषय पर सृष्टि प्रकरण में विचार किया जायगा, परन्तु यह मानना ही होगा कि ईश्वर का सृष्टि में कोई प्रयोजन नहीं है।

प्रश्न यह है कि जब ईश्वर सृष्टि के सम्बन्ध में पूर्णतः निरर्थक या निष्प्रयोजन है। अतः ईश्वर की मान्यता व्यर्थ ही है, ऐसा नहीं। ईश्वर का एक मुख्य प्रयोजन है योगाभिमत ईश्वर भक्ति योगीजन ईश्वरप्रणिधान या भक्ति से भी ज्ञानप्राप्ति मानते हैं। अर्थात् ईश्वर-भक्ति भी ज्ञानप्राप्ति का साधन है और ज्ञान के पश्चात् मोक्ष सुकर है। अतः अन्ततोगत्वा ईश्वर की भक्ति मोक्षप्राप्ति का एक उपायविशेष है। ज्ञान और कर्म मार्गी होने पर भी इस स्थल पर उनके

---

१ 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' --योगसूत्र १।२५,पृ० १४४

भक्तिमार्गी विचार परभी प्रकाश पड़ता है । इस प्रकार भक्तिमार्ग में ईश्वर रूप एक आराध्य देव का होना अत्यन्त आवश्यक है । जिसको सर्वात्म समर्पण करके उसी का दिन-रात ध्यान किया जाय । इस ध्यान के पूर्ण पक्वावस्था को प्राप्त हो जाने पर संप्रज्ञातादि विभिन्न समाधियां और तत्पश्चात् ही विवेकज्ञान की प्राप्ति होगी । इसी विवेकज्ञान से मोक्ष या अपवर्ग सिद्ध होगा । इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के ईश्वरप्रणिधान रूप साधन की सार्थकता के लिए ईश्वर का पृथक् अस्तित्व मानना परमावश्यक है । योगदर्शन में ईश्वर का मुख्य यही प्रयोजन है । इसपर ईश्वरप्रणिधान रूप साधन के विवेचन के मध्य में सम्यक् विचार होगा ।

-o-

द्वितीय अध्याय

-o-

प्रमेयों के सृष्ट्यादि विषयक विचार

आचार्य कपिल और पतंजलि का सृष्टिविषयक मत

सृष्टि का प्रयोजन और कारण

(क) सृष्टि का प्रयोजन

(ख) सृष्टि का कारण

(ग) सृष्टि के अन्य कारण

सृष्टि की निवृत्ति

इन्द्रियों की उत्पत्ति

(क) उत्पत्तिविषयक आचार्य कपिल और पतंजलि का मत

(ख) सूत्र के वृत्तिकारों का एतद्विषयक मतभेद

(ग) कारिकाकार और टीकाकारों का विज्ञानभिक्षु से मतभेद

त्रयोदश करणों में बुद्धि का प्राधान्य

(क) करण का स्वरूप और प्रकार

(ख) बाह्य करणों की अपेक्षा अन्त:करणों का प्राधान्य

(ग) अन्त:करणों में बुद्धि का प्राधान्य

-o-

द्वितीय अध्याय

-०-

प्रमेयों का सृष्ट्यादि विषयक विचार

आचार्य कपिल और पतंजलि का सृष्टि विषयक मत

प्रकृति से पंचमहाभूतपर्यन्त पच्चीस तत्त्वों का सृष्टिक्रम क्या है ? यह सर्वथा निश्चित ही कहते हैं । सांख्यसूत्रकार ने १।६१ सूत्र में ही इसका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है । त्रिगुण स्वरूप प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्र और एकादश इन्द्रियां और तन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है । सूत्रों के वृत्तिकार अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने भी इस क्रम का समर्थन किया है । तत्त्वों का यह सृष्टिक्रम सभी योगदार्शनिकों को भी मान्य है । आचार्य पतंजलि ने किसी सूत्र से इस क्रम को स्पष्ट नहीं किया, परन्तु सूत्र १।४५[१] में उन्होंने सूक्ष्मता की पराकाष्ठा किस तत्त्व में है, इसका उल्लेख किया है । सबसे सूक्ष्म तत्त्व प्रकृति या अलिंग है, यह तो सभी आचार्यों को मान्य है और साथ ही यह एक सामान्य विषय भी है, कारण कार्य से सूक्ष्म होता है, कारण को सदैव सूक्ष्म और कार्य को स्थूल होना चाहिए । अत: प्रकृति को सूक्ष्मतम मानने का अर्थ है, कि प्रकृति के परिणाम रूप से प्राप्त महदादि कार्य होने से स्थूल ही होंगे । प्रकृति ही सूक्ष्मतम होने से सभी अवान्तर तत्त्वों का कारण है । इस प्रकार यह निश्चय है कि प्रकृति ही आदि कारण है, परन्तु यह नहीं ज्ञात होता कि इन तत्त्वों की सृष्टि का क्रम क्या है? हां इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने

---

१ 'सूक्ष्मविषयत्वंचालिंगपर्यवसानम्' —योगसूत्र १।४५, पृ० २२७

इस क्रम पर भी प्रकाश डाला है[1]। इस सूत्र के अतिरिक्त पतंजलि ने सूत्र २।१९ में[2] सभी तत्त्वों को चार पर्वों में विभाजित किया है-- विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग। इन चारों पर्वों का सूत्र में क्रम से उल्लेख हुआ है। इससे तत्त्वों के सृष्टिक्रम पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इसके भाष्य में भी इस क्रम का वर्णन हुआ है। लिंगमात्र अर्थात् महत्तत्त्व अलिंग प्रकृति में रहता हुआ सृष्टिकाल में उससे विभक्त होता है, उसी प्रकार अहंकार और पंचतन्मात्र महत् से उत्पन्न होता है[3]। यह मत सांख्याचार्यों से भिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि वे महत् से अहंकारमात्र की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, पंच तन्मात्राओं की नहीं। क्या भाष्यकार का यह महत् से षडविशेष तत्त्वों की उत्पत्ति का सिद्धान्त उपयुक्त है, कदापि नहीं। भाष्यकार स्वयं भी १।४५ सूत्र के भाष्य में तन्मात्राओं का कारण अहंकार को और अहंकार का कारण महत् को स्वीकार करते हैं[4]। सभी सांख्य और योग-दार्शनिक इसी मत के पोषक हैं। तत्त्वकौमुदी के प्रसिद्ध टीकाकार उदासीन ने[5] भाष्यकार व्यास के मत को स्पष्ट किया। महत् अहंकार का साक्षात् कारण है परन्तु तन्मात्राओं का परम्परया अर्थात् महत् के आवेश से ही अहंकार तन्मात्राओं को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। अतः साक्षात् कारण अहंकार होने पर भी महत् तन्मात्राओं का परम्परित कारण है। इसी प्रकार अन्य तत्त्व भी सांख्य-दर्शनाभिमत क्रम के अनुसार ही उत्पन्न होते हैं। अतः सांख्य और योग दोनों ही आचार्यों का सृष्टिविषयक मत समान ही है[6]।

---

१ योगभाष्य, पृ० २३८

२ 'विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि' २।१९, पृ० ३७७

३ योगभाष्य, पृ० ३८६

४ ,, पृ० २३८

५ विद्वत्तोषिणी, पृ० १७२

६ मनुस्मृति, पृ० १०-१६, श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, पृ० १०६

कारिकाकार ईश्वरकृष्ण[1] और उनके टीकाकार माठर,वाचस्पति आदि ने भी इसी मत को स्वीकार किया है[2]। सांख्याचार्यों के अतिरिक्त योगदार्शनिकों ने भी इसी मत का समर्थन किया[3]।तत्त्वों के सृष्टिक्रम का एतादृश उल्लेख स्कान्द,विष्णु,मार्कण्डेय आदि पुराणों में भी हुआ है। मनुस्मृति[4] और सर्वदर्शनसंग्रह[5] में किया गया सृष्टि का वर्णन सांख्यसूत्रकार के मत के समान ही है। महाभारत में भी एतादृश उल्लेख हुआ है[6]।

सृष्टि का प्रयोजन और कारण

(क) सृष्टि का प्रयोजन :-

उपर्युक्त विवेचन से सृष्टि का क्रम ज्ञात है,परन्तु सृष्टि क्यों होती है, इसका क्या कारण और प्रयोजन है ? यह किंचित् स्पष्ट है नहीं। सांख्यसूत्रकार ने सृष्टि का कोई कारण नहीं बताया, सृष्टि के कारण के स्थान पर उन्होने सर्वप्रथम प्रयोजन ही का उल्लेख किया है। सांख्यसूत्रों में द्वितीय अध्याय सृष्टि के प्रयोजन से ही प्रारम्भ होता है। सूत्रों के अतिरिक्त कारिकाओं में सृष्टि का प्रसंग उठते ही सर्वप्रथम प्रयोजन पर ही विचार हुआ है अतः कारण से पूर्व प्रयोजन पर ही विचार करना उपयुक्त है। द्वितीय अध्याय के प्रथम सूत्र 'विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य' से ही ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टि के द्विविध प्रयोजन हैं -- एक परार्थ और दूसरा स्वार्थ। प्रश्न यह है कि ये दो प्रयोजन ही मानने चाहिए या कोई एक ही। परार्थ सृष्टि का क्या अर्थ है-- प्रकृति जगत् की सृष्टि कुछ करती है और पुरुष

---

१ कारिका २२,पृ०२२४

२ माठरवृत्ति,पृ०३६, तत्त्वकौमुदी,पृ०२२४

३ योगवार्तिक,सूत्र १।४५,पृ०१२२

४ मनुस्मृति,पृ०१३

५ सर्वदर्शनसंग्रह,पृ०६०

उससे पर या पूर्णरूपेण भिन्न है । अत: पर पुरुष के लिए होना ही परार्थ होना है और स्वार्थ का अर्थ है स्व अर्थात् प्रकृति स्वयं के लिए ही सृष्टि करती है । प्रकृति दूसरे के लिए सृष्टि करे, यह तो उपयुक्त प्रतीत होता है परन्तु वह पर (पुरुष) जो नित्यमुक्त और निष्क्रिय है, स्वभाव से ही जो मुक्त है, उसे सृष्टि रूप भोग्य से क्या प्रयोजन ? जिस पुरुष को मोक्ष स्वत: सिद्ध उसके मोक्ष के लिए भी सृष्टि हो, यह सर्वथा अयुक्त है । साथ ही सांख्य--योगदार्शनिक पुरुष को सत्त्व, रजस् आदि गुणों से रहित मानते हैं, वह सर्वथा निर्गुण है । अत: दु:ख से भी उसका कोई सम्पर्क न होगा । दु:ख तो इन्हीं गुणों में से रजस् का परिणाम है । रजस् के अभाव में उसके परिणाम का भी पुरुष में पूर्ण अभाव होगा । अत: जब पुरुष स्वत: दु:ख से सर्वथा असंस्पृष्ट है, तो दु:ख से उसकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यदि पुरुष के मोक्ष का प्रसंग ही नहीं, तब इन सभी आचार्यों ने कैसे इसका प्रतिपादन किया । सूत्रों में ही नहीं, कारिकाओं में सृष्टि को परार्थ या पुरुष के मोक्षार्थ माना गया है । पुरुष यद्यपि मुक्त है, परन्तु व्यावहारिक स्तर पर वह बद्ध हो जाता है । अर्थात् अज्ञानवश वह बुद्धि के विभिन्न कार्यों--दु:खसुखादि को स्वयं में आरोपित करके स्वयं को ही इन दु:खों का भोक्ता समझ बैठता है । अत: मोक्ष होने पर उसे कष्ट भी होता है । इस प्रकार इसी अज्ञान के निवारणार्थ या यह कहिए कि आरोपित दु:खादि से मुक्ति के लिए ही सृष्टि के प्रयोजन रूप से पुरुष के मोक्ष का प्रतिपादन हुआ । इसी तथ्य का प्रतिपादन सांख्यप्रवचनभाष्य में आचार्य विज्ञानभिक्षु ने किया[१] । साथ ही प्रकृति के स्वार्थ प्रयोजन का भी उल्लेख हुआ है । प्रकृति स्वयं अपने लिए

----

१ 'स्वभावतो दु:खबन्धाद्विमुक्तस्य पुरुषस्य प्रतिबिम्बरूपदु:खमोक्षार्थं प्रतिबिम्बसम्बन्धेन दु:खमोक्षार्थं वा प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वम्', पृ० ११४

सृष्टि करती है अर्थात् त्रिगुणात्मिका होने से प्रकृति में दु:ख वस्तुत: रहता है । इसी दु:ख का वास्तविक अधिष्ठान होने से प्रकृति की प्रवृत्ति भी उपयुक्त ही प्रतीत होता है ।

सृष्टि के प्रयोजनपरक उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सृष्टि के दो ही प्रयोजन हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि इन द्विविध प्रयोजनों का पर्यवसान वस्तुत: एक में ही है और वह है त्रिविध दु:खों का आत्यन्तिक और ऐकान्तिक विनाश । सृष्टि परार्थ अर्थात् पुरुष के मोक्ष (दु:ख के नाश) और प्रकृति में स्थित दु:ख के से मोक्ष के लिए ही है । प्रश्न यह है कि क्यों न सृष्टि को किसी एक के लिए ही मान लें । प्रकृति और पुरुष दोनों का नहीं । परन्तु यह सम्भव नहीं, सृष्टि को पुरुष मात्र के लिए मानने पर प्रकृति के अभाव में पुरुष का मोक्ष सम्भव न होगा,क्योंकि मोक्षप्राप्ति के पूर्व विवेकज्ञान का अधिगम अनिवार्य है और विवेकज्ञान प्रकृति और पुरुष दोनों के रहने पर ही सम्भव है,क्योंकि सांख्याभिमत ज्ञान नैयायिकों की भांति षोडश पदार्थों का ज्ञानमात्र नहीं,वरन् प्रकृति पुरुष के पार्थक्य का ज्ञान अर्थात् 'अहमन्योप्रकृतिरन्या' ऐसी अनुभूति या ज्ञान को ही विवेक कहते हैं । दोनों का पार्थक्य ज्ञान दोनों में से किसी एक की भी अनुपस्थिति में सर्वथा असम्भव है,अत: इन दोनों के लिए सृष्टि मानना ही उचित है । २१ वीं कारिका में ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति और पुरुष की परस्पर अपेक्षाभाव का प्रतिपादन किया है-- अर्थात् प्रधान के दर्शन के लिए और पुरुष के कैवल्य के लिए प्रकृति और पुरुष का संयोग उसी प्रकार होता है जिस प्रकार अंधे और लंगड़े का संयोग[१] । इस प्रकार प्रधान का दर्शन पुरुष को ही अत: दर्शन के लिए पुरुष को प्रधान की अपेक्षा है और पुरुष के

---

१ 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृत: सर्ग: ।।

कैवल्य सम्पादन के लिए पुरुष को प्रकृति की अपेक्षा होती है,क्योंकि कैवल्य विवेकज्ञान का फल है । अत: इन दोनों के परस्पर सापेक्ष होने से सृष्टि इन दोनों के लिए ही होती है । जिस प्रकार अंधे और लंगड़े व्यक्तियों में दोनों के ही विकलांग होने से इन दोनों के परस्पर सहयोग की आवश्यकता है,परन्तु इनका प्रयोजन एक होना चाहिए, यदि इन दोनों का गन्तव्य एक ही स्थान हो तब तो वे दोनों साथ-साथ जा सकते हैं, यदि इनका गन्तव्य ही भिन्न है, इनका संयोग या यों कहिए इनका परस्पर सहयोग भी असम्भव होगा,क्योंकि दोनों का लक्ष्य भिन्न है और लक्ष्य भिन्न होने पर मार्ग भी भिन्न-भिन्न होंगे । ऐसी दशा में परस्पर सहयोग का प्रश्न ही नहीं उठता । यह दृष्टान्त उपयुक्त ही है,यद्यपि प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध में यह पूर्णरूपेण घटित नहीं होता अर्थात् पुरुष के मुक्त होने से उसका कोई प्रयोजन न होगा और प्रकृति के जड़ होने से उसके भी प्रयोजन का प्रश्न न होगा । जड़ का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता है,परन्तु फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से पुरुष के लिए सृष्टि का सिद्धान्त उपयुक्त ही है,क्योंकि अज्ञानवश पुरुष बद्ध हो जाता है । अत: उसकी मुक्ति आवश्यक है । भोग और अपवर्ग रूप द्विविध पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए सृष्टि का होना अनिवार्य है । यद्यपि प्रकृति पुरुष का अपेक्षाभाव शास्त्रप्रतिपादित है, परन्तु इस अपेक्षा के अन्तर्गत प्रकृति का कोई स्वार्थ नहीं, प्रकृति के जड़ होने से है । पुरुष को प्रकृति के दर्शन के लिए प्रकृति की अपेक्षा है,परन्तु उसमें प्रकृति का कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होगा,पुरुषमात्र के भोग और मोक्ष के लिए सम्पूर्ण दृश्य या भोग्य प्रकृति को मानना आवश्यक है,परन्तु जहां तक प्रयोजन का प्रश्न है, इतना तो मानना ही होगा कि प्रकृति की प्रवृत्ति परार्थ या पररूप पुरुष के लिए ही होती न कि स्वार्थ । प्रकृति त्रिगुण-स्वरूप अर्थात् त्रिगुणों का संघात रूप है और संघात रूप होने से परपुरुष के लिए ही हो सकती है साथ ही प्रकृति को स्वार्थ के लिए मानना उपयुक्त नहीं सृष्टि का मुख्य प्रयोजन है पुरुष की मुक्ति । पुरुष निर्गुण अपरिणामी है अत:

वह आरोपित दु:खादि से मुक्त हो सकता है,परन्तु प्रकृति जब स्वयं ही त्रिगुण-स्वरूप है,अत: कैसे दु:ख से मुक्त हो सकती है, दु:ख तो रजस् का परिणाम है, और जब रज उसका स्वरूप ही है तब उसके परिणाम या उससे मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । अत: सृष्टि परार्थ ही होती है ।

अधिकतर आचार्यों ने परार्थ सृष्टि को ही अधिक महत्व दिया है-- सांख्यसूत्रों में कई स्थलों पर सृष्टि परार्थ ही कहा गई है[1]। स्वत: भोक्त्री न होने से प्रधान की सृष्टि परार्थ ही होती है । जिस प्रकार ऊंट के द्वारा ढोया गया कुंकुमादि स्वामी के लिए होता है न कि ऊंट के लिए । सूत्रकार के अतिरिक्त कारिकाकार ने भी ५६ वीं कारिका से लेकर ६० कारिका तक सृष्टि के परार्थ प्रयोजन पर ही अपने मत व्यक्त किए हैं । प्रकृति पुरुष के लिए प्रवृत्त होती है । ईश्वरकृष्ण द्वारा दिया गया यह दृष्टान्त उतना सटीक नहीं,क्योंकि दुग्ध की प्रवृत्ति स्वत: होती है या किसी के द्वारा अधिष्ठित होकर, इसी विषय में पर्याप्त मतभेद है । कुछ लोग दुग्ध की स्वत: प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं,परन्तु यह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता । जड़ पदार्थ स्वत: कैसे प्रवृत्त हो सकता है और कुछ लोग दुग्ध की प्रवृत्ति का कारण गाय की बछड़े के वर्धन की इच्छा मानते हैं[2]। जिस प्रकार स्वेच्छा की पूर्ति के लिए जगत् में लोग प्रवृत्त होते हैं,उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है[3]। योगदार्शनिक भी इसी मत के पोषक हैं । तदर्थ अर्थात् पुरुष के लिए दृश्य या भोग्य महदादि की सृष्टि हुई, अत: पुरुष के भोग और मोक्ष रूप अर्थों के सम्पादन के लिए ही सृष्टि होती है[4]। योगसूत्र२।२१ में प्रतिपादित

---

१ प्रधानसृष्टि: परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुंकुमवहनवत्--सांख्यसूत्र३।५८,पृ०१६३
अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टि: प्रधानस्योष्ट्रकुंकुमवहनवत् -- ,, ६।४०,पृ०२५३

२ `सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा`: डा० आद्याप्रसाद मिश्र -पृ० २३१

३ सांख्यकारिका,कारिका ५८,पृ०३१५

४ `तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा`, योगसूत्र २।२१,पृ०३६६

इस मत का सभी अन्य टीकाकारों ने भी समर्थन किया है । अत: योगशास्त्रानुसार साथ ही सभी योगदार्शनिकों के अनुसार सृष्टि परार्थ या पुरुष के भोगापवर्ग रूप द्विविध प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही होती है न कि प्रकृति के लिए । अत: सृष्टि का परार्थ प्रयोजन ही सभी को अभिमत है ।

अब सृष्टि का प्रयोजन स्पष्ट हो गया ,परन्तु प्रश्न यह है कि सृष्टि करता कौन है ? सांख्ययोगदार्शनिक प्रकृति को ही सृष्टि की कर्त्री मानते हैं,परन्तु ऐसी शंका होती है कि प्रकृति तो जड़ और अचेतन रूप है,सृष्टि रूप क्रिया जड़ का धर्म नहीं हो सकता,अपितु किसी चेतन का ही धर्म होगा । इस प्रकार अवश्य ही सृष्टि का कर्ता ईश्वर होगा । ईश्वर स्वत: सृष्टि का कारण नहीं हो सकता वह तो निर्गुण और अपरिणामी है । सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मिका और परिणामरूप है, परिणामित्व के अभाव में ईश्वर को सृष्टि का कारण मानना उचित नहीं । यदि यह कहें कि ईश्वर स्वार्थवश सृष्टि करता है,तो यह भी उपपन्न नहीं,ईश्वर तो आप्तकाम या पूर्ण है, जब उसकी कोई इच्छा ही नहीं, या जिसमें किसी वस्तु का अभाव नहीं वह स्वार्थवशेन सृष्टि कैसे करता है । अत: स्वप्रयोजन के अभाव में ईश्वर सृष्टि नहीं करता । यदि ऐसी शंका हो कि ईश्वर सर्वसाधारण प्राणियों पर करुण या दयाभाव से सृष्टि करता है, यह भी सर्वथा अनुपपन्न है । करुणा-भाव से सृष्टि का अर्थ है-- कोई करुणा का पात्र अवश्य होगा । जीव या पुरुष ईश्वर की करुणा के विषय नहीं बन सकते,क्योंकि सृष्टि के पूर्व जीवों के इन्द्रिय शरीर आदि की उत्पत्ति नहीं होती । इसके अभाव में जीव को कष्ट या दु:ख कैसे प्राप्त होगा । कष्ट होने पर ही उनपर करुणा या सहानुभूति हो सकती है । अत: ईश्वर को किसी प्रकार सृष्टि का कारण नहीं कहा जा सकता,[१] परन्तु जड़ होने से प्रकृति स्वत: सृष्टि करने में समर्थ नहीं अत: उसे प्रेरक

---

१ सांख्य तत्त्व कौमुदी,पृ०३१४

या अधिष्ठाता रूप से किसी चेतन की अपेक्षा है । यह उपयुक्त नहीं, क्योंकि ईश्वर तो निष्क्रिय है, निष्क्रिय होते हुए वह अधिष्ठातृत्व रूप क्रिया कैसे कर सकता है । अत: ईश्वर को अधिष्ठाता भी नहीं कहा जा सकता ।

अब प्रश्न यह है कि प्रकृति अचेतन है, परन्तु अचेतन होते हुए भी वह सृष्टि करने में समर्थ है, क्योंकि सभी दार्शनिकों का मत है कि पुरुष को पूर्वजन्मकृतकर्मों के फलरूपेण ही दूसरा जन्म, आयु और भोग प्राप्त होते हैं । जब पूर्वजन्मों के किए गए अचेतन या जड़ कर्म समूह फल देने के लिए प्रवृत्त हो सकते हैं तो व अचेतन प्रकृति क्या सृष्टि रूप कार्य करने में समर्थ नहीं ? प्रकृति तो त्रिगुणात्मिका होने से स्वत: क्रियाशील है, क्योंकि क्रियाशीलता रजोगुण का धर्म है, अत: ऐसी प्रकृति पुरुष के सन्निधानमात्र से स्वत: प्रवृत हो सकती है । इस प्रकार प्रकृति ही स्वत: सृष्टि करती है ।

(ख) सृष्टि का कारण

प्रयोजन के पश्चात् कारण पर विचार करना आवश्यक है । सांख्यकारिका में कारिकाकार ने सृष्टि के कारण रूप से संयोग का उल्लेख किया है । योगसूत्रकार भी संयोग को सृष्टि का कारण मानते हैं । संयोग क्या है? यह किसी आचार्य ने स्पष्ट नहीं किया । हां, योगसूत्रकार ने द्वितीय पाद में संयोग के स्वरूपावधारण का प्रयास किया है[1] । भाष्यकार व्यास ने इस सूत्र की अवतरणिका में यह कहा है -- 'संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते' अर्थात् स्वशक्ति दृश्य रूप बुद्ध्यादि और स्वामिशक्ति पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि या ज्ञान का हेतु जो सम्बन्ध(संयोग) वह संयोग कहा जाता है । भोग्य होने से महदादि दृश्य स्वशक्ति है, और भोक्ता होने से पुरुष

---

१ 'स्वस्वामिशक्त्यो: स्वरूपोपलब्धिहेतु: संयोग: '--योगसूत्र२।२३,पृ०४०६।

स्वामिशक्ति । अत: स्व और स्वामी की क्रमश: भोग्य रूप से और भोक्ता रूप से उपलब्धि का कारणभूत सम्बन्ध ब ही संयोग है ।यह संयोग ही संसार रूप हेय का कारण है । संयोग से दृश्य की उपलब्धि होती है,अत: दृश्य की उपलब्धि ही भोग है और भोक्ता या द्रष्टा की उपलब्धि है अपवर्ग अर्थात् प्रकृति का दर्शन होते ही पुरुष को विवेकज्ञान हो जाता है । इस ज्ञान के पश्चात् मोक्ष या अपवर्ग की प्राप्ति होती है । इस प्रकार दृश्य का उपलब्धि का हेतु ही संयोग है,व परन्तु स्वामी की उपलब्धि का हेतु संयोग नहीं,वरन् उस संयोग का वियोग । अत: स्वस्वामि शक्तियों का सम्बन्ध ही संयोग है । योगदार्शनिकों ने संयोग के स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाला, परन्तु सांख्यदार्शनिकों ने इसे स्पष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया । हां, यह संयोग किसके मध्य होता है और संयोग का भी क्या कारण और फल है ? यह निश्चित है । प्रकृति के त्रिविध गुणों का साम्य नष्ट होने पर अथवा क्षोभ होने पर ही सृष्टि होती है । यह क्षोभ प्रकृति और पुरुष के संयोग से होता है अर्थात् सृष्टि का कारणभूत संयोग प्रकृति और पुरुष के मध्यहोता है, परन्तु विज्ञानभिक्षु का मत इनसे भिन्न है । वे संयोग को क्षोभ का कारण न मानकर क्षोभ को ही साक्षात् संयोग का कारण मानते हैं[1] । यद्यपि यह उचित नहीं प्रतीत होता, ऐसा मानने पर अनवस्था दोष होने की सम्भावना है,क्योंकि संयोग का कारण यदि क्षोभ को मानें,क्षोभ का कारण क्या होगा? इस अनवस्थापत्ति के निवारणार्थ संयोग को ही क्षोभ का कारण मानना अधिक उपयुक्त है । ऐसा स्वीकार करने पर अनवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता,क्योंकि संयोग के कारण रूप से अविद्या का ग्रहण होता है । सभी आचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में अविद्या को संयोग के कारणरूप से स्वीकार किया है[2] ।

---

१ 'प्रकृते: क्षोभात् प्रकृतिपुरुषसंयोगस्तस्मात् सृष्टिरिति सिद्धान्त:'
--सांख्यप्रवचनभाष्य,पृ०२२५

२ 'अविवेकनिमित्तो वा पंचशिख:' सांख्यसूत्र ६।६८,पृ०२६४

'तस्य हेतुरविद्या' -- योगसूत्र २।२४,पृ०४१७

जहां तक अविद्या के भी कारण का प्रश्न है, अविद्या का कोई आदि नहीं। वह तो अनादि है[1]। इसके समान क्षोभ को अनादि नहीं कहा जा सकता, यदि क्षोभ अनादि होगा तो क्षोभ से होने वाली सृष्टि भी नित्य या अनादि होगी। सृष्टि के नित्य होने पर उसकी निवृत्ति या मोक्ष की प्राप्ति ही असम्भव होगी। अत: विज्ञानभिक्षु का उपर्युक्त सृष्टि सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

अत: संयोग ही हेय या संसार रूप दु:ख का कारण है। सुख-दु:ख बुद्धि के ही धर्म है न कि पुरुष के[2]। अत: द्रष्टा पुरुष और दृश्य प्रकृति का संयोग ही सृष्टि का कारण है। अब शंका यह है कि जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष का संयोग कैसे सम्भव है ? इस संयोग का मूलकारण है अविद्या, यह पूर्व ही स्पष्ट हो गया। अत: अविद्यावश पुरुष प्रकृति के द्वारा किए गए कर्मों का स्वयं को कर्ता समझता है। साथ ही संयोग होने पर अचेतन बुद्धि आदि चेतनवत् प्रतीत होते हैं। इस प्रकार पुरुष और प्रकृति में इतना तादात्म्य हो जाता है कि पुरुष स्वयं को विविध कर्मों का कर्ता और विविध दु:खादि फलों का भोक्ता समझने लगता है[3]। पुरुष कर्ता नहीं, कर्ता न होने पर भी पुरुष उस फल का भोक्ता माना जाता है, जिस प्रकार कि एक व्यक्ति अन्न उत्पन्न करता है और अन्य उसका भोग करते हैं[4]। अत: अविवेकजन्यसंयोग के कारण ही पुरुष स्वयं को भोक्ता समझने लगता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति भी चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब से प्रभावित होकर स्वयं भी लाल भासित होने लगती है, यद्यपि वस्तुत: उसपर किसी पदार्थ का कोई रूप नहीं आ सकता, भ्रान्तिमात्र होती है, उसी प्रकार बुद्धि स्वच्छ स्फटिक मणि के समान

---

१ 'अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषप्रसक्तेः' --सांख्यसूत्र ६।१२, पृ० २४२

२ 'वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः' -- ,, १।५८, पृ० ४२

३ सांख्यसूत्र--सूत्र १।१०५, सूत्र १।१०४, १।१०६, पृ० ७७-७८।

४ 'अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्' -- सांख्यसूत्र १।१०५, पृ ७८।

स्वच्छ होने से पुरुष के सन्निकर्ष से ही चेतन तत्त्व के समान भासित होती है, अत: जिस प्रकार स्फटिक का जपा से संयोग होना प्रत्यक्षत: भी असम्भव है, ठीक उसी प्रकार पुरुष प्रकृति का परस्पर संयोग सर्वथा असम्भव सा प्रतीत होता है, तथापि इन दोनों भाव पदार्थों का किसी-न-किसी रूप में संयोग हो ही सकता है, यद्यपि वह सूक्ष्म ही है । प्रकृति और पुरुष पृथक्-पृथक् दो पदार्थ हैं । यह सभी सांख्ययोगाचार्यों की मान्यता है । संयोग या सम्बन्ध सदैव दो के मध्य ही होता है, अत: किसी एक में हो नहीं सकता । अत: इन दोनों जड़ और चेतन पदार्थों के मध्य संयोग होना कोई असम्भाव्य नहीं । राधानाथपूरवन ने भी इसी मत को विविध उदाहरणों से स्पष्ट किया है । अब प्रश्न यह है कि जब संयोग हो सकता है, तो क्यों नहीं सदैव बना रहता । संयोग होता है परन्तु उसको भी प्रयोजन की अपेक्षा है । कोई ऐसा प्रयोजन हो, जिसको सम्पन्न करने के लिए इन पदार्थों को एक-दूसरे का सहायता की आवश्यकता हो, ऐसी स्थिति में उनका संयोग होता है और उस प्रयोजन की पूर्ति होने पर संयोग निवृत्त हो जाता है । अन्ततोगत्वा प्रकृति और पुरुष ये दोनों तत्त्व पृथक्-पृथक् (संयोग के पूर्व) पूर्व के समान ही स्थित रहते हैं । कारण के साथ-साथ संयोग का फल क्या है यह स्वत: ही व्यक्त हो गया । पुरुष स्वत: भोक्ता कर्तादि न होने पर भी स्वयं को कर्ता समझता है यह अविद्या के परिणामभूत संयोग का ही फल है[१] । पुरुष के सम्पर्क के से अचेतन महदादि चित् के प्रतिबिम्ब से वशीभूत होकर चेतन प्रतीत होते हैं और चेतन पुरुष गुणों के कार्यों को अपना समझ लेता है । इस विषय में सभी आचार्यों का मत समान है[२] ।

----

१ सांख्यकारिका २०, पृ०२१६ । सांख्यसूत्र २।५८, पृ०१६२

२ सांख्यचन्द्रिका ,पृ०१६

(ग) सृष्टि के अन्य कारण

संयोग के अतिरिक्त सृष्टि के कुछ अन्य कारण भी हैं,जैसे प्रारब्धादि कर्म । वे ही मुख्य प्रतीत होते हैं । इन कारणों के प्रवृत्त होने पर ही प्रकृति और पुरुष का संयोग सम्भव है । वस्तुत: कर्मों को ही सृष्टि का मुख्य कारण कहना चाहिए । कर्मों की सृष्टिकारणता सांख्ययोगदर्शनों में ही नहीं,वरन् अन्य धार्मिक ग्रन्थों और शास्त्रों में भी वर्णित है[1] । प्रश्न यह है कि कर्म सृष्टि का कारण कैसे बन सकते हैं । चित्त प्रतिक्षण परिणामी है,अत: वह कुछ-न-कुछ क्रिया अवश्य ही करता रहता है । उसकी ये क्रियाएं ही कर्म कहलाती हैं । अत: यह स्पष्ट है कि मन ही सब कर्मों का, सब इच्छाओं का, सब भावों का और सब वृत्तियों का बीज है । अब प्रश्न यह है कि मन कर्म तो करता है,परन्तु उससे सृष्टि का क्या प्रयोजन ? कर्म करने से ही सृष्टि नहीं होती । कर्म किस प्रकार सृष्टि में सहायक है, यह स्पष्ट करना अत्यन्तावश्यक है । कर्म करने के पश्चात् उनके कर्माशय बनते हैं, धार्मिक कर्मों के बाद धर्म रूप और पापकर्मों के बाद अधर्म रूप संस्कार बनते हैं । चित्त में कोई भाव होने से उसके अनुरूप जो स्थितिभाव हो जाता है,उसका नाम ही संस्कार है । ये कर्माशय कुछ दृष्टजन्मवेदनीय और कुछ अदृष्टजन्मवेदनीय होते हैं । वे कर्म जो एक ही जन्म में फल दे देते हैं अर्थात् जिस जन्म में वे कर्म किए जाते हैं, उसी जन्म में फल भी देते हैं वे दृष्टजन्मवेदनीय हैं । परन्तु इनसे भिन्न अदृष्ट-जन्मवेदनीय कर्म एक जन्म में किए जाते हैं और दूसरे जन्म में भोगे जाते हैं । सामान्यत: कर्मों के त्रिविध प्रकार आचार्यों को मान्य हैं-- प्रारब्ध,क्रियमाण और संचित । प्रारब्ध कर्म उन्हें कहते हैं जिन कर्मों ने फल देना प्रारम्भ कर दिया हो । इनसे भिन्न जो कर्म वर्तमानकाल में किए जा रहे हैं । उन कर्मों को क्रियमाण

---

१ 'कर्माकृष्टेर्वाऽनादित:' -- सांख्यसूत्र ३।६२,पृ०१६४

कर्म कहते हैं । ये कर्म ही फल देना प्रारम्भ करने पर प्रारब्ध कहलाते हैं । संचित कर्म उन्हें कहते हैं,जो अतीत में किए जा चुके हों,परन्तु अभी फल देना प्रारम्भ न किया हो । संचित कर्म जन्मजन्मान्तरों तक चलते रहते हैं । अत: यह स्पष्ट है कि कर्म फल अवश्य देते हैं । कर्म कभी निष्फल नहीं हो सकता,चाहे वह इस जन्म में किया गया हो अथवा पूर्व जन्मों में । अत: कर्म सदैव फलदायक होते हैं और जिस प्रकार का कर्म होगा उसी प्रकार का फल भी । यदि हिंसात्मक या पापकर्म है,उस कर्म से तादृश या पापफल ही प्राप्त होगा और पुण्यात्मक कर्मों से पुण्य फल । इस प्रकार इन कर्मों के द्विविध फल हो सकते हैं, परन्तु योगसूत्रकार और उनके अन्य टीकाकारों ने इसके त्रिविध फल स्वीकार किए हैं-- जाति,आयु और भोग । जाति का अर्थ है जन्म अर्थात् पूर्वजन्म के कर्मों के द्वारा ही द्वितीय जन्म का निर्णय होता है, अर्थात् द्वितीय जन्म में प्राप्य शरीर ही जाति है, आयु का अर्थ है-- उस शरीर का स्थितिकाल और भोग का अर्थ है-- उस जन्म में सुखदु:ख की प्राप्ति[1] । विशेषता यह है कि अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मों के ही जाति आदि त्रिविध फल हैं न कि दृष्टजन्यवेदनीय कर्मों के भी । ये कर्म जाति रूप फल नहीं दे सकते, जाति तो दूसरे जन्म में ही सम्भव है अत: ये कर्म भोग और आयु रूप द्विविध फल ही देते हैं ।

इन त्रिविध फलों के भोगने के लिए ही सृष्टि आवश्यक है । सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलयावस्था में प्रकृति और पुरुष सर्वथा असंस्पृष्ट है, अत: सृष्टि के अभाव में महदादि का भी पूर्ण अभाव है,उस अवस्था में जात्यादि फलों को भोगेगा कौन ? कर्म तो महदादि के धर्म हैं, वे ही इनका फल भी प्राप्त करेंगे । अत: फलप्राप्ति के लिए सृष्टि का होना अनिवार्य है । इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्म फलोन्मुख होने पर प्रकृति को[2] सृष्टि करने को बाध्य करते हैं । अत: कर्म ही सृष्टि का कारण है ।

---

१ `सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा:` --योगसूत्र २।१३,पृ०११८

२ `कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत्` -- सांख्यसूत्र ३।५१,पृ०१६०

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म भी सृष्टि का कारण है, परन्तु प्रश्न यह है कि सृष्टि में वैचित्र्य या विभिन्नता क्यों है । इसका भी कारण कर्म ही है । सभी के कर्म भिन्न-भिन्न हैं, धर्माधर्म भेद से । अत: कर्मों के में विचित्रता होने से सृष्टि में भी विचित्रता होना स्वाभाविक ही है, अर्थात् सृष्टि में (जगत् में) कोई दु:खी, कोई सुखी आदि होते हैं । सांख्यसूत्रों में इसे स्पष्ट शब्दों में कहा गया है --

'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ।'[1]

यह अवश्य है कि यदि कर्म सदैव फलदायक है तब तो समाधि भी सम्भव न होगी, क्योंकि मुक्ति के पूर्व किए गए कर्मों के फल भोगने के लिए सृष्टि आवश्यक होगी । इस प्रकार कर्म कभी समाप्त न होंगे और सृष्टि परम्परा चलती रहेगी । यह प्रश्न करना उचित नहीं, क्योंकि सभी दार्शनिक कर्मों का क्रियायोग अभ्यासवैराग्यादि उपायों से दाह या नाश स्वीकार करते हैं । अभ्यासादि के द्वारा क्लेशों का क्षय या चित्तवृत्तियों का उपशम होता है । यह पंचम अध्याय में स्पष्ट किया जायगा । क्लेशों के दग्धबीजभावत्व को प्राप्त हो जाने पर उससे होने वाले कर्मों का दाह तो स्वाभाविक ही है । क्लेश तो कर्मों के मूल ही है, क्लेश होने पर ही कर्म होते हैं और कर्म से ही कर्माशय या संस्कार बनते हैं, अत: चित्त के समाहित होने पर या क्लेशों के तिरोभाव हो जाने पर क्रियमाण कर्मों के अस्तित्व का प्रश्न नहीं उठता, शेष है संचित कर्म । जहां तक संचित कर्मों का प्रश्न है ये भी समाहित चित्त में नहीं रह सकते । असंप्रज्ञात समाधिकाल में चित्त के संस्कारों का भी पूर्ण निरोध हो जाने पर निरोध संस्कार मात्र शेष रहते हैं, अत: संचित कर्मों के संस्कार कहां रहेंगे ? चित्त में उनके लिए स्थान नहीं, इस प्रकार ये कर्म भी दग्धबीजभाव को प्राप्त करके निष्फल हो जाते हैं । प्रारब्ध कर्म ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् तक भी फल देते रहते हैं ।

---

१ सांख्यसूत्र ६।४१, पृ० २५३

प्रारब्ध कर्म के फलभूत जाति, आयु और भोग आदि फलों के सम्पन्न होने के पश्चात् ही समाप्त होते हैं अर्थात् ज्ञान प्राप्त होने पर साधक का चित्त निरुद्ध हो जाता है, परन्तु वह सभी कर्म करता रहता है, यद्यपि उन कर्मों का फल नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उन कर्मों के मूल में क्लेश नहीं । उस अवस्था में उसके सभी कार्य निस्पृह होते हैं, साधक की इस अवस्था को जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं, उसको वस्तुत: जीवित रहने पर भी मोक्ष प्राप्त है और जब तक प्रारब्ध कर्म रहते हैं, उसका भोग करने के लिए उसे शरीरधारण करना पड़ता है और प्रारब्ध समाप्त होते ही शरीर पात होकर मोक्ष या विदेहमुक्ति भी प्राप्त हो जाती है । इसलिए यह आवश्यक नहीं कि कर्म सदैव फलदायक ही हो । यदि फल निष्कामभाव से किया गया है तो वह निष्फल हो सकता है । सांख्ययोगदर्शनों का यही कर्म गीता के निष्काम कर्मयोग के नाम से प्रसिद्ध है । अत: कर्म भी सृष्टि के कारण है । ये ही प्रकृति की सृष्टि करने के लिए बाध्य करते हैं ।

सृष्टि की निवृत्ति

जहां तक संयोग या सृष्टि की निवृत्ति का प्रश्न है, जिस प्रयोजन से सृष्टि होती है, उसके सम्पन्न होने के पश्चात् ही वह निवृत्त हो जाती है अर्थात् पुरुष का भोग और अपवर्ग सम्पन्न होने पर भी संयोग निवृत्त होता है । ज्योंही पुरुष को प्रकृति का दर्शन होता है, या उसे 'अहमन्यो प्रकृतिरन्या' इस प्रकार का ज्ञान होता है, एतादृश विवेकज्ञान से पूर्वाविद्या का निराकरण[1] और तत्पश्चात् अविद्या रूप कारण के अभाव में संयोग भी असंभव। अत: संयोग के अभाव में सृष्टि का अस्तित्व कैसे? इस प्रकार सृष्टि भी निवृत्त

---

1 'दृष्टामयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या । सति संयोगेऽपि तयो: प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ।' --का०६६, पृ०१२७

हो जाती है । अब प्रश्न यह है कि प्रकृति सभी पुरुषों के लिए एक साथ निवृत्त होती है अथवा क्रम से । सांख्ययोग दोनों दार्शनिक प्रकृति की सभी पुरुषों के प्रति एक साथ निवृत्ति को नहीं स्वीकार करते[1] । जहां तक सृष्टि की निवृत्ति का प्रश्न है, जिस पुरुष के सभी भोग और अपवर्ग रूप द्विविध पुरुषार्थ की सिद्धि हो चुकी हो उस पुरुष के प्रति सृष्टि निवृत्त हो जाती है । अर्थात् ऐसे पुरुष को महदादि का दर्शन नहीं होता, परन्तु उससे भिन्न असिद्ध पुरुषों के प्रति सृष्टि उसी प्रकार स्थित रहती है[2] ।

इन्द्रियों की उत्पत्ति

(क) उत्पत्तिविषयक आचार्य कपिल और पतंजलि का मत

इन्द्रियां प्रकृति का ही अवान्तर परिणाम हैं, अत: चित्त या बुद्धि के परिणाम होने के साथ-साथ बुद्धि को बाह्य पदार्थों की ज्ञानप्राप्ति में उनकी सहायता की आवश्यकता है । अत: चित्त या यह कहिए कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इन्द्रियों का बहुत महत्त्व है, इन्द्रियां हैं, यह ज्ञात है परन्तु कौन है, इस विषय में कुछ विवाद है । लगभग सभी दार्शनिक इन्द्रियों के उपादान रूप से अहंकार को स्वीकार करते हैं । सांख्य-सूत्रकार[3] ने इसी तथ्य को स्वीकार किया, परन्तु उनके सूत्र से प्रतीत होता है कि आचार्य किसी मत का खण्डन करके स्वमत की स्थापना कर रहे हैं । किस दार्शनिक के मत का उन्होंने खण्डन किया यह नहीं कहा । हां, विज्ञान-भिक्षु ने प्रस्तुत सूत्र की अवतरणिका में 'परप्रतिपत्तिं निराकरोति' ऐसा

---

१ 'अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य' --सांख्यसूत्र ३।५९, पृ० १६३

२ 'अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्येवोपरागः' --सांख्यसूत्र ३।६६ पृ० १६६

३ 'न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः' --सांख्यसूत्र ५।८४, पृ० २१६

लिखा है । अनिरुद्ध ने भी 'केचित् भौतिकानीन्द्रियाणीति तन्निरस्यति' ऐसा कहा है । जहां तक इन्द्रियों की भौतिकता का प्रश्न है, नैयायिक ही उन्हें भौतिक कहते हैं । उनकी इन्द्रियां भौतिक हैं । यदि प्रत्येक इन्द्रिय पृथक्-पृथक् अप्रकाशक महाभूतों से उत्पन्न हैं, वह प्रकाशक कैसे हो सकती है । उन्हें पंचभूतों की भांति प्रकाश्य होना चाहिए । अत: इन्द्रियां बाह्य विषयों को प्रकाशित कैसे करेंगी । ऐसा प्रतीत होता है कि नैयायिकों के इसी मत के खण्डन करते हुए सांख्यसूत्रकार ने उपर्युक्त सूत्र में इन्द्रियों के अहंकारिकत्व का प्रतिपादन किया ।

शंका होती है कि संसार में विलक्षणता है, इस लोक में विभिन्न प्रकार के प्राणी हैं, अत: उनकी इन्द्रियां भी विलक्षण हैं, अत: इन विभिन्न इन्द्रियों का उपादान कारण भी भिन्न-भिन्न होगा, यह शंका उचित नहीं । इन्द्रियों की भिन्नता होने पर उनके उपादान कारण[1] भी भिन्न हों, यह आवश्यक नहीं । इन्द्रियों का उपादान कारण अस्मिता ही है । हां, यत्र-तत्र इन्द्रियों के भौतिकत्व का कथन हुआ है वह निमित्ताश्रित अर्थात् इन्द्रियों का उपादान कारण पंचभूत नहीं हो सकते, परन्तु निमित्तकारण तो है ही । पंचमहाभूत इन्द्रियों के प्रधान निमित्त कारण है, अत: इस निमित्तता के प्राधान्य के आधार पर ही इन्हें उपादान कारण भी कहा जाता है । अत: इन्द्रियों की उत्पत्ति में पंचभूतों का मूलभूत क्रिया की हेतुता है । इसी कारण भूतों को इन्द्रियों का कारण कहा गया है । वस्तुत: ये आहंकारिक ही हैं[2] । सूत्रकार के इस मत का वृत्तिकारों[3] ने भी समर्थन किया । सांख्यसूत्रकार के समान

---

१ 'न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियम:' --सांख्यसूत्र ५।१०९, पृ० २२६

२ 'निमित्तव्यपदेशात् तद्व्यपदेश:' --सांख्यसूत्र ५।११०, पृ० २२६

३ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० २२६

पतंजलि ने भी इस तथ्य का प्रतिपादन नहीं किया, परन्तु २।१६ सूत्र[1] में प्रतिपादित चार प्रकार के पदार्थों में से प्रथम विशेष में ही एकादशेन्द्रियों का अन्तर्भाव हो जाता है[2]। अत: पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय और मन अस्मिता या अहंकार के ही परिणाम है। अत: इन्द्रियां आहंकारिक हैं। आचार्य व्यास के इस मत का ही अन्याचार्यों ने भी समर्थन किया है[3]।

अत: इन्द्रियां आहंकारिक हैं, यह उपयुक्त है परन्तु अहंकार भी सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों के प्राधान्य के आधार पर त्रिविध होता है[4]। इन तीनों में किस अहंकार से इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं-- इस विषय में आचार्यों में मतभेद है। कुछ आचार्य इन्द्रियों को सात्त्विक अहंकार से और कुछ को राजसाहंकार से उत्पन्न मानते हैं। जहां तक सूत्रकार का प्रश्न है, उन्होंने इन्द्रियों को सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न ही माना है। अर्थात् एकादश इन्द्रियों का सात्त्विक गण वैकृत अहंकार से उत्पन्न होता है[5]। वैकृताहंकार क्या है? यह तो स्पष्ट है, वस्तुत: सात्त्विकाहंकार को ही वैकृत संज्ञा दी गई है[6]। अत: सूत्रकार ने इन्द्रियों के उपादानरूप से सात्त्विकाहंकार को ही स्वीकार किया है[7], परन्तु योगाचार्य ने इसे स्पष्ट करने का कोई प्रयास नहीं किया। हां, कुछ योगवृत्तिकारों ने इसे स्पष्ट किया। वे ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विकाहंकार से, कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति राजसाहंकार से मानते हैं, मन उभयात्मक है, अत: सत्त्व रजस् दोनों ही उसके उपादान रूप से गृहीत हैं।

---

१ योगसूत्र २।१६, पृ०३७७

२ योगभाष्य, पृ०३७८

३ योगवार्तिक, पृ०२०२

४ मार्कण्डेय पुराण, पृ०२६८
श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, पृ०१०६

५ सुवर्णसप्ततिशास्त्र, पृ०३७, माठरवृत्ति, पृ०४२

६ योगतत्त्ववैशारदी, पृ०२००

७ सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्, सांख्यसूत्र२।१८, पृ०१२२।

(ख) सूत्र के वृत्तिकारों का एतद्विषयक मतभेद

सूत्रकार सात्त्विकाहंकार को ही उपादान कारण मानते हैं, परन्तु उनके वृत्तिकारों ने भिन्न मतों को स्वीकार किया है। सूत्रों के आदि वृत्तिकार अनिरुद्ध ने सात्त्विकाहंकार से ही पंच ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन इन सभी की उत्पत्ति स्वीकार की, इस प्रकार सूत्रकार का समर्थन किया है[1]। उन्होंने सूत्र के एकादशकं पद को एकादश गण के अर्थ में ही स्वीकार किया है, परन्तु इनके विपरीत उनके परवर्ती आचार्य विज्ञानभिक्षु ने एकादशकं पद का अर्थ ग्यारहवां इन्द्रिय केवल मन से लिया है। अर्थात् मन ही सात्त्विकाहंकार का कार्य है न कि सभी इन्द्रियां। अतः डट् प्रत्ययान्त एकादशकं पद मनोमात्र का द्योतक है। यदि मन सात्त्विकाहंकार का कार्य है तो इन्द्रियों का उपादान क्या होगा ? राजसाहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दोनों की तथा तामसाहंकार से तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है[2]। आचार्य ने अपने इस मत की पुराणवाक्यों से पुष्टि की है[3]। समष्टिरूप से इन्द्रियां अल्प सत्व वाली होने से राजसाहंकार के कार्य रूप से ही स्वीकृत है, परन्तु स्मृतियों में व्यष्टिरूप से इन्द्रियां अधिक सत्त्ववाली होने से राजसाहंकार के कार्य रूप से कही गई हैं[4]। यही मत विज्ञानभिक्षु को ग्राह्य है। अग्निपुराण[5] में भी मन को सात्त्विक और इन्द्रियों को तैजस् कहा गया है।

----

१ अनिरुद्धवृत्ति, पृ० ५६

२ सांख्यप्रवचनभाष्यं, पृ० १२२

३ श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, पृ० १०६-१०७

४ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० १२२

५ अग्निपुराण, प्रथम खण्ड, पृ० ५८

(ग) कारिकाकार और टीकाकारों का विज्ञानभिक्षु से मतभेद

विज्ञानभिक्षु के उपर्युक्त मत का कारिकाकार ने विरोध किया । कारिका २५ के पूर्वार्द्ध के रूप में उन्होंने सांख्यसूत्र २।१८ को ही स्वीकार किया है । हां कारिका में `सात्विकमेकादशकं` के स्थान पर `सात्विक: एकादशक:` पद का प्रयोग हुआ । हो सकता है कि सांख्य-सूत्रों में एकादशकं पद का प्रयोग पूर्व सूत्र[1] में आए `तत्कार्यम्` पद की अपेक्षा से हो और कारिका में प्रयुक्त एकादशक:पद उसके पूर्व की कारिका[2] में प्रयुक्त `गण:` पद की अपेक्षा से । सूत्र और कारिका में केवल इतना ही अन्तर है परन्तु अर्थ दोनों का समान ही होना चाहिए । एकादशकं पद से मनोमात्र[3] का ही नहीं, वरन् दशेन्द्रियों का भी ग्रहण होना चाहिए । उदासीन ने भी इसी मत का समर्थन किया है । `एकादशकं` शब्द एकादश संख्या परिमितगण का ही वाचक है न कि केवल मन का । यदि यह कहें कि एकादश शब्द में पूरणार्थक डट् प्रत्यय लगाने से `एकादश:` शब्द निष्पन्न हुआ और उसमें पुन: स्वार्थे `क` प्रत्यय लगाकर एकादशक शब्द बना । अत: एकादशक का अर्थ गण न होकर ग्यारहवां इन्द्रिय मन होगा, यह उपयुक्त नहीं । यदि एकादशक पद मनमात्र का वाचक है, मनस् शब्द नपुंसकलिंग में है, अत: कारिका में एकादशक: के स्थान पर एकादशकं का ही प्रयोग होना चाहिए । अत: वस्तुत: एकादशक: पद पूर्व की कारिका में प्रयुक्त गण के ही आधार पर प्रयुक्त हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है कि इसी मत को स्वीकार करते हुए वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रियों के लक्षण में `सात्विकाहंकारोपादानत्वं` पद

---

१ `एकादशपंचतन्मात्रम् तत्कार्यम्`, पृ० १२१, सूत्र २, २७

२ सांख्यकारिका २४, पृ० २३३

३ विद्वत्तोषिणी, पृ० १७७

४ [illegible]

का प्रयोग किया है[1]। इनके पूर्ववर्ती और पश्चाद्भावी सभी टीकाकार इसी मत केपोषक है[2]।

इस प्रकार कारिका के टीकाकारों का मत समान है। तत्त्वकौमुदी के टीकाकार उदासीन ने[3] विज्ञानभिक्षु के मत का खण्डन किया। विज्ञानभिक्षु ने पुराणवाक्यों के आधार पर मन को सात्त्विक और इन्द्रियों को राजस् माना है, परन्तु यह उपयुक्त नहीं। एकादशकं पद का एकादशसंख्यापरिमितगण अर्थ लेना ही अधिक उपयुक्त है न कि केवल मन। हां यह अवश्य है सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक है। अतः उत्कृष्ट सत्त्व प्रधान अहंकार से मन, मध्यम सत्त्वप्रधान अहंकार से ज्ञानेन्द्रियां और निकृष्ट सत्त्वप्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इन एकादशेन्द्रियों में सत्त्व की मात्रा समान नहीं। स्मृति और पुराणों में जो तैजस् से इन्द्रियों की उत्पत्ति का कथन है, वहां मन की अपेक्षा अल्प सत्त्व वाली होने के कारण इन्द्रियां तैजस् कही गई है। साथ ही यदि एक और कुछ पुराण इन्हें राजस सिद्ध करते हैं, कुछ स्कान्द, वायु आदि इसके विपरीत इन्हें सात्त्विक भी कहते हैं[4]। यही वंशीधर, हरिराम शुक्लादि का भी मत है[5]। इन्द्रियां सात्त्विक होने से विषयों को प्रकाशित करती हैं। यदि विज्ञानभिक्षु के मत को ही स्वीकार किया जाय, अर्थात् मन को सात्त्विक और इन्द्रियों को राजस मानें, मन तो सात्त्विक होने से विषय प्रकाशन करेगा, परन्तु ज्ञानेन्द्रियां

----

१ तत्त्वकौमुदी, पृ० २३५

२ गौडपादभाष्य, पृ० २३ , जयमंगला, पृ० ३३, युक्तिदीपिका, पृ० ६८

३ विद्वत्तोषिणी, पृ० १७७

४ स्कान्द पुराण, पृ० ३६, वायु पुराण, पृ० ६८

५ सांख्यतत्त्वविभाकर, पृ० ३४३, 'सुषमा', पृ० १२८

राजस् होते हुए भी कैसे विषयों का प्रकाशन करेंगी ? इन्द्रियों का विषय-प्रकाशन रूप कार्य प्रत्यक्ष सिद्ध है । अत: विषय प्रकाशनकरने के कारण इन्द्रियां भी सात्त्विक हैं । यह तो ठीक है, परन्तु यदि एकादशेन्द्रियों को सात्त्विक ही मानें, सात्त्विक होने से कर्मेन्द्रियों को भी ज्ञानेन्द्रियों की भांति विषय-प्रकाशन करना चाहिए । परन्तु कर्मेन्द्रियां प्रकाशन नहीं करतीं । वस्तुत: सभी इन्द्रियां सात्त्विक हैं, परन्तु सत्त्व की मात्रा की न्यूनता और आधिक्य के अनुसार ही कार्य करती है । कर्मेन्द्रियों में सत्त्व की मात्रा न्यून होने से वे प्रकाशन रूप कार्य में असमर्थ हैं । इस प्रकार कारिकाकार का मत भी अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । पंचदशीकार[१] विद्यारण्य भी ज्ञानेन्द्रियों को सात्त्विक और कर्मेन्द्रियों को राजस ही मानते हैं । सायनमाधव[२] इन्द्रियों को सात्त्विक ही कहते हैं ।

त्रयोदश करणों में बुद्धि का प्राधान्य

(क) करण का स्वरूप और प्रकार --

सांख्यशास्त्र में करणों का विस्तृत विवेचन किया गया है । करण क्या है? यह तो उसकी व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है । 'कृ' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर यह शब्द निष्पन्न हुआ, इसका अर्थ है-- 'करने का साधन' । अर्थात् जो साधकतम है वही करण है 'साधकतमं करणम्' इति हि पाणिनिसूत्रम् । इस प्रकार करण एक कारकविशेष है । कारक होने के लिए करण को किसी-न-किसी क्रिया या कार्य से अन्वित होना आवश्यक है --'क्रियान्वयि कारकमिति हि कारकलक्षणम्' । तत्त्वकौमुदीकार

---

१ पंचदशी -- प्रत्यक् तत्त्वविवेक प्रकरण, पृ० ५८

२ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ६६

को ऐसा ही अभिमत है[1]। अत: यह सिद्ध है कि करण क्रिया और कारक के मध्य का सम्बन्ध है[2]। सप्ततिसूत्रों में करण को पुरुषार्थ के उपाय या साधन रूप से कहा गया है, अर्थात् करण पुरुष के भोग और मोक्ष रूप प्रयोजन को सिद्ध करने में साधन ही नहीं, वरन् साधकतम या करण है[3]। अत: करण भी प्रधान के समान पुरुषार्थ के लिए प्रवृत्त होते हैं। अन्ततोगत्वा करण के सभी अर्थ एक ही लक्ष्य तक पहुंचाते हैं। वह है 'साधन'।

करण संख्या में कितने हैं और कितने प्रकार के होते हैं। ये प्रश्न स्वाभाविक हैं, परन्तु अधिक विवादास्पद नहीं। कुछ आचार्यों का इनकी संख्या के विषय में मतभेद अवश्य है। वार्षगण ११ करण मानते हैं, पंचाधिकरण आदि तान्त्रिक १० ही, पातंजल द्वादश और इन सभी से भिन्न सांख्यसूत्रकार ने त्रयोदश करण स्वीकार किये हैं[4]। इस विषय में अन्याचार्यों का मतैक्य है। यह नहीं समझना चाहिए कि इस विषय में सांख्य और योग इन द्विविध समानतन्त्रों में ही परस्पर विप्रतिपत्ति है। भिन्नता केवल इस बात की है कि सांख्यदार्शनिकों ने करणों की गणना करते समय महत् और मन को पृथक् दो तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया और योगदार्शनिक इन दोनों तत्त्वों को समान या एक मानकर ही द्वादश करण कहते हैं। इन दोनों की समानता के विचार से सांख्याचार्य भी 'मनस्' संज्ञा से ही कथन करते हैं, परन्तु करणों की गणना में इनका पृथक् उल्लेख किया है। आचार्यों ने इनकी संख्या के साथ-साथ इनका नाम से कथन भी किया है[5]। महत्, अहंकार, मन, पंचज्ञानेन्द्रियां और पंचकर्मेन्द्रियां ये ही १३

---

१ 'कारकविशेष: कारणं न च व्यापारावेशं विना कारकत्वमिति व्यापारावेशमाह। का० ३२, पृ० २५७।

२ 'करणमिति क्रियाकारकसम्बन्धधर्मोऽयं निर्देश:' -- युक्तिदीपिका, पृ० ११२

३ पुरुषार्थोपायसाधनसमर्थत्वात्करणमित्यभिधीयन्ते। -सुवर्ण सप्ततिसूत्र, पृ० ४६

४ 'करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात्' -- सांख्यसूत्र २।३८

५ 'महदादि त्रयं पंच बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, पंच कर्मेन्द्रियाणि वागादीनीति त्रयोदशविधं करणम्' -- गौडपाद पृ० ३४।

करण हैं । इनका करण संज्ञा से कथन क्यों होता है? यह तो स्पष्ट ही है । ये सभी करण पुरुषार्थ सम्पादन में साधकतम है[1] ।

करण मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं--

आभ्यन्तर और बाह्य । कौन-कौन अन्त:करण हैं और कौन बाह्य, इनके पृथक कथन की सूत्रकार ने कोई आवश्यकता नहीं समझी, परन्तु वृत्तिकार अनिरुद्ध ने इन्हें स्पष्ट किया । बुद्धि, अहंकार और मन अन्त: करण हैं और दश इन्द्रियां बाह्यकरण[2] । अत: प्रश्न यह है कि करणत्व तो सभी में समान रूप से है, महत्, अहंकार और मन अन्त:करण क्यों कहे जाते हैं । ये त्रिविध करण शरीर के अन्दर स्थित होने के कारण ही, अन्त:करण कहलाते हैं[3] । ये त्रिविध करण बाह्यार्थों का ज्ञान करने में स्वत: समर्थ नहीं[4], अत: ये त्रिविध करण बाह्यार्थ के प्रकाशन के लिए बाह्य करण की अपेक्षा रखते हैं । इनके विपरीत बाह्य करण स्वत: बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध स्थापित करके उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं । अत: पंच कर्मेन्द्रिय और पंच ज्ञानेन्द्रियां बाह्य करण हैं । इन दोनों प्रकार के करणों में भिन्नता यह है कि बाह्य करण वर्तमानकालिक विषयों को ही ग्रहण करते हैं, अर्थात् वर्तमानकाल में जिन पदार्थों से इन इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है, उन्हीं पदार्थों को ज्ञान करने में समर्थ है, परन्तु अन्त:करण तीनों कालों के पदार्थों को अपना विषय बनाते हैं[5] । इस मत का सभी आचार्यों ने समर्थन किया ।

---

१ 'पुरुषार्थाचरण क्रियाया: साधकतमत्वात्तानि करणमित्यभिधीयन्ते'
--सांख्यतत्त्वालोक, पृ० १०

२ 'अवान्तराणि बुद्ध्यहंकारमनांसि । बाह्यानि दश चक्षुरादीनीन्द्रियाणि'
--सांख्यसूत्र २।३८, पृ० ६१

३ 'बुद्धिरहंकार मन:' इति शरीराभ्यन्तरवर्तित्वादन्त:करणम् --तत्त्वकौमुदी, पृ० २६०

४ युक्तिदीपिका, पृ० ११०

५ सांख्यकारिका ३३ गौडपादभाष्य, पृ० ३०

(ख) बाह्य करणों की अपेक्षा अन्त:करणों का प्राधान्य

इन द्विविध करणों में बाह्य करणों की अपेक्षा अन्त:करण ही प्रधान है, क्योंकि बाह्यकरण द्वार है और अन्त:करण द्वारि । बाह्यकरण अन्त:करणों के विषयों को प्रस्तुत करते हैं अर्थात् विषयों के सम्बन्ध में होने वाले संकल्पादि में साधन होने से द्वार कहलाते हैं और त्रिविधान्त:करण उन करणों का अवगाहन करते हैं । अत: द्वारि कहलाते हैं । अत: इन्हीं की प्रधानता है । जिस प्रकार गृह के द्वार गृह में प्रवेश करने के द्वार मात्र हैं, गृह ही प्रधान है, उसी प्रकार १० इन्द्रियां द्वार हैं, अन्त: करणों के ज्ञान कराने के माध्यम मात्र है, प्रधान तो अन्त:करण ही है । अत: ये दश बाह्य करण पदार्थों के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को अन्त:करणों को सौंप देते हैं । अत: बाह्य करणों की अपेक्षा अन्त:करणों का ही प्राधान्य है[१] । आचार्य व्यास भी इन्द्रियों को द्वार या प्रणालिका रूप ही मानते हैं । प्रत्यक्ष के लक्षण में 'इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तुपरागात्' शब्द का प्रयोग इस तथ्य को स्पष्ट करता है । महाभारत में भी शान्तिपर्व में इन्द्रियों को द्वार कहा गया है[२] । शंकराचार्य ने भी बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में इस द्वारद्वारिभाव का समर्थन किया[३] ।

(ग) अन्त:करणों में बुद्धि का प्राधान्य

बाह्य करणों की अपेक्षा अन्त:करण अधिक प्रधान है, परन्तु अन्त:करण समान नहीं, इनमें भी मन की अपेक्षा अहंकार प्रधान, अहंकार की अपेक्षा बुद्धि और अन्ततोगत्वा बुद्धि ही प्रधान है[४] । अर्थात् करणों में गुणप्रधान

१ तत्त्वकौमुदी--कारिका ३५, पृ० २६६ 'द्वारि प्रधानम् ...बुद्धिरिति ।'

२ महाभारत--शान्तिपर्व, पृ० २३४।६

३ बृहदारण्यक भाष्य, पृ० ४।३७

४ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० १३५

भाव आपेक्षिक है[1]। प्रश्न यह है कि जब करणत्व सभी में समानरूप से है, बुद्धि ही क्यों प्रधान है । इस प्रश्न का समाधान सूत्र २।३६ से हो जाता है । `इन्द्रियेषु साधकतमत्वगुणयोगात् कुठारवत्'[2] अर्थात् इन्द्रियों में भी साधकतमत्वरूप गुण विद्यमान होने से ये सभी करण हैं, परन्तु जिस प्रकार वृक्षच्छेदन रूप व्यापार में करणत्व प्रहार का ही है अर्थात् प्रहार के पश्चात् ही यह कार्य होता है । अतः गौण रूप से कुठार को भी करण कहा जाता है । उसी प्रकार सभी करणों में साधकतमत्व गुण होने से सभी को करण कहते हैं, परन्तु साक्षात् साधन होने से बुद्धि ही प्रधान है[3]। बुद्धि का प्राधान्य कारिका ३५ के `सान्त:करणा बुद्धि:' इन पदों से भी स्पष्ट है । जब `सान्त:करणा' पद के ग्रहण मात्र से बुद्धि का भी उसमें अन्तर्भाव हो जाता है तो बुद्धि का पृथक् ग्रहण किस कारण से हुआ । इसका कारण बुद्धि का प्राधान्य ही है । यही युक्तिदीपिकाकार तथा अन्याचार्यों का भी मत है । युक्तिदीपिकाकार ने तो बुद्धि का प्राधान्य एक उदाहरण से स्पष्ट किया है । जिस प्रकार `जगाम तं वनोद्देशं व्यास: सह महर्षिभि: ' इस वाक्य में महर्षि के ग्रहण के साथ ही व्यास का भी उसी में अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु व्यास के प्राधान्य के कारण उनका पृथक् ग्रहण हुआ, उसी प्रकार बुद्धि का भी अन्त:करणों में अन्तर्भाव होने पर भी पृथक् ग्रहण हुआ है[4]। अतः यद्यपि मन और अहंकार की बाह्येन्द्रियों की अपेक्षा प्रधानता है, परन्तु बुद्धि की अपेक्षा ये गौण ही हैं, बुद्धि ही प्रधान है[5]।

~~१ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० १३५~~

१ `आपेक्षिको गुणप्रधानभाव: क्रियाविशेषात्' सांख्यसूत्र २।४५, पृ० १३५

२ `पुरुषार्थस्य प्रयोजकत्वात् तस्य यत्साक्षात्साधनं तत्प्रधानम् । बुद्धिश्चास्य साक्षात्साधनं तस्मात्सैव बुद्धि:' तत्त्वकौमुदी कारिका ३७, पृ० २६८

३ युक्तिदीपिका, पृ० ११६

४ `यस्येन्द्रियापेक्षयाऽहंकारमनसो: प्राधान्यं बुद्ध्यपेक्षया तु तयोरंगत्वमेवेत्युपक्षिपति' विद्वत्तोषिणी — कारिका ३५, पृ० १९६ ।

बुद्धि के प्राधान्य को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने अनेक हेतु दिये हैं । उनके अनुसार बुद्धि का प्राधान्य उसके व्यापक होने से ही सिद्ध है । बुद्धि सभी विषयों में इन्द्रियों या अन्य करणों के माध्यम से व्याप्त होती है । बुद्धि का अध्यवसाय धर्म सभी करणों में अनुस्यूत है तथा बुद्धि में ही सर्वकरण व्यापार का प्राकाश्य पर्यवसित होता है । यह उसकी अव्यभिचारिता है, अर्थात् सभी करणों में व्यापक होने से अथवा फल का व्यभिचार होने से भी बुद्धि ही प्रधान है[१]। इसके अतिरिक्त बुद्धि ही सभी संस्कारों का आधार है । अर्थात् सभी करणों में साधारण होने से बुद्धि ही सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है । अतः ज्ञानजन्य संस्कार उसी में रहते हैं, चक्षुरादि में नहीं । यदि चक्षुरादि को सभी संस्कारों का आधार कहा जाय, यह उपयुक्त नहीं, क्योंकि चक्षुरादि को आधार मानने में अन्धे और बहरे व्यक्ति को भी पूर्वदृष्ट या श्रुत पदार्थों का स्मरण होना चाहिए, परन्तु ऐसा प्रत्यक्षतः असिद्ध है । बुद्धि में ही मन और अहंकार के लय हो जाने पर भी स्मरण रूप कार्य होता है, अतः बुद्धि ही प्रधान है । सभी संस्कारों का आधार होने के कारण बुद्धि की प्रधानता है[२]। चक्षुरादि के संस्कार मानने पर तो नष्टेन्द्रिय व्यक्तियों में संस्कार की उपलब्धि नहीं हो सकती, परन्तु वस्तुतः लोक में नष्टेन्द्रिय प्राणियों में भी संस्कार विद्यमान देखे जाते हैं[३]। आचार्य वंशीधर मिश्र ने भी सूत्रकार के इसी मत का समर्थन किया है[४]।

स्मृति और अनुमान के आधार पर भी बुद्धि का प्राधान्य स्पष्ट कर सकते हैं[५]। चिन्तन रूप वृत्ति के कारण भी बुद्धि की

---

१ 'अव्यभिचारात्' सूत्र २।४१, पृ० १३४

२ 'तथाऽशेष संस्काराधारत्वात्' सांख्यसूत्र २।४२, पृ० १३४

३ 'नष्टेन्द्रियाणामपि संस्कारदर्शनादिति' अनिरुद्धवृत्ति, सूत्र २।४२

४ बुद्धिरेवाखिलसंस्काराधायकतया ऽपि प्राधान्यम्, सांख्यतत्त्वविभाकर, पृ० ४२१

५ 'स्मृत्यानुमानाच्च', सू० २।४३ पृ० १३५

प्रधानता है । चिन्तावृत्ति ही ध्यान शब्द से कही जाती है । चिन्तावृत्ति ही सभी वृत्तियों में श्रेष्ठ है । श्रेष्ठ वृत्ति के आधार रूप से भी बुद्धि की श्रेष्ठता स्पष्ट है[1]। चिन्तन बुद्धि का धर्म है । यह पुरुष का धर्म नहीं हो सकता, पुरुष के कूटस्थ और त्रिगुण होने से बुद्धि ही पुरुष का भोग सम्पादन करती है । बुद्धि स्वयं बाह्यार्थों से सन्निकर्ष नहीं प्राप्त करती, परन्तु इन्द्रियां बाह्यार्थों से सम्बद्ध होकर तज्जन्यज्ञान को मन को, मन उस ज्ञान को अहंकार को और अहंकार उन्हें बुद्धि को सौंपता है । बुद्धि से सभी विषयों का सुखादि पुरुष प्राप्त करता है । अर्थात् पुरुष अविद्यावश बुद्धि के कार्यों को अपने में आरोपित करता है । इस प्रकार बुद्धि के विषयसुखादि को भी भोगता है । इस प्रकार बुद्धि पुरुष के भोग को सम्पादन करती है । इस मत को कारिकाकार ने भी व्यक्त किया[2]। कारिकाकार के इस विचार से लगभग सभी आचार्य सहमत हैं । अतः ये द्वादश करण प्रदीप के समान हैं, यद्यपि ये परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं अर्थात् इनका परस्पर सहकारित्व असम्भव सा प्रतीत होता है, परन्तु पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए ये परस्पर सहकारित्व को प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार बत्ती, तेल और अग्नि अन्धकार को दूर करने के लिए परस्पर मिलकर दीपक का रूप धारण कर रूप का प्रकाशन करते हैं । इसी प्रकार बुद्धि विषयों के सम्बन्ध से होने वाले पुरुष के भोग को सम्पादित करती है[3]।

पुरुष के भोग के साथ-ही-साथ बुद्धि पुरुष की मोक्ष सम्पादिका भी है । यदि बुद्धि सदैव भोग ही सम्पन्न करे, तो बुद्धि के

---

१ सांख्यप्रवचनभाष्य, सूत्र २।४२, पृ० १३५

२ 'एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ।।' कारिका३६, पृ० २६६

३ सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः । कारिका३७, पृ० २६७

सत् होने से उसका नाश या अन्त असम्भव है । बुद्धि के अन्त के अभाव में बुद्धि का भोग रूप कार्य भी नित्य होगा । अत: मोक्ष कभी सम्भव न होगा, परन्तु मोक्षप्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है, भोग के पश्चात् बुद्धि प्रकृतिपुरुष विवेकज्ञान प्राप्त करती है । ज्ञान बुद्धि का धर्म है अत: प्रकृति और पुरुष के पृथक्त्व का ज्ञान भी बुद्धि को ही होता है अर्थात् 'प्रधानं सविकारमन्यदहमन्य:' एतादृश विवेकज्ञान होताहै । इस ज्ञान के उदय होने पर ही मोक्ष सम्भवहै । जिज्ञासाहोती है कि बुद्धि को ज्ञान यदि उत्पन्न होता है तो उस उत्पाद्य या अनित्य ज्ञान से उत्पन्न मोक्ष भी अनित्य होगा । अत:मोक्ष के पश्चात् पुनर्संसरण भी हो सकता है । इस शंका के निवारणार्थ तत्त्वकौमुदीकार ने कहा है कि विवेकज्ञान उत्पन्न नहीं होता । वस्तुत: यह पूर्व से ही विद्यमान है, परन्तु अज्ञान के कारण अविद्यमान सा प्रतीत होता है । अत: इस अव्यक्त या अज्ञानावृत ज्ञान को बुद्धि प्रकट करती है न कि उत्पन्न करती । जब यह ज्ञान ही उत्पाद्य या अनित्य नहीं तज्जन्य मोक्ष भी अनित्य न होगा । अत: बुद्धि पुरुष का भोग और मोक्ष सम्पादन करती है । सभी सांख्याचार्य इस मत से सहमत हैं[1] । अत: अन्ततोगत्वा उपर्युक्त हेतुओं से सिद्ध है कि सभी करणों में करणत्व समानरूप से होने पर भी बुद्धि ही मुख्य करण है,जैसे लोक में राजा के अनेक सैनिकों का सहयोग होने पर भी मन्त्री की ही प्रधानता होती है । इसी दृष्टान्त के आधार पर सूत्रकार ने २।४७ सूत्र के उपसंहार रूप से बुद्धि के प्राधान्य को स्पष्ट किया है ।

योगसूत्रकार इस विषय में सर्वथा मूक ही हैं, परन्तु भाष्यकार व्यास ने २।१७ सूत्र के भाष्य में इसे युक्तित: स्पष्ट किया है[2] ।

---

१ सांख्यचन्द्रिका, का० ३७

२ व्यासभाष्य, पृ०३६२

विज्ञानभिक्षु ने भी बुद्धि और पुरुष के इस स्वस्वामिभाव पर प्रकाश डाला है । लोहशलाका के समान चित्त सभी विषयों को अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ सन्निधिमात्र से दृश्यत्व रूप से उपकार करते हुए व पुरुष रूप व स्वामी का स्व होता है, पुरुष का भोग का साधन होने से । अतः बुद्धि ही श्रेष्ठ है, वही सभी करणों के विषयों को पुरुष तक प्रस्तुत करती है[1] । इस प्रकार बाह्यकरण (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय) अन्तःकरण मन और अहंकार इन द्वादश करणों की अपेक्षा बुद्धि की ही प्रधानता है, जैसे संसार में अनेक भृत्यों में कोई एक ही स्वामी या प्रधान होता है[2] ।

-0-

---

१ योगभाष्य ,पृ०३५

२ 'द्वयोः प्राधान्यं मनो लोकवत् भृत्यवर्गेषु' सांख्यसूत्र २।४०,पृ०१३४

तृतीय अध्याय
-0-

त्रयोदश करणों के कार्य

त्रयोदश करणों के सामान्य व्यापार

(क) करणों की सामान्यवृत्तिविषयक आचार्यों का विचार

(ख) वृत्तिकारों के अनुसार पंचवायु अन्तःकरण मात्र की वृत्ति

(ग) अन्याचार्यों के अनुसार पंचवायु करणसामान्य की वृत्ति

त्रयोदश करणों के असमान व्यापार

(क) पंचज्ञानेन्द्रियों के असमान कार्य

(ख) पंचकर्मेन्द्रियों के असमान कार्य

(ग) महदहंकार और मन के असमान कार्य

करणों के युगपद् और क्रमिक व्यापार

(क) युगपद्वृत्तिविषयक सूत्रकार और अनिरुद्ध के मत

(ख) विज्ञानभिक्षु द्वारा अनिरुद्ध का खण्डन और स्वमतस्थापन

(ग) अन्याचार्यों का एतद्विषयक मत

(घ) दृष्टादृष्ट विषयों में करणों की द्विविध वृत्ति

(ङ०)करण व्यापारों का आश्रय

करणों के अन्य कार्य और विषय

(क) करणों की वृत्तियां आहरण धारणादि

(ख) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विशेषाविशेष विषय

(ग) त्रयोदश करणों के त्रिविध विषय

(घ) महत् के कार्य धर्माधर्मादि

(ङ०)प्रमाणों में करणों का व्यापार

(च) समाधि,सुषुप्ति और मोक्षावस्था में चित्त के व्यापार

-0-

तृतीय अध्याय

-o-

त्रयोदश करणों के कार्य

त्रयोदश करणों के सामान्य व्यापार

(क) करणों की सामान्यवृत्ति विषयक आचार्यों का विचार

अद्यतन सांख्य योगदर्शनों को मान्य विविध तत्त्वों का उद्देश्य और लक्षण हुआ, साथ ही उनका सृष्टि का क्रम और कारणादि पर भी विचार हुआ । अब विविध करणों के विभिन्न व्यापारों पर विचार किया जायगा । जहां तक करणों का प्रश्न है, सभी करणों की अवश्य ही कोई-न-कोई क्रिया होगी । बिना क्रिया के ये करण, करण कहलाने के अधिकारी नहीं हैं । कार्य के प्रमुख साधन को ही करण कहते हैं । अत: इन करणों का भी कोई-न-कोई व्यापार अवश्य होगा । त्रयोदश करणों के कार्यों के विषय में कोई मतभेद नहीं है । सभी आचार्य इनके चतुर्विध व्यापार स्वीकार करते हैं-- सामान्य, असामान्य, युगपद् और क्रमिक । इनका उल्लेख करते हुए जयमंगलाकार ने लिखा है -- 'एषां च बुद्ध्यादीनां त्रयोदशानां चतुर्विधा: वृत्ति: सामान्यासामान्ययुगपत्क्रमशश्चेति' सर्वप्रथम करणों के सामान्य व्यापार का प्रसंग है । इस विषय में सांख्यसूत्रकार की षडध्यायी में 'सामान्यकरणवृत्ति: प्राणाद्या: वायव: पंच' में करणों की सामान्य वृत्तियां पंचप्राणों को ही माना है । इसमें 'सामान्यकरणवृत्ति:' इस पद का 'करणानां सामान्या वृत्ति:' यह विग्रह करने से यह स्पष्ट है कि प्राणादि इन त्रयोदश करणों के व्यापार हैं ।

योगसूत्रकार पतंजलि ने इस विषय में कोई मत नहीं दिया । हां योगसूत्रों के विविध भाष्यकारों के विविध मत हैं, परन्तु अधिकतर आचार्य प्राणों को त्रिविधान्त:करणमात्र की वृत्ति मानते हैं । योगवार्तिक[1] में विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्य सूत्रकार के मत का समर्थन किया ।

(ख) वृत्तिकारों के अनुसार पंचवायु अन्त:करण मात्र की वृत्ति

सूत्रकार के विपरीत वृत्तिकार अनिरुद्ध ने 'पंच प्राणाद्या: वायवस्त्रिभि: करणैर्धार्यन्ते' लिखकर प्राणादि को अन्त: - करणों की ही वृत्ति रूप से स्वीकार किया है । इनके पश्चाद्भावी विज्ञान-भिक्षु ने भी 'प्राणादिरूपा: पंच वायुवत् संचारात् वायवो ये प्रसिद्धास्ते सामान्या साधारणी करणस्यान्त: करण त्रयस्य वृत्ति: परिणाम भेदा इत्यर्थ:' कहकर उनका ही समर्थन किया है । कारिकाकार श्री ईश्वरकृष्ण ने का०२९ के उत्तरार्द्ध के रूप में सांख्यसूत्र २।३१ को उसी प्रकार उद्धृत किया, परन्तु कारिका के पूर्वार्द्ध में उन्होंने तीनों अन्त:करणों की असामान्य वृत्तियों का उल्लेख किया है । इससे ज्ञात है कि प्रसंगानुसार वह प्राणों को अन्त:करणमात्र की वृत्ति[2] मानते हैं, इन्द्रियों का तो वहाँ प्रसंग ही नहीं । इनके टीकाकार वाचस्पतिमिश्र ने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में कारिका २९ की कारिकानुसारी व्याख्या करके प्राणादि को तीनों अन्त:करणों की वृत्ति रूप में प्रस्तुत किया ।अत: ये अन्त:करणों का ही व्यापार है । अन्त:करणों के रहने पर[3] ये रहते हैं और न रहने पर नहीं रहते । तत्त्वकौमुदी के टीका-कार बलराम,हरिरामशुक्ल ने भी तत्त्वकौमुदी का ही समर्थन किया है ।

----

१ 'अत्रेन्द्रियशब्देन स्थूलसूक्ष्मोभयपरतया करणमात्रग्रहणम् । समस्तशब्दोऽपि सामान्यवचन: सामान्यकरणवृत्ति: प्राणाद्या वायव: पंच इति सांख्ये दर्शनात् ।' -- योगवार्तिक, पृ०३५७

(ग) अन्याचार्यों के अनुसार पंचवायु करणसामान्य की वृत्ति

उपर्युक्त आचार्यों से भिन्न युक्तिदीपिकाकार तो प्राणों को त्रयोदश करणों की सामान्यवृत्ति के रूप में ही स्वीकार करते हैं[1]। इनके पश्चात् अधिकतर टीकाकारों में गौडपाद[2] और नारायणतीर्थादि भी युक्तिदीपिकाकार का समर्थन करते हैं। त्रयोदश करणों के रहने पर ही प्राणादि का अस्तित्व है, अतः ये करणसामान्य की वृत्ति है। जयमंगलाकार ने भी 'एते त्रयोदशानामपि करणानां सामान्यवृत्तिः' लिखकर अपना मतैक्य प्रदर्शित किया है। अतः यह विषय अत्यन्त विवादास्पद है। सूत्र के अनुसार प्राणादि को वस्तुतः त्रयोदशकरणों की सामान्य वृत्ति ही मानना चाहिए, क्योंकि करण के अन्तर्गत बाह्य और अन्तः इन द्विविध करणों का अन्तर्भाव हो जाता है[3]। सुवर्णसप्ततिशास्त्र भी इसी को व्यक्त करता है। आचार्य व्यास ने इसी मत का समर्थन किया है[4]। उन्होंने प्राणादि को इन्द्रियों की वृत्ति बताया है। योगसिद्धान्तचन्द्रिका में नारायणतीर्थ ने भी व्यास के समान प्राणों को त्रयोदश करणों या करणसामान्य की वृत्ति कहा है[5], परन्तु पंचप्राणों को त्रयोदशकरणों की वृत्ति मानना उपयुक्त नहीं। यदि ये समस्त करणों की वृत्ति हैं तो सभी

---

१ सामान्या चासौ करणवृत्तिः सामान्यकरणवृत्तिः प्राणश्चाद्यो येषां ते प्राणाद्याः प्राणापानसमानोदानव्यानाः पंच समस्तकरणवृत्तिः प्रत्यवगन्तव्येति ।' --युक्तिदीपिका, पृ० ८०५ ।

२ 'सामान्येन करणानां वृत्तिः प्राणाद्याः वायवः पंच...... वायवः सामान्यकरणवृत्तिरिति व्याख्याता, त्रयोविधस्यापि करणसामान्यवृत्तिरित्यर्थः ।' -- गौडपादभाष्य, पृ० २७

३ सुवर्णसप्ततिशास्त्र, पृ०४३

४ समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणां जीवनम्' व्यासभाष्य ३।३९ सूत्र पृ० ६६६

५ योगचन्द्रिका, पृ०१३४ ।

या त्रयोदशकरणों के रहने पर ही इनका अस्तित्व सम्भव है, परन्तु जिस पुरुष में ये सभी करण नहीं हैं अर्थात् यदि कोई अन्धा या बधिर है अथवा उसमें चक्षु या कर्णेन्द्रिय का अभाव है, उस अवस्था में भी उसमें प्राणादि तो रहते ही हैं । यदि प्राणादि का अभाव है तो अन्धे आदि का जीवित रहना भी असम्भव हो जायगा । अत: ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणादि उनमें कुछ बाह्य करणों के अभाव में भी रहते हैं । अत: प्राणादि सभी बाह्य और अन्त:करणों का व्यापार नहीं, वरन् अन्त:करणमात्र का ही व्यापार है, क्योंकि त्रिविधान्त:करणों में से किसी एक का भी अभाव हो जाने पर प्राणादि का अस्तित्व असम्भव हो जाता है, अत: वस्तुत: प्राणादि अन्त: - करणमात्र के व्यापार ही प्रतीत होते हैं । बाह्यकरण अन्त:करणों के द्वार हैं, अत: ऐसा प्रतीत होता है कि द्वार होने के कारण कुछ आचार्यों ने प्राणादि को सभी करणों की वृत्ति रूप से स्वीकार किया है ।

जहाँ तक प्राणादि पंच के स्वरूप का प्रश्न है सभी का विचार समान ही है । सभी आचार्य प्राणों को वायुरूप ही मानते हैं । विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि वायुरूप महाभूत के समान वायु नहीं, परन्तु ये सम्पूर्ण शरीर में वायु के समान संचार करते हैं, इसलिए इन्हें वायु संज्ञा से कहा गया है । विज्ञानभिक्षु का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता । प्राणादि की वायुरूपता तो प्रत्यक्ष सिद्ध है । अत: इन्हें वस्तुत: वायु ही मानना होगा । हाँ, इनके समान उदानादि भिन्न नाम उनके भिन्न-भिन्न कार्यों के कारण दिये गये । अत: ये प्राणवायु, समान वायु रूप से विभिन्न कार्यों के कारण कहे जाते हैं । पंचवायु के द्वारा देहधारण रूप क्रिया की सिद्धि होती है[1] । अत: वायु जीवन धारण करने का साधन है, अतएव कुछ

---

1 सांख्यतत्त्वालोक, पृ० २६

आचार्यों ने कारण और कार्य के अभेद की दृष्टि से वायु को जीवनयोनि-प्रयत्नरूपा या जीवन ही कहा है[1]। तत्त्वकौमुदी में आचार्य वाचस्पति ने 'वायवो जीवनं वृत्तिः' ऐसा उल्लेख किया है । युक्तिदीपिका में द्विविध वायु का वर्णन हुआ है, अन्तर्वृत्त्यः (अन्तरंगों हृदयादि में रहने वाली) और बहिर्वृत्त्यः (बाह्यांगों--हस्तपादादि में रहने वाली) । योगवासिष्ठ में प्राणादि को मन की गति कहा गया है, यह उपर्युक्त ही है ।

प्राणों की संख्या के विषय में कोई मतभेद नहीं है । सभी आचार्य पांच ही वायु स्वीकार करते हैं-- प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान । परन्तु इनसे भिन्न महाभारत, स्कान्धपुराणादि[2] में कुछ स्थलों पर पंचप्राणों का और कुछ स्थान पर सात वायु का उल्लेख हुआ । उनके नाम भी भिन्न-भिन्न हैं-- प्रवह, आवह, उद्वह, संवह, विवह, परिवह और परावह । इन सप्तवायु की स्थिति खगोल में बताई गई है । इनमें से कुछ जैसे प्रवह मेघमंडल में, कुछ आवह सूर्यमंडल में और कुछ नक्षत्रमंडल तथा चन्द्रमंडल में रहती हैं । अतः यह तो स्पष्ट है कि ये प्राणादि से भिन्न हैं । प्राणादिक का इन वायु से मिश्रण करना उचित नहीं । कपिलादि आचार्यों को पंचप्राण ही अभिमत है । सांख्यसूत्रकार[3] ने सूत्र २।३१ में 'पंच' शब्द का प्रयोग करके अपनी स्वीकृति दी है । कारिकाकार और अन्य टीकाकारों को भी यही अभीष्ट है ।

अब प्रश्न यह है कि प्राण की स्थिति कहां है? सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि प्राणवायु मुखनासिकान्तर्वर्ती,

---

१ सांख्यतत्त्वालोक, पृ० २२

२ महाभारत --शान्तिपर्व- मोक्षधर्मपर्व, पृ० ६६०, स्कान्दपुराण-माहेश्वर खंड, पृ० १५०

३ सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्याः वायवः पंच । सांख्यसूत्र २।३१, पृ० १२८

अपान मलमूत्रेन्द्रिय पीठपादादि में रहने वाली, समान मध्यप्रदेश (नाभि) आदि में रहने वाली, उदान नाभिदेशमस्तकान्तर्वर्ती और व्यान आकाश के समान शरीर व्याप्य चमड़ों में रहता है। युक्तिदीपिका, तत्त्वकौमुदी और व्यासभाष्य में भी ऐसा ही वर्णन है[1]।

जहां तक प्राण की क्रियाओं का प्रश्न है, पंच प्राणों की भिन्न-भिन्न या अपनी विशिष्ट क्रियाएं या कार्य हैं। प्राण वायु अन्नाशनादि के द्वारा शरीर का धारण करती है। अपान मलमूत्रादि का अपनयन करती है। समानवायु से रसों का नाड़ियों में समानरूप से या अनुकूल मात्रा में संचरण होता है, उदानवायु से रसादि का ऊपर के अंगों में संचार होता है। व्यान वायु बलवान कर्म का कारण है[2]। इन्हीं परस्पर भिन्न कर्मों के कारण वायु के उपर्युक्त पांच भेद किए गए। प्राणों की क्रियाओं का पुराणादि में कोटिशः उल्लेख हुआ है[3]। ज्योतिष्मती[4] में पंचप्राणों के कार्यों का वर्णन हुआ है। डा० रामकृष्ण भट्टाचार्य ने उपनिषदों के तद्विषयक मंत्रों को भी उद्धृत किया है। प्राण का लक्षण करते हुए वे कहते हैं-- 'बाह्योद्भवबोधाधिष्ठानधारणं प्राणकार्यम्' बाह्य उद्भव का ज्ञान प्राप्त करना ही प्राण का कार्य है। 'मलापनयनशक्त्यधिष्ठानधारणम् अपानकार्यम्' मलापनयनादि की शक्ति से युक्त होना अपान का कार्य है। 'देहोपादाननिर्माणशक्त्यधिष्ठान-धारणं समानकार्यम्' देह के उपादान निर्माणादि शक्ति से युक्त होना समान

----

१ युक्तिदीपिका, पृ० १०६, तत्त्वकौमुदी, पृ० २४८, व्यासभाष्य, पृ० ६७१

२ सारबोधिनी, पृ० ३६३

३ स्कान्दपुराण, पृ० ३८, माठरवृत्ति, पृ० ४६

४ ज्योतिष्मती, पृ० २६८

का कार्य है । 'शारीरधातुगतबोधाधिष्ठानधारणमुदानकार्यम्' शरीरधातु में स्थित होकर ज्ञान प्राप्त करना उदान का कार्य है । पंचम और अंतिम है व्यान । 'चालकशक्त्यधिष्ठानधारणं व्यानकार्यम्' व्यान वायु ही चालन प्रसारणादि कर्मों का कारण है । अत: संक्षेप में ये ही पंचप्राणों के कार्य हैं ।

त्रयोदश करणों के असमान व्यापार

(क) पंचज्ञानेन्द्रियों के असमान कार्य

करणों के समान व्यापारों का ऊपर विवेचन किया जा चुका है । जहां तक असमान व्यापारों का प्रसंग है, सर्वप्रथम असमान व्यापार के अर्थ को समझना अनिवार्य है-- जो समान न हो अर्थात् जो वृत्ति इन सभी करणों की न हो या जिस कार्य को कोई एक करण करता हो और अन्य करण किसी अन्य कार्य को ही करता हो । अत: इस स्थान पर असमान कार्य का अर्थ है प्रत्येक करणका अपना विशिष्ट कर्म । जिसके आधार पर प्रत्येक करण को अन्य से व्यावृत्त किया जा सके और ऐसे व्यापार वस्तुत: इनके लक्षण ही होंगे । ज्ञानेन्द्रियां प्रतिनियतविषयक और कर्मेन्द्रियां प्रतिनियतकर्म वाली हैं । युक्तिदीपिकाकार ने तो यहां तक कहा है कि इन करणों का जो लक्षण है वही इनका कार्य है अर्थात् वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद है[1] । लगभग इसी मत का समर्थन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने २६ वीं कारिका की टीका में 'रूपग्रहणलिंग चक्षुः, शब्द ग्रहण लिंगं श्रोत्रम्, गन्धग्रहण लिंगं रसनम्, स्पर्शग्रहण लिंगं त्वक् इति ज्ञानेन्द्रियाणां संज्ञा ।' ऐसा लिखा है[2] । अर्थात् रूप ग्रहण करने के करण या साधन को चक्षु कहते हैं ।

---

१ युक्तिदीपिका, पृ० २६

२ तत्त्वकौमुदी, पृ० २८

यह चक्षुरिन्द्रिय का लक्षण है और रूपग्रहण करना ही उसका कार्य भी ।
इस प्रकार रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध अन्य चारों ज्ञानेन्द्रियों के नियत कार्य है ।
अत: रूपादि विषयों में आलोचन ही बुद्धीन्द्रियों का व्यापार है । आलोचन
क्या है ? इस विषय में सभी आचार्यों ने अपना विचार व्यक्त किया है ।
वाचस्पति मिश्र ने `बुद्धीन्द्रियाणां सम्मुग्धवस्तुदर्शनमालोचनमुक्तम्` इस प्रकार
कहा है, अर्थात् वस्तु का अस्पष्ट ज्ञान ही आलोचन है । युक्तिदीपिकाकार ने
भी `आलोचनं ग्रहणमित्यनर्थान्तर` कहकर इसको स्पष्ट किया है । सांख्यतत्त्वा-
लोक में आरण्यक ने कुछ विशिष्ट अर्थ लिया है । `आलोचनं हि एकैनेवेन्द्रियेण
एकदा गृह्यमाणविषयस्यात्यात्मक` अर्थात् एक ही इन्द्रिय के द्वारा एक बार
में ग्रहण किया गया विषय का ज्ञान ही आलोचन है । ये बुद्धीन्द्रियों का
व्यापार है । योगसूत्रों के व्याख्याकारों ने भी ज्ञानेन्द्रियों के रूपादि कार्यों
पर प्रकाश डाला है । आचार्य भोज ने भी लिखा है, `चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां
स्वविषयो रूपादिकत्तेन सम्प्रयोगस्तदभिमुख्येन वर्तनं ......`[1] । नारायणतीर्थ
ने योगचन्द्रिका में इन्द्रियों की द्विविध प्रवृत्ति का उल्लेख किया है[2] ।

(ख) पंच कर्मेन्द्रियों के असमान कार्य

बुद्धीन्द्रियों के समान वचनादानविहरणोत्सर्ग
और आनन्द क्रमश: पंच कर्मेन्द्रियों के असमान कार्य हैं । सांख्यसूत्रों में सूत्रकार
ने `रूपादिरसमलान्त: उभयो:` लिखकर इन्द्रियों के नियत कार्यों को स्पष्ट
किया है । प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति में अनिरुद्ध ने भी इन्हें स्पष्ट किया है[3] ।

---

१ योगसूत्र राजमार्तण्डवृत्ति, सूत्र २।५४, पृ० ३८

२ द्वयी खल्विन्द्रियाणां प्रवृत्ति: बाह्या आभ्यन्तरी च । आद्या आलोचनरूपा।
अन्त्या जीवनयोनिप्रयत्नरूपा सर्वकरणसाधारणी--नारायणतीर्थकृत
सूत्रार्थबोधिनी, पृ० ४४।

३ अनिरुद्धवृत्ति--, पृ० ५८

विज्ञानभिक्षु भी इनका समर्थन करते हैं। कारिकाकार ने कारिका २८ में द्विविध इन्द्रियों की वृत्तियों का उल्लेख किया है।

(ग) महदहंकार और मन के असमान कार्य

उपर्युक्त दश इन्द्रियों के अतिरिक्त महदहंकार और मन के क्या नियत कार्य हैं? यह इस शोधप्रबन्ध के प्रथम अध्याय में ही इनके लक्षण के प्रसंग में स्पष्ट हो चुका है। अत: पुन: इनका ग्रहण करना पिष्टपेषण मात्र होगा। इनके लक्षण ही इनके असमान कार्य हैं। यह कारिका २९ से ही ज्ञात है[1]। अत: महत् का कार्य निश्चय अहंकार का अभिमान और मन का कार्य है संकल्प करना[2]।

करणों के युगपद् और क्रमिक व्यापार

(क) युगपद्वृत्तिविषयक सूत्रकार और अनिरुद्ध के मत

अत: करणों के द्विविध व्यापार --समान और असमान का विवेचन हो गया। अब शेष हैं— युगपद् और क्रमिक। इन द्विविध व्यापारों के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ आचार्य इन द्विविध व्यापारों को स्वीकार करते हैं और कुछ एक ही। सांख्यसूत्रकार द्विविध कार्य मानते हैं। 'क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्ति:' अर्थात् इन्द्रियों की वृत्ति क्रम से और युगपद् दोनों ही प्रकारों की होती है[3]। परन्तु इनसे भिन्न अनिरुद्ध ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए इन्द्रियों के साथ-साथ बुद्धि और अहंकार मन का भी ग्रहण किया। अत: उनके मतानुसार

---

१ 'स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या', का० २९, पृ० २४८

२ तत्त्वकौमुदी, पृ० २४८

३ 'क्रमशश्च यथा.... एकदा वृत्ति:।', सूत्र २।३२, पृ० ५६

व त्रयोदशकरणों की द्विविध वृत्ति होती है । इस प्रकार उन्होंने इन द्विविध वृत्तियों को उदाहरण सहित स्पष्ट किया है । वृत्ति में उन्होंने 'चतुर्णाम्' पद का प्रयोग किया है । 'चतुर्णाम्' के अन्तर्गत मन, अहंकार और बुद्धि इन त्रिविधान्त: करणों का और इन्द्रिय रूप बाह्य करण इन चारों का अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इन्हीं चारों का क्रमश: वृत्ति के व्याख्यान में उल्लेख हुआ है । इस प्रकार इन चतुर्विध करणों की मूलप्रतिपाद्यरूप से युगपद्वृत्ति की व्याख्या करने पर भी अन्त में वे 'वृत्तीनामेकदाऽसम्भवात्तत्रापि क्रम एव, तथाप्युत्पलव्यतिभेदवदवभासनादक्रम इत्युक्तमिति' कहकर युगपद् व्यापार की असम्भाव्यता को स्पष्ट करते हैं । वे सूत्र प्रतिपाद्यार्थ का औचित्य प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि व्याघ्रादि के दर्शनकालमें भी करणों की क्रमश: वृत्ति ही होती है, युगपत् होना असम्भव है । परन्तु इन करणों के व्यापारों में अत्यल्प व्यवधान होने के कारण उनकी क्रमिकता स्पष्ट नहीं होती, जिस प्रकार कि कमल के सैकड़ों पत्तों के क्रम से सुई द्वारा विद्ध होने पर भी समय व्यवधान के अत्यल्प होने से उस क्रमिकता की प्रतीति नहीं होती ।

(ख) विज्ञानभिक्षु द्वारा अनिरुद्ध का खण्डन और स्वमतस्थापन

विज्ञानभिक्षु अनिरुद्धकृत उपर्युक्त व्याख्या का खण्डन करते हैं[1] । सूत्र २।३२ में इन्द्रियमात्र की वृत्ति का प्रसंग है न कि बुद्धि और अहंकार का । अनिरुद्ध ने जो त्रयोदशकरणों की वृत्तियों का विवेचन किया वह तो अप्रासंगिक है । विज्ञानभिक्षु का यह कथन उपयुक्त ही है, क्योंकि सूत्र में इन्द्रिय का शब्दत: कथन है तथा नैयायिकाभिमत मन के अणुत्व का खण्डन करने के लिए इन्द्रियों के द्विविध व्यापारों का यहां कथन हुआ ।

---

१ 'स: (अनिरुद्ध:) एव .... न तु काकदन्तान्वेषणपरत्वमिति ।'

—सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० १३०

मन को अणु मानने से उसका युगपत् समस्तेन्द्रियों से सम्बन्ध होना असम्भव है । अत: नैयायिक इन्द्रियों का कृमिक व्यापार ही मानते हैं, परन्तु सांख्यशास्त्र में ऐसा कोई बाधक नहीं । इसमें इन्द्रियवृत्तियों का यौगपद्य सम्भव है । क्योंकि सांख्यानुसार मन तो मध्यम परिमाण वाला है । अत: यहां नैयायिक मत खण्डनार्थ इन्द्रियों की वृत्ति का कथन ही पर्याप्त और प्रासंगिक है तथा उसमें स्वगत (मन के मध्यमपरिणामत्व) की स्थापना भी हो जाती है । अत: यहां महदादि का प्रसंग ही नहीं ।

(ग) अन्याचार्यों का एतद्विषयक मत

करणों की वृत्तियों के कृमिकत्व और यौगपद्य के विषय में सूत्र के वृत्तिकार, कारिकाकार और अन्य टीकाकारों की भी विप्रतिपत्ति है । मुख्यत: इनके द्विविध विचार प्रसिद्ध हैं । कुछ कृमिक व्यापार ही मानते हैं और कुछ कृमिकाकृमिक दोनों ही स्वीकार करते हैं । ईश्वरकृष्ण की ३०वीं कारिका से यह स्पष्ट है कि वह बाह्यकरण, मन, अहंकार और बुद्धि इन चारों करणों की द्विविध वृत्तियों को स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार इन करणों की प्रत्यक्ष पदार्थ और परोक्षपदार्थ दोनों के विषय में द्विविध वृत्तियां होती हैं, परन्तु कारिकाओं के सर्वप्रथम टीकाकार माठर ने युगपद्वृत्ति को असम्भव सा बताया है । वे और युक्तिदीपिकाकार दोनों ही दृष्ट और अदृष्ट दोनों विषयों में करणों की कृमिक वृत्ति ही मानते हैं । माठर युगपत् व्यापार का खण्डन करते हुए कहते हैं--'ह्रस्वकालत्वात् विभागो न शक्यते वक्तुं ततो युगपदित्युच्यते' अर्थात् अत्यन्तह्रस्व काल का व्यवधान होने से वृत्तियों के युगपत् व्यापार की प्रतीति होती है । वस्तुत: व्यापार क्रमश: ही होते हैं । युक्तिदीपिका की 'मेघस्तनितादिषु क्रमानुगतेर्युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिरित्येतदयुक्तम्' पंक्तियों से भी यह स्पष्ट है । दृष्ट

पदार्थ में करणों की युगपद्वृत्ति मानें तो वह सर्वथा असम्भव है, क्योंकि श्रोत्रादि इन्द्रियों के वैयर्थ्य का प्रसंग होने से और अन्त: करणों और बाह्य करणों के द्वारद्वारिभाव के व्याघात का प्रसंग होने से अन्त:करण साक्षात् विषयों को ग्रहण नहीं करते। इसलिए सर्वप्रथम इन्द्रियों का बाह्यार्थ से सम्बन्ध होता है। तत्पश्चात् इन्द्रियाँ तदाकाराकारित होती है। तब मन द्वारा संकल्प अहंकार से अभिमान और बुद्धि के द्वारा निश्चय होता है। अतःअंत:करणों का व्यापार क्रमश: ही होता है। अदृष्ट पदार्थों में भी अन्त:करणों की वृत्ति बाह्येन्द्रियपूर्वक क्रम से ही होती है[1]। परोक्ष पदार्थ से इन्द्रियों का सम्बन्ध न होने पर भी उसके अनुमान, आगम या स्मृति में प्रत्यक्ष ज्ञान की सहायता होती है। अत: बाह्येन्द्रिय पूर्वक ही अन्त:करणों की वृत्ति होती है। इस प्रकार माठर तथा युक्तिदीपिकाकार का मत वृत्तिकार अनिरुद्ध के मत का समर्थन करता है।

(घ) दृष्टादृष्ट विषयों में करणों की द्विविध वृत्ति

उपर्युक्त दोनों टीकाकारों के पश्चाद्भावी गौडपाद[2] दृष्ट विषयों में करणों के क्रमिकाक्रमिक द्विविध तथा अदृष्ट पदार्थ में क्रमिक व्यापार को ही स्वीकार करते हैं। अत: परोक्ष पदार्थ में बुद्धि, अहंकार और मन की चक्षु आदिपूर्वक क्रमश: वृत्ति होती है। इनके बाद के जयमंगलाकार और नारायणतीर्थ ने लगभग कारिकाकार के मत का का ही अनुकरण किया है। वे चारों करणों को दृष्ट और अदृष्ट द्विविध

---

१ अदृष्टेऽतीतादावपि क्रमशश्च क्रमेणैव, यतस्त्रयस्यान्त: करणस्य तत्पूर्विका .... स्मृतिरित्येवं वृत्तिर्बाह्येन्द्रियपूर्विकेति।' -युक्तिदीपिका, पृ० ११०

२ बुद्ध्यहंकारमनसामेकैकेन्द्रियसम्बन्धे सति चतुष्टयं भवति चतुष्टयस्य दृष्टे प्रतिविषयाध्यवसायो युगपद्वृत्ति: ....तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्यतत्पूर्विका वृत्ति:।' पृ० २८

विषयों में क्रमिक और अक्रमिक दोनों व्यापार मानते हैं ।जैसे अन्धकार में (विद्युत् सम्पात में) काले सांप का दर्शन होने पर आलोचन अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प एक साथ ही होते हैं । यह तो हुआ युगपद् व्यापार । हल्के प्रकाश में ठूंठ को देखकर क्रमशः संकल्प अभिमान और अध्यवसाय होता है, यह है क्रमिकवृत्ति । इसी प्रकार अदृष्ट पदार्थ में भी समझना चाहिए। ऐसा ही जयमंगलाकार का भी मत है--`येयमुभयथा वृत्तिः स कस्मिन् विषय इत्याह `दृष्टे` अदृष्टे तर्हि नास्तीत्याह--`तथाऽप्यदृष्टे` इति ।`[1] सांख्य-कारिकाओं के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने भी इसी मत का समर्थन किया है । हरिराम शुक्ल ने भी इसी मत का समर्थन कर करते हुए `सुषमा` में अपना मत स्पष्ट किया है `यथा दृष्टे तथाऽदृष्टेऽपीति वृत्तिर्योगपद्यायौगपद्ये बोध्ये` । विद्वत्तोषिणीकार और किरणावलीकार का भी यही मत है । इससे यह स्पष्ट है कि जयमंगलाकार और गौडपाद के विचारों में पर्याप्त भिन्नता है । अतः पं० उदयवीर स्वामी ने जो जयमंगलाकार को गौडपादानुसारी बताया है और इस आधार पर वाचस्पति मिश्र ने उनका भेद प्रदर्शित किया है,सर्वथा अयुक्त है । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ही है कि अनिरुद्ध माठर और युक्तिदीपिकाकार के मतों में समानता है । इन तीनों का मत वाचस्पति मिश्र से भिन्न है । अतः डा० गार्बे का यह कथन कि अनिरुद्ध ने सांख्यसूत्र २।३२ की वृत्ति के उत्तरार्द्ध के रूप में तत्त्वकौमुदी की ३०वीं आर्या को लिया है, सर्वथा असंगत है,परन्तु उपर्युक्त सभी मतों पर विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि यद्यपि कुछ आचार्य बाह्य और आभ्यन्तर करणों की युगपद्वृत्ति स्वीकार करते हैं । तथापि यह उचित नहीं,क्योंकि सामान्य अनुभव के अनुसार सर्वप्रथम इन्द्रियों का ही बाह्य

---

१ `अन्तःकरणत्रयस्य युगपत्क्रमेण युगपत्क्रमेण च वृत्तिर्दृष्टपूर्विकेति .... यथा दृष्टे तथाऽप्यदृष्टेऽपीति योजना । तत्त्वकौमुदी,पृ० २५०

पदार्थों से सम्बन्ध देखा जाता है, तत्पश्चादेव मन से संकल्प, अहंकार से अभिमान, और अन्ततोगत्वा बुद्धि द्वारा संकल्प होता है, क्योंकि बुद्धि के द्वारा अध्यवसाय के लिए उन्हें बाह्यकरणों की मध्यस्थता अवश्य ही स्वीकार करनी होगी, और बाह्य करणों की मध्यस्थता होने पर अवश्य ही निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्ति में कुछ क्षण नहीं तो कम से कम दो क्षण तो मानने ही होंगे । प्रथम क्षण में बाह्यार्थों से इन्द्रियों का सन्निकर्ष और द्वितीय क्षण में ज्ञान होगा । इस प्रकार यह तो सर्वथा स्पष्ट है कि विषयों के लिए करणों की एक साथ प्रवृत्ति होना असम्भव ही है, सभी करणों के व्यापारों में क्रमिकता अवश्य ही है, यद्यपि वहां क्षणमात्र का ही व्यवधान है ।

(८०) करणव्यापारों का आश्रय

इस प्रकार त्रयोदशन्त: करणों के चतुर्विध व्यापारों का विचार हुआ । अब प्रश्न यह है कि करणों के इन व्यापारों का आश्रय क्या है? जिसके अधीन होकर ये व्यापार प्रारम्भ करें । वस्तुत: इनका कोई आश्रय तो है नहीं, ये करण परस्पर एक-दूसरे के अभिप्राय से ही स्वकार्यसम्पादन करते हैं । इस प्रकार एक करण के स्वकार्योन्मुख होने पर उसके संकेत से अन्य करण भी स्व स्व कार्यों में प्रवृत्त होते हैं । इनका व्यापार पुरुष के लिए ही होता है, प्रधानाश्रित होकर नहीं । इस विषय में सभी टीकाकारों का मत समान है । कारिका ३१ में ईश्वरकृष्ण लिखते हैं-- 'स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्' । इसी का अन्य टीकाकारों ने समर्थन किया है ।

करणों के अन्य कार्य और विषय

(क) करणों की वृत्तियां आहरण धारणादि

अब प्रश्न उठता है कि पंच ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, बुद्धि आदि को सांख्यशास्त्र में "करण" संज्ञा क्यों प्रदान की गई । यदि ये करण हैं तो करण तो कारक होता है और कारक

सदैव क्रिया से अन्वित होता है, अत: इन करणों की क्या क्रियाएं या वृत्तियां हैं? त्रयोदश इन्द्रियादि करण है, आलोचन संकल्पादि का करण होने से, अत: आलोचनादि इनके कार्य हैं, परन्तु इन करणों की वृत्तियों के विषय में विभिन्न विचारधाराएं हैं। कारिकाकार ने ३२वीं आर्या में करणों की त्रिविध क्रियाओं का उल्लेख किया है, परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि ये तीनों क्रियाएं करण सामान्य की हैं अथवा कुछ विशिष्ट करणों की आहरण, कुछ की धारण, और कुछ की प्रकाशन क्रियाएं हैं। कारिकाओं के प्राचीनतम टीकाकार माठर ने 'तत्राहरकमिन्द्रियलक्षणं, धारकमभिमानमनोलक्षणं, प्रकाशकं बुद्धिलक्षणम्' कहा है, परन्तु इनके इस मत से युक्तिदीपिकाकार[1] का मत भिन्न है। इनके अनुसार आहरण कर्मेन्द्रियों की क्रिया है, कर्मेन्द्रियों के विषयग्रहण करने में समर्थ होने से धारण बुद्धीन्द्रियों की वृत्ति है विषय का सन्निकर्ष होने पर ज्ञानेन्द्रियों के तदाकाराकारित होने की योग्यता होने से और निश्चय करने में समर्थ होने से प्रकाशन क्रिया अन्त:करणों की है। इसके पश्चात् उन्होंने अन्य मत का खण्डन किया है। 'अपर आह --आहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, धारणं मनोऽहंकारश्च। प्रकाशनं बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्चेति।' यह मत किस आचार्य का है, यह स्पष्ट नहीं, परन्तु पं० उदयबीर स्वामी ने इस मत को आचार्य माठर का कहा है, जो संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि माठर वृत्ति में तद्विषयक मत भिन्न है। उन्होंने आहरण को इन्द्रियसामान्य की क्रिया रूपसे स्वीकार किया है, परन्तु इस मत में तो वह कर्मेन्द्रियमात्र की क्रिया है। इस प्रकार यद्यपि युक्तिदीपिकाकार

----

१ तत्राहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, विषयार्जनसमर्थत्वात्। धारणं बुद्धीन्द्रियाणि कुर्वन्ति..... प्रकाशमन्त: करणं करोति, निश्चयसामर्थ्यात्, पृ० ११२।

द्वारा खण्डित मत माठर से भिन्न प्रतीत होता है, तथापि उसमें पर्याप्त साम्य है। माठर ने भी धारण को अभिमान और मन का कार्य कहा है और प्रकाशन को बुद्धि का और इसी मत का युक्तिदीपिका में खण्डन किया गया है। आचार्य गौडपाद का विचार इन सभी से पूर्णतया भिन्न है। 'तत्राहरणं धारणं च कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, प्रकाशं बुद्धीन्द्रियाणि।' (पृष्ठ २६) इस प्रकार गौडपाद के अनुसार आहरण आदि त्रिविध व्यापार बाह्य करणों या इन्द्रियमात्र का है। अन्तःकरणों का नहीं यद्यपि कारिका में स्पष्टतः त्रयोदश करणों का उल्लेख हुआ है। तत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र का मत गौडपाद से तो पूर्णतया भिन्न है, हां, जयमंगलाकार से अवश्य मिलता हुआ प्रतीत होता है। मिश्र के अनुसार कर्मेन्द्रियां विषयों का आहरण करती हैं। विषयों को व्यापार से व्याप्त करती है। बुद्धि, अहंकार और मन अपने प्राणादि से देह को धारण करते हैं, ज्ञानेन्द्रियां प्रकाशित करती हैं। इस प्रकार इस विषय में विभिन्न विचारधाराएं हैं।

(ख) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विशेषाविशेष विषय

ये त्रिविध क्रियाएं सकर्मक हैं, अतः इनका कर्म क्या है? इसके कर्मों को कारिकाकार ने ३२वीं आर्या के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट किया है--'कार्यं च तस्य दशधाहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च।' इस प्रकार इन्द्रियों के विषय दश हैं। पंच शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध और पंच वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः। गौडपाद ने इन्हीं दश प्रकार के कार्यों को माना है, इन्हीं (दश) को बुद्धीन्द्रियां प्रकाशित करती हैं, उनके द्वारा प्रकाशित विषयों का कर्मेन्द्रियां आहरण और धारण करती हैं। यद्यपि गौडपाद का मत उचित नहीं, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियां पंचरूपरसगन्धादि का प्रकाशन कर सकती हैं, परन्तु कर्मेन्द्रियां इनका आहरणक्व करने में असमर्थ हैं। ये शब्दादि कर्मेन्द्रियों के विषय नहीं। कर्मेन्द्रियों का कार्य तो वचनादानादि हैं। उनके अनुसार

बुद्धीन्द्रिय सविशेष और निर्विशेष द्विविध विषयों को ग्रहण करती हैं। मानव के सविशेष अर्थात् स्थूल सुखदु:ख मोहादि से युक्त स्थूल शब्दादि को और देवों के सूक्ष्म शब्दादि को। कर्मेन्द्रियां देवों और मानवों दोनों की समान ही होती हैं। वागिन्द्रिय शब्द मात्र को विषय बनाती है, परन्तु शेष चार कर्मेन्द्रियां शब्दादि पांचों को। युक्तिदीपिकाकार का भी लगभग यही मत है। उन्होंने पंच विशेष और अविशेष इस प्रकार दश प्रकार के कार्य कहे हैं। इन दश विषयों का ही आहरण धारणादि इन्द्रियां करती हैं। बुद्धीन्द्रियां विशेषाविशेष विषय वाली है तथा कर्मेन्द्रियां विशेष विषय वाली हैं। इस विषय में गौडपाद का इनसे पूर्ण साम्य है। इसके अतिरिक्त अन्य व्याख्याकार जयमंगलाकार, वाचस्पति मिश्रादि का ही इस विषय में मतैक्य है। सभी बुद्धीन्द्रियों को विशेषाविशेष विषयक और कर्मेन्द्रियों को विशेषविषयक मानते हैं। मन तो उभयात्मक है। वह द्विविध इन्द्रियों के द्विविध विषयों को ग्रहण करता है। अत: वह कर्मेन्द्रिय बुद्धीन्द्रिय दोनों के विषयों को विषय बनाता है। उभयात्मक होने से वह सर्वार्थ भी है। योगसूत्र २।१९ के भाष्य में व्यास ने 'एकादशं मन: सर्वार्थम्' लिखा है। विज्ञानभिक्षु ने भी इनका समर्थन किया है। इन सभी सांख्ययोग-दार्शनिकों का मत है कि इन्द्रियां सामान्यविशेषविषयक हैं अर्थात् इन्द्रियां स्थूल सामान्य, सूक्ष्म-विशेष उभयात्मक विषयों को ग्रहण करती हैं।

(ग) त्रयोविध करणों के त्रिविध विषय

कुछ आचार्य इन्द्रियों के त्रिविध विषय मानते हैं, आहार्य धार्य, प्रकाश्य। ये तीनों भी दश दश प्रकार के होते हैं। तत्त्व-कौमुदीकार[1] इसी मत के पोषक हैं। कर्मेन्द्रियों के कार्य वचनादि क्रिया और

---

१ सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० २५६।

अदिव्य दोनों रूप वाले होने से दश प्रकार के होते हैं । इसी प्रकार (तीनों अन्त:करण के कार्य) प्राणादि के द्वारा धारण किया जाने वाला शरीर पांचभौतिक है । इन पंचभूतों में से प्रथम पृथिवी भी शब्दादि पांच तन्मात्राओं का समूह है । अत: पंच तन्मात्राओं सहित पृथिवी आदि महाभूत भी दिव्य और अदिव्य के भेद से दश-दश धार्य भी होते हैं । अत: अन्त:करणों के विषय धार्य भी दश प्रकार के होते हैं । इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों का कार्य प्रकाश्य भी दिव्यादिव्य रूप से १० प्रकार का होता है । जयमंगलाकार[1] का भी मत लगभग इनसे मिलता-जुलता है । वे ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि कर्मों को स्थूल और सूक्ष्म अथवा अदिव्य और दिव्य के भेद से १० प्रकार के मानते हैं । इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के कर्म भी । आरण्यक महोदय उपर्युक्त सभी व्याख्याकारों के भिन्न-अभिन्न मत को स्वीकार करते हैं । उन्होंने सांख्यतत्त्वालोक[2] में प्रकाशन कार्यों को पंचभेदों वाला माना है, न कि दश प्रकार का । "प्रत्यक्षविषयाणां प्रकाश्यधर्माणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा: इति पंच भेदा: ।" कर्मेन्द्रियों के कार्यों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं-- ध्वनि उत्पादन, शिल्प, गमन, उत्सर्ग और जनन क्रमश: कर्मेन्द्रियों के व्यापार हैं । इस प्रकार आरण्यक महोदय का कर्मेन्द्रियों के विषय में तो अन्य आचार्यों से साम्य है, परन्तु ज्ञानेन्द्रियों के विषय में कुछ मतभेद है ।

(घ) <u>महत् के कार्य धर्माधर्मादि</u>

त्रयोदश करणों के चतुर्विध व्यापारों का विवेचन के साथ-साथ इनके अन्य कार्य आहरण, धारणादि का भी संक्षिप्त रूप से विचार किया जा चुका है । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य धर्माधर्मादि शेष हैं । ये कार्य किस तत्त्व के हैं इस विषय में कोई मतभेद नहीं, सभी आचार्य

---

१ "तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा: पंच..... दानादि कर्मकर्तृत्वात् कार्यम् ।"

पृ० ३६

२ सांख्यतत्त्वालोक, पृ० ३२ ।

इन्हें महत् या बुद्धि के कार्य या धर्म रूप से स्वीकार करते हैं । सूत्रकार कपिल ने सूत्र २।१४ में लिखा है--`तत्कार्यं धर्मादि:` अर्थात् धर्मादि उसके कार्य हैं[1] । इस सूत्र में तत् पद से किस तत्त्व की ओर संकेत है, यह तो इसके पूर्व के सूत्र से ही स्पष्ट है । सूत्र २।१३ में महत् का लक्षण दिया गया है । अत: प्रसंगवश यहां महत् का ही अभिप्राय है, अत: धर्मादि महत् के कार्य हैं । ये अन्त:करण के धर्म भी कहे जाते हैं । महत् के कार्य रूप से ये सभी आचार्यों को मान्य हैं । परन्तु धर्मादि के अन्तर्गत किन-किन धर्मों का समावेश है, इसे सूत्रकार ने स्पष्ट नहीं किया । हां, वृत्तिकार अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने सूत्र में प्रयुक्त धर्मादि के स्थान पर धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य इन चारों का कथन किया है । अत: ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मादि से सूत्रकार का इन्हीं चारों धर्मों की ओर संकेत है । ये चार ही महत् के सात्त्विक परिणाम हैं, अर्थात् जब महत् में सत्त्व की प्रधानता हो और दोनों गुण अभिभूतावस्था में हो, तभी ये चतुर्विध धर्मरूप परिणाम होते हैं । कारिकाकार ने कारिका २३ में इस[2] मत का समर्थन किया है । अध्यवसाय ही बुद्धि है, धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य ये चार इनके सात्त्विक रूप हैं और इनके तामस रूप इनसे विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अविराग और अनैश्वर्य हैं । सूत्रकार ने सूत्र २।१५[3] में बुद्धि के तामस रूपों का उल्लेख किया है । बुद्धि ही धर्माधर्मादि अष्टविध रूपों को धारण करती है । इन्हीं अष्टविध रूपों के कारण शास्त्रों में बुद्धि अष्टांगिका कही गई है,

---

१ `अध्यवसायो बुद्धि:` २।१३--सांख्यसूत्र, पृ० १२०

२ अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानविरागऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ।।`
--का० २३, पृ० २२६

३ `महदुपरागाद्विपरीतम्`, २।१५, सांख्यसूत्र, पृ० १२०

'सा च बुद्धिरष्टांगिका सात्त्विकतामसरूपभेदात्'[1] ।

उपर्युक्त धर्म ज्ञानादि धर्मों का स्वरूप क्या है, अर्थात् धर्म क्या है? ज्ञान क्या है? यह जानना आवश्यक है । सर्वप्रथम धर्म का ही प्रसंग है । धर्म का लक्षण आचार्य कणाद ने इस प्रकार किया -- 'यतोऽभ्युदयनि:श्रेयस सिद्धि: स धर्म:' अर्थात् जिससे अभ्युदय या लौकिक सुख और नि:श्रेयस् या पारलौकिक सुख (मोक्ष) इन द्विविध सुखों की प्राप्ति होती है, वही धर्म है । वाचस्पति मिश्र[2] ने भी कारिका २३ की टीका में एतादृश लक्षण किया । युक्तिदीपिकाकार[3] ने इससे कुछ भिन्न लक्षण किया । उनके अनुसार श्रुति और स्मृति में कहे गये कार्यों के अनुष्ठान से बुद्धि में अवस्थित जो सत्त्व का अवयव या आशय है वही धर्म है । माठर ने भी धर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है--' धर्मो नामवर्णिनामाश्रमिणां च समयविरोधेन य: प्रोक्तो यमनियमलक्षण: स धर्म: ।' धर्म भी दो प्रकार के होते हैं-- यागदानादि के अनुष्ठान से उत्पन्न धर्म अभ्युदय का कारण और अष्टांगयोगादि के अनुष्ठान से उत्पन्न धर्म नि:श्रेयस का कारण[4] । इन्हीं यागदान नियमादि के अनुष्ठान से ही लौकिक और पारलौकिक द्विविध सुखों की प्राप्ति होती है । अधर्म धर्म की विपरीतावस्था को कहते हैं । अर्थात् शास्त्रप्रतिपादित नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान न करने से

---

१ गौडपादभाष्य, पृ० २१

२ 'धर्म: अभ्युदयनि:श्रेयसहेतु:' --तत्त्वकौमुदी, पृ० २२७

३. तत्र श्रुतिस्मृतिविहितानां कर्मणामनुष्ठानाद् बुद्ध्यवस्थ: सत्त्वावयव: आशयभूतो धर्म इत्युच्यते, पृ० ६४ ।

४ 'तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयहेतु: । अष्टांगयोगानुष्ठानजनितश्च नि:श्रेयसहेतु: ।' -- तत्त्वकौमुदी, पृ० २२७

जो बुद्धि में अवस्थित तम का आशय है,वही अधर्म है[1]। धर्म के समान अधर्म भी द्विविध है।

ज्ञान क्या है? इस विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं। वेदान्तदार्शनिक ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान को ही विवेकज्ञान कहते हैं अर्थात् `अहं ब्रह्मास्मि` `तत्त्वमसि` इत्यादि महावाक्यों के अनुशीलन से ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होता है, यह है वेदान्तियों का ज्ञान। सांख्याचार्यों और योगियों का ज्ञान इसके विपरीत ही है। वे प्रकृति और पुरुषों के ऐक्य या संयोगजन्य ज्ञान को अज्ञान या अविद्या कहते हैं। प्रकृति और पुरुष का पार्थक्य ज्ञान ही वस्तुत: विवेकज्ञान है। इसी ज्ञान की प्राप्त होने पर सृष्टि की निवृत्ति होती है और मोक्षप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। अत: `अहमन्योप्रकृतिरन्या` इस प्रकार का ज्ञान ही विवेकज्ञान है। अत: तत्त्वकौमुदीकार ने ज्ञान का लक्षण करते समय `गुणपुरुषान्यताख्यातिर्ज्ञानम्` ऐसा ही लक्षण किया है। ज्ञान को गौडपाद ने प्रकाश और माठर ने इसे आत्मसाक्षात्कार कहा है। ज्ञान भी धर्म के समान बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। उपर्युक्त ज्ञान आभ्यन्तर है। बाह्य ज्ञान षड् वेदांगों और न्यायमीमांसा धर्मशास्त्रों से प्राप्त होता है[2]। युक्तिदीपिकाकार ने शब्दाद्युपलब्धि लक्षण ज्ञान और गुणपुरुषान्तरोपलब्धि लक्षण ज्ञान इस प्रकार दो रूप माने। इसमें प्रथम ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राप्त और द्वितीय अभ्यास से प्राप्त हैं।

जहां तक विराग का प्रसंग है, विराग राग के अभाव को कहते हैं--`वैराग्यं रागाभाव:`[3]।युक्तिदीपिका में इसका

----

१ `शास्त्रचोदितस्य नित्यस्य च कर्मणोऽनुष्ठानाद् बुद्ध्यवस्थस्तयोऽवयव: आशयतां प्रतिपन्नोऽधर्म:` । --युक्तिदीपिका,पृ०६६

२ तत्र बाह्यं नाम वेदा शिक्षा.... न्यायमीमांसा धर्मशास्त्राणि चेति । आभ्यन्तरं प्रकृतिपुरुषज्ञानम् । ,पृ०२१

लक्षण इस प्रकार दिया गया है[1]। विराग मुख्य दो प्रकार का योगियों को मान्य है। योगसूत्रकार ने ही पर और अपर के भेद से दो ही वैराग्य स्वीकार किए हैं। परन्तु अन्य सभी सांख्य योगदार्शनिक इनके चार प्रकारों को मानते हैं-- यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार। इन चतुर्विध वैराग्यों का सभी आचार्यों ने लक्षण किया है जिसे प्रस्तुत करना यहां अधिक आवश्यक नहीं है। इनका विस्तृत विवेचन पंचम अध्याय में किया जायगा। फिर भी मुख्य दो वैराग्यों का संक्षिप्त लक्षण करना आवश्यक ही है। अपर वैराग्य का पतंजलि ने `दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्` ऐसा लक्षण किया है, अर्थात् जब साधक की दृष्ट या ऐहलौकिक और आनुश्रविक या पारलौकिक विषयों में उपेक्षा की दृष्टि हो जाती है, उस अवस्था को ही वशीकार नामक वैराग्य कहते हैं। अतः चित्त या मन की अवस्थाविशेष ही वैराग्य कही जाती है। इस सूत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्याचार्यों को मान्य वैराग्य की चतुर्थ अवस्था या यह कहिए चरमावस्था ही अपर वैराग्य कही जाती है। क्योंकि सांख्यदार्शनिक वैराग्य की चतुर्थ अवस्था को ही `वशीकार` इस संज्ञा से पुकारते हैं। योगदार्शनिकों ने अपर वैराग्य को ही वशीकार नामक वैराग्य कहा है। योगकारिकाकार[2] ने अपर वैराग्य के चार यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार भेद कहे हैं।

योगीजन वशीकार के पश्चात् वैराग्य की एक अन्य अवस्था स्वीकार करते हैं, जिसे वे पर वैराग्य कहते हैं और उनके अनुसार यही वैराग्य की अन्तिम या चरमावस्था है। परवैराग्य क्या है, इस विषय

---

१ `विरागस्तु रागप्रतिपक्षभूतो ज्ञानाभ्यासोपजनितो बुद्धिः प्रसादः।`, पृ०६५

२ वैराग्यं द्विविधं प्रोक्तमपरं परमेव च। यतमानादिभेदेन चतुर्धाऽप्यपरं पुनः।३४
प्रथमं यतमानश्च व्यतिरेकः ततः परम्। एकेन्द्रियं ततोऽप्यस्तं वशीकारः प्रसिध्यति।
३५, पृ०६

में योगसूत्रकार[1] ने १।१६ सूत्र में अपना मत स्पष्ट किया है । जब साधक की प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञान के प्रति भी उपेक्षा की दृष्टि हो जाती है, उसी अवस्था को परवैराग्य कहते हैं । अर्थात् इस अवस्था में वह स्वत: अपने अस्तित्व को भूलकर ज्ञानप्रसादमात्र रह जाता है । वैराग्य के इन प्रकारों का उल्लेख योगवासिष्ठ, पुराणों, महाभारत और जीवन्मुक्तिविवेकादि में अनेक स्थलों पर हुआ है । विराग के अभाव अर्थात् राग के अस्तित्व को ही अवैराग्य कहते हैं । इस प्रकार बुद्धि के धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान और विराग अविराग रूप षड्विध धर्मों पर विचार हुआ । अब शेष हैं ऐश्वर्य और अनैश्वर्य । ऐश्वर्य का किसी दार्शनिक ने लक्षण नहीं किया । हां, गौडपाद ने ईश्वरीभाव को ही ऐश्वर्य कहा है । ऐश्वर्य आठ प्रकार होता है । इन प्रकारों का विवेचन बाद में होगा । ऐश्वर्य के अभाव को ही अनैश्वर्य कहते हैं । इस पकार धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य बुद्धि के सात्त्विक और अधर्मादि तामस परिणाम कहे जाते हैं ।

सांख्य कारिकाओं में उपर्युक्त आठ धर्मों का विपर्यय अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि इन चार परिणामों में अन्तर्भाव किया गया है--

'एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययशक्ति तुष्टिसिद्ध्याख्य: ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पंचाशत् ।।[2]

प्रश्न यह है कि इन विपर्ययादि चारों में धर्माधर्मादि का अन्तर्भाव कैसे होगा, अथवा किसमें किसका अन्तर्भाव संभव है ।

---

१ तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' --सूत्र १।१६, योगसूत्र, पृ० ६५

२ सांख्यकारिका, कारिका ४६, पृ० २१८

इस विषय में किसी आचार्य ने प्रकाश डाला । सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा में डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र ने इसे स्पष्ट किया है । अज्ञान का विपर्यय में, अधर्म, अवैराग्य और अनैश्वर्य का अशक्ति में, धर्म, वैराग्य एवं ऐश्वर्य का तुष्टि में अन्तर्भाव होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि कौमुदीकार ने अन्तर्भाव का प्रदर्शन इसलिए किया कि किसी को ऐसा भ्रम न हो जाय कि प्रस्तुत कारिका में कहे गए चारों बुद्धिपरिणाम पूर्वोक्त आठ बुद्धि-परिणामों से भिन्न है । अर्थात् यह स्पष्ट है कि ये चार परिणाम बुद्धि के पूर्वोक्त आठ धर्मादि परिणामों से भिन्न न होकर तद्रूप ही हैं । इन विपर्ययादि के अनेक प्रकार हैं, जिसे यहां स्पष्ट करना आवश्यक नहीं है । उपर्युक्त आठ धर्मों में से अज्ञानादि सात से बुद्धि स्वयं को बांधती है, अर्थात् ये बन्धन के कारण हैं और ज्ञानमात्र से मोक्ष होता है वही मोक्ष का कारण है[1] ।

(६०) प्रमाणों में करणों का व्यापार

इन्द्रियों के इन सभी व्यापारों और विषयों के अतिरिक्त प्रमाणों में भी इन्द्रियों की सहायता सभी आचार्य स्वीकार करते हैं, क्योंकि बाह्य वस्तु से इन्द्रियों का सन्निकर्ष बिना हुए इन्द्रियां वस्तुओं को प्रकाशित नहीं करती[2] । सूत्रकार के इस मत से सभी दार्शनिक सहमत है । बिना इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के प्रत्यक्ष प्रमाण असम्भव है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रियों का कार्य अनिवार्य है । अब प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियां करती क्या हैं? इन्द्रियां ही वस्तुतः बाह्यार्थ से सम्बन्ध स्थापित ---------------

----

१ रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद्विमोचयत्येकरूपेण ।

--सांख्यसूत्र३।७३, पृ० १६६

२ 'नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्ते सर्वप्राप्तेर्वा' ।

५।१०४, पृ० २२७

करके सर्वप्रथम उसका निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त करती है । तत्पश्चात् ही मन इन्द्रियों के द्वार से उन बाह्य पदार्थों से सम्बद्ध होकर उनका सविकल्पक या नामजात्यादि सहित ज्ञान प्राप्त करता है । कुछ आचार्य जैसे अनिरुद्ध[1] सविकल्पक ज्ञान को केवल मन से और निर्विकल्पक ज्ञान को इन्द्रियों से उत्पन्न मानते हैं,क्योंकि वह सादृश्य के संस्कारों के उद्बोध द्वारा स्मृति में होने वाले वस्तु के नामादि से युक्त ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं । अत: सविकल्पक ज्ञान स्मृतिजन्य है और स्मृति मनोमात्रजन्य है अत: सविकल्पक ज्ञान भी मनोमात्रजन्य होगा । इनके परवर्ती विज्ञानभिक्षु इनके मत से सहमत नहीं और `कश्चितु निर्विकल्पकं ज्ञानमेवालोचनमिन्द्रियजन्यं च भवति सविकल्पकं तु मनोमात्रजन्यमिति श्लोकार्थमाह, तन्न ।' लिखकर खण्डन किया और अपने मत को स्पष्ट किया है, `परमुत्तरकालीनं च पुनर्वस्तु धर्मैद्रव्यरूपधर्मैस्तथा जात्यादिभिर्ज्ञानं सविकल्पकं तत्रालोचनाख्यं भवतीत्यर्थ: ।' अर्थात् द्रव्य वस्तु जाति आदि धर्मों से युक्त जो सविकल्पक ज्ञान है वह भी आलोचन है अर्थात् वह भी इन्द्रियजन्य है केवल निर्विकल्पक ज्ञान ही नहीं । तत्त्वकौमुदी के व्याख्याकार बालरामोदासीन[2] ने सविकल्पक ज्ञान को ही इन्द्रियों की सहायता से युक्त मन से उत्पन्न बताया है और उसे भी प्रत्यक्षज्ञान माना है । अत: वस्तुत: सविकल्पक ज्ञान को भी इन्द्रियजन्य मानना ही चाहिए क्योंकि बिना इन्द्रियों का बाह्यार्थ से सन्निकर्ष हुए सविकल्पक ज्ञान भी नहीं हो सकता । अत: इन्द्रिय का साहाय्य सविकल्पक ज्ञान में भी आवश्यक है ।

---

१ `सविकल्पकमपि प्रत्यक्षं संगृहीतम्........ प्रत्यक्षत्वेन संमता ।
सूत्र १।८९,पृ०२६।

२ यत्प्रथमं केवलेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं ज्ञानं जनितं तदेव प्रत्यक्षमिति न किन्तु यच्चान्तरमिन्द्रियसहायेन मनसा सविकल्पकं ज्ञानं जनितं तदपि प्रत्यक्षमिति भाव: ।,पृ०१८१

सांख्यदार्शनिकों के समान योगीजन भी यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रियों के द्वारा ही मन या चित्त का बाह्यार्थ से सम्बन्ध होता है। मन स्वत: विषयों का ग्रहण नहीं करता। इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषयों को ही वह ग्रहण करता है। योगसूत्र ३।४७ के भाष्य में वाचस्पति मिश्र ने लिखा है--"बाह्येन्द्रियतन्त्रं हि मनो बाह्ये प्रवर्तते"[1]। विज्ञानभिक्षु ने भी इनका समर्थन किया है। इन्द्रियों की सहायता के अभाव में प्रमाण असम्भव है।

सांख्याचार्यों से भिन्न योगियों ने इन्द्रियों के अन्य तीन प्रकार के परिणाम या कार्य माने हैं। उनके अनुसार इन्द्रियों के धर्म, लक्षण और अवस्था तीन अन्य कार्य हैं। अब ये तीनों परिणामों का क्या स्वरूप है, यह अन्य अध्याय में स्पष्ट होगा, परन्तु संक्षेप में इसका इस स्थल पर उल्लेख भी आवश्यक है। व्युत्थान और निरोध संस्कारों का क्रमश: अभिभव और प्रादुर्भाव ही धर्मी के में धर्म-परिणाम है। धर्म का अनागतादि काल के त्यागपूर्वक वर्तमान काल का लाभ होना ही लक्षण परिणाम है। जब निरोध संस्कार बलवान् हो और व्युत्थान संस्कार दुर्बल, उसे अवस्था परिणाम कहते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों में व नील पीतादि का आलोचन रूप धर्मपरिणाम, नीलादि के आलोचन रूप धर्म की वर्तमानता लक्षणपरिणाम, लक्षण के आलोचन का स्फुटत्वादि अवस्था परिणाम है। इस प्रकार ये तीनों भी इन्द्रियों के कार्य हैं। इस विषय में लगभग सभी योगाचार्यों का मतैक्य है। इसके अतिरिक्त मन के भी त्रिविध निरोध, समाधि और एकाग्रता रूप परिणाम होते हैं। वस्तुत:

----

१ इन्द्रियाण्येव नाड़ी चित्तसंचरणमार्गा: तै: संयुज्य तद्गोलक द्वारा.... चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकार: परिणामो भवति न केवलस्य चित्तस्य... । १।७, पृ०३१

मन की विविधावस्थाओं में मन के विविध कार्य हैं । परन्तु समापत्ति[1] काल में मन इन्द्रियों को भी अपना विषय बनाता है, तब ग्रहण समापत्ति होती है । इस प्रकार प्रमाणों में इन्द्रियों का साहाय्य अनिवार्य है ।

(च) समाधि,सुषुप्ति और मोक्षावस्था में चित्त का व्यापार

समाध्यादि में करण व्यापारों पर विचार करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि ये अवस्थाएं हैं क्या या समाधि किसे कहते हैं? समाधि आदि अवस्थाओं पर पंचमाध्याय में विस्तृत विचार किया जायगा । इस स्थलपर भी इनका संक्षिप्त वर्णन वांछनीय है । जहां तक समाधि का प्रसंग है, समाधि अष्टांग योग में परिगणित अष्ट अंगों में अन्तिम या चरम अंग है । इसके पूर्व के लगभग सभी अंग समाधि अवस्था तक पहुंचने के उपाय हैं । समाधि का अर्थ है समाधान । `समाधीयते चित्तमनेनेति समाधिः` अर्थात् जिसके द्वारा चित्त का समाधान हो वही समाधि है । इसकी व्युत्पत्ति से प्रतीत होता है कि समाधि चित्त के समाधान का साधन है । `सम्यगाधानं चित्तावस्थानं समाधिः`[2] । इससे भिन्न कुछ आचार्य या यह कहिए भाष्यकार व्यास ने

---

१ समापत्ति पर विस्तृत विचार शोधप्रबन्ध के षष्ठ अध्याय में किया जायगा,परन्तु समापत्ति क्या है यह जानना आवश्यक है--समापत्ति का अर्थ है(क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवमणे) ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थत-दंजनता समापत्तिः` अर्थात् जिस साधक के चित्त की (राजस् और तामस्) वृत्तियां क्षीण हो गई हैं, ऐसे साधक के चित्त की गृहीता,ग्रहण या ग्राह्य विषयों में स्थिति होती है तथा चित्त पूर्णरूपेण उन विषयों के आकारका हो जाता है ।--योगसूत्र१।४१।

२ सर्वदर्शनसंग्रह,पृ०३३१

भी समाधि को योग कहा है । वस्तुत: समाधि ही योग नहीं, यदि समाधि को योग कहा जाय तो चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त अवस्थाओं को भी योग ही कहना चाहिए । इन अवस्थाओं में समाधि रहती है, क्योंकि समाधि सभी अवस्थाओं का धर्म है । ये अवस्थाएं योग नहीं, क्योंकि इनमें चित्त का समाधान क्षणिक ही होता है, तत्पश्चात् चित्त पुन: व्युत्थित हो जाता है । अत: यह क्षणिक समाधान मोक्षोपयोगी नहीं । अत: इस स्थल पर भाष्यकार ने समाधि का प्रयोग अंगांगि के अभेद विवक्षा से ही किया है । योग अंगी है, और समाधि उसका अंग है । समाधि भी मुख्यत: दो प्रकार की है-- संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात । ये द्विविध समाधि मोक्षोपयोगी होने से योग कही जाती है । चित्त की चतुर्थ या एकाग्र अवस्था में तत् या पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है, क्लेश क्षीण होते हैं और कर्मबन्धन शिथिल हो जाते हैं, इस प्रकार चित्त चित्तनिरोध रूप असंप्रज्ञात समाधि के अभिमुख होता है । चित्त की ऐसी अवस्था को संप्रज्ञात योग या समाधि कहते हैं । इस अवस्था में राजस् तामस् वृत्तियों का निरोध हो जाने पर भी ज्ञानाकार सात्त्विक वृत्ति रहती ही है । इससे भिन्न असंप्रज्ञात काल में इस वृत्ति का भी पूर्णरूपेण दाह या निरोध होने पर इनका संस्कार मात्र शेष है । इसी कारण इसका नाम असंप्रज्ञात पड़ा । अत: इसमें चित्त व्यापारों का अभाव ही सभी आचार्यों को अभिमत है । इसके पश्चात् चित्त की सभी वृत्तियों का पूर्ण निरोध होने पर संस्कारमात्रावशेष अवस्था ही असंप्रज्ञात समाधि है ।

अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त द्विविध समाधि काल में चित्त का व्यापार किस प्रकार का होता है । अर्थात् चित्तवृत्तियां हैं अथवा नहीं । जहां तक संप्रज्ञात समाधि का प्रश्न है । इस अवस्था में राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होता है । परन्तु सात्त्विक ध्येयाकार रूप वृत्ति विद्यमान है । इस प्रकार इस अवस्था में भी चित्त कार्य करता है । यद्यपि एक ध्येय रूप विषय से ही सम्बद्ध हो इसके पश्चात् असंप्रज्ञात समाधि में

ध्येयाकार सात्त्विक वृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है और उस वृत्ति (या ज्ञान) के संस्कार मात्र शेष हैं । इस प्रकार असंप्रज्ञात समाधि काल में चित्त कार्य नहीं करता है । अधिकतर आचार्य इसी मत को स्वीकार करते हैं[1] । विज्ञान-भिक्षु ने इस अवस्था में चित्तवृत्ति का पूर्ण लय माना है । चित्तवृत्ति के अभाव में पुरुष स्वस्वरूप से स्थित रहता है । समाधि से भिन्न व्युत्थान काल में पुरुष वृत्ति के स्वरूप के आकार वाला होकर भासता है, अर्थात् यद्यपि पुरुष इन वृत्तियों से सर्वथा असंस्पृष्ट है, परन्तु अज्ञानवश वह वृत्तियों से तादात्म्य स्थापित कर वृत्तियों के आकार का प्रतीत होता है, यद्यपि वृत्तियां चित्त का ही धर्म है । इस प्रकार असंप्रज्ञात समाधि काल में चित्तवृत्तियों का पूर्ण अभाव है । अत: यह न समझना चाहिए कि समाधि अवस्था में चित्त-वृत्तियों का अभाव होने से चित्त का भी अभाव हो रहता है । चित्त का लय नहीं, क्योंकि समाधि चित्त के समाधान को ही कहते हैं । अत: समाधि चित्त की ही अवस्थाविशेष है । चित्त के अभाव में समाधि का अस्तित्व सम्भव नहीं । हां, समाधि में बुद्धिवृत्ति का लय अवश्य ही मान्य है ।

समाधि के पश्चात् सुषुप्ति का प्रश्न है।

सुषुप्ति का लक्षण किसी सांख्ययोगाचार्य ने नहीं किया । हां, योगवासिष्ठ में चित्त की इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है । जब कि शरीर में मन-वचन और कर्मरूपी कोई भी क्रिया नहीं होती, तब जीव धातु अपने स्वरूप में शान्त भाव में स्थित रहती है । प्राणों की क्रिया में समता आ जाती है और हृदय में स्थित जीव धातु में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता । जैसे कि हवारहित स्थान में चांदनी देने वाला दीपक क्षोभरहित होकर स्थित रहता है, उसी प्रकार जीवधातु

----

१ सांख्यसूत्र का भाष्य, पृ०२३१

भी शान्त रहती है । उस अवस्था में जीवधातु ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की ओर नहीं दौड़ती है । इस कारण ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में चेतना का अभाव रहता है, और उनकी क्रिया बाहर की ओर प्रवृत्त नहीं होती । उस समय चेतनता जीव के भीतर ही ऐसे रहती है जैसे कि तिलों में तेल, बर्फ में शीतलता और घी में चिकनाई । प्राणों के सौम्य हो जाने पर, बाह्यज्ञान के हो जाने पर जीव के आकार वाली कला नामक चिति सुषुप्ति की दशा में पहुंच जाती है । अत: चित्तवृत्तियां जब पूर्णरूपेण शान्त रहें वही सुषुप्ति अवस्था है । आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सुषुप्ति को अर्धलय और समग्रलय के भेद से द्विविध कहा है । अर्धलय सुषुप्ति में चित्त की वृत्तियां बहिर्मुखी या बाह्यविषयाकाराकारित नहीं होती । इस अवस्था में चित्तवृत्तियां आभ्यन्तर ही सुख-दु:ख मोह के आकार को प्राप्त होती रहती है । अत: चित्तवृत्ति का अभाव नहीं अन्यथा सुषुप्ति से उठे हुए व्यक्ति की `सुखमहमस्वाप्सम्` ऐसी अनुभूति की अनुपपत्ति होगी । इससे भिन्न समग्रसुषुप्ति की अवस्था में बुद्धि की वृत्ति सामान्य या सभी वृत्तियों का पूर्ण अभाव हो जाता है । अत: इस समय पुरुष स्वरूप या ब्रह्मरूप से स्थित रहता है । इस प्रकार अधिकतर दार्शनिक सुषुप्ति में वृत्तियों का अभाव या बुद्धिवृत्तियों का लय मानते हैं । कुछ तो मन या चित्त का भी लय कहते हैं । सांख्यतत्त्वकौमुदी के टीकाकार राजेश्वरशास्त्री ने निद्रा को सुषुप्तिकालिक वृत्ति कहा है । अत: उनके विचारानुसार सुषुप्ति में भी वृत्तियों का अस्तित्व है । सुषुप्ति से इनका तात्पर्य किस सुषुप्ति से है अर्धलय या समग्रलय यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने वृत्ति का कथन अर्धलय सुषुप्ति की अपेक्षा से किया है । समग्रसुषुप्ति अवस्था में वृत्ति का अस्तित्व मानना उचित नहीं । हां यह अवश्य है कि इस अवस्था में भी वृत्ति के अस्तित्व का पूर्ण निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि सुषुप्ति में वृत्ति न हो तो सुषुप्ति के पश्चात् सुषुप्तिकालिक वृत्तियों की स्मृति भी न हो, परन्तु सुषुप्ति के पश्चात् `सुखमहमस्वाप्सम्` ऐसी स्मृति

होता है,अत: सुषुप्ति में भी दुःखात्मक वृत्ति थी । यह अवश्य है कि वृत्ति के रहने पर भी उसी काल में उसका अनुभव या प्रतीति नहीं होता । यही समाधि और सुषुप्ति की भिन्नता है । समाधि में वृत्ति का पूर्ण अभाव या लय होता है,परन्तु सुषुप्ति में वृत्ति होने पर भी उसकी प्रतीति का अभाव है और चित्त के दोनों अवस्थाओं में रहता है ।

अब प्रश्न है मोक्षावस्था का । जहां तक मोक्षावस्था के स्वरूप का प्रश्न है आगे विचार किया जायगा । यहां संक्षेप में उसे स्पष्ट करना आवश्यक है,अन्यथा इस अवस्था में चित्तवृत्तियों के अस्तित्वादि की समस्या का समाधान न हो सकेगा । जहां तक सांख्याचार्यों का मत है वे सभी त्रिविध दु:खों के आत्यन्तिक और ऐकान्तिक विनाश को ही मोक्ष मानते हैं । सांख्यसूत्रों का प्रारम्भ ही इसी मोक्ष रूप पुरुषार्थ को लेकर हुआ है-- 'अर्थ त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ:' अर्थात् आध्यात्मिक,आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध दु:खों की पूर्णरूपेण निवृत्ति में ही परम मोक्षरूप पुरुषार्थ है,इसी प्रकार योगदार्शनिकों ने भी अविद्या के अभाव होने पर प्रकृति पुरुष के संयोग के अभाव को ही हान या मोक्ष कहा है[1] । इस प्रकार इस अवस्था में भी पुरुष स्वस्वरूप से ही स्थित रहता है । अज्ञान की पूर्णरूपेण निवृत्ति होने पर पुरुष का प्रकृति से संयोग समाप्त हो जाता है,क्योंकि यह संयोग अविद्याहेतुक ही है तथापि पुरुष प्रकृति के परिणामों से पूर्णत: असंस्पृष्ट है । तथापि अज्ञानवश बुद्धि आदि कृत कार्यों को स्वयं में आरोपित करके बुद्धिवृत्ति के आकार का प्रतीत होता है । परन्तु मोक्षावस्था में पुरुष की प्रकृति से पार्थक्य ज्ञान होने पर वह स्वरूप को पहचान लेता है । अत: अन्ततोगत्वा योगसूत्रकार ने कैवल्य का लक्षण इसप्रकार किया है--'पुरुषार्थ-शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव: कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ।'[2]

----

[1] 'तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशे: कैवल्यम् ।' योगसूत्र २।२५,पृ०४२३

[2] योगसूत्र ४।३४,पृ०८७३ ।

अर्थात् समाप्त हो गया है भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ जिसका ऐसे कृतकार्य रूपसे पुरुषार्थशून्य एवं बुद्ध्यादि रूप से परिणत गुणों का जो प्रतिलोम रूप से या यह कहिए अपने-अपने कारणों में लय द्वारा प्रधान में लय होता है । यह प्रधान का मोक्ष और वृत्तिसारूप्य की निवृत्ति होने पर शुद्धस्वभावमात्र से अवस्थित चितिशक्ति रूप पुरुष का होना, पुरुष का कैवल्य कहा जाता है ।

प्रश्न यह है कि मोक्षावस्था में चित्तवृत्तियां हैं अथवा नहीं । मोक्षावस्था के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि इस समय सृष्टि की निवृत्ति होती है । सृष्टि प्रकृति और पुरुष के संयोग का ही परिणाम है, संयोग के निवृत्त होते ही सृष्टि भी निवृत्त हो गई । जब सृष्टि ही नहीं, अर्थात् जब महदादि का क्रमश: स्वस्वकारण में लय हो जाता है,अत: चित्तवृत्तियों का अस्तित्व असम्भव ही है । चित्त का ही जब अस्तित्व नहीं तो उनके व्यापारों का प्रश्न ही नहीं उठता । अत: मोक्षावस्था में चित्तवृत्तियों का पूर्ण अभाव है । यह सभी दार्शनिकों को मान्य है । परन्तु यह कथन कुछ अनुपयुक्त है । जीवन्मुक्ति दशा में मनादि रहते हैं । मोक्ष भी द्विविध है-जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति । जीवन्मुक्ति अवस्था में पुरुष अनागतादि दु:खों का नाश होने पर भी प्रारब्ध कर्म अवश्य भोगता है । अत: फलभोग के लिए बुद्धि आदि का होना अत्यन्त आवश्यक है । भोग के चित्त का धर्म होने से चित्त का अस्तित्व अनिवार्य है,परन्तु इससे भिन्न विदेहमुक्ति काल में शरीर इन्द्रियादि का स्वकारणमें लय होने से चित्तवृत्तियों का पूर्णाभाव स्वीकार करना ही उपयुक्त है । इस अवस्था में चित्त का भी अस्तित्व नहीं है[1] । अत: चित्तवृत्तियों का अभाव वस्तुत: विदेहमुक्ति से ही होता है ।

इस प्रकार पूर्व दो अध्यायों में सांख्ययोगाभिमत तत्त्वों का उद्देश,उनका सृष्टिक्रम और साथ ही त्रयोदश करणों (त्रिविध अन्त:करणों और दश बाह्यकरणों) के विविध व्यापारों का विचार किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय

-o-

चित्त की विशिष्ट वृत्तियां

-o-

चतुर्थ अध्याय

-0-

चित्त की विशिष्ट वृत्तियां

चित्तवृत्ति क्या है ?

अभी तक सभी करणों--बाह्य और अन्त: के विभिन्न सामान्यासामान्यादि व्यापारों का विचार हुआ । अब चित्त की कुछ ऐसी वृत्तियों का विवेचन किया जायगा, जो केवल चित्त रूप अन्त:करण का व्यापार हैं । अर्थात् उन्हें चित्त की विशिष्ट वृत्तियां कहा जा सकता है । चित्त क्या है, इस विषय में कुछ मतभेद है । कुछ आचार्य 'चित्त' शब्द के अन्तर्गत बुद्धि, अहंकार और मन इन तीन अन्त:करणों को स्वीकार करते हैं । विज्ञानभिक्षु ने 'चित्तमन्त:करणसामान्य' कहकर एतादृश मत स्पष्ट किया है । परन्तु इनसे भिन्न वाचस्पति मिश्र 'चित्त' शब्द से बुद्धि या मनोमात्र का ग्रहण करते हैं । 'चित्तशब्देन अन्त:करणं बुद्धिमुपलक्षयति' अत: बुद्धि ही चित्त है । चित्त को ही मन भी कहते हैं । यहां मन शब्द से एकादशेन्द्रिय मन का ग्रहण नहीं करना चाहिए, वरन् प्रकृति का प्रथम परिणाम महत् या बुद्धि का ही ग्रहण होना चाहिए । अत: बुद्धि ही चित्त है । चित्त प्रकृति रूप त्रिविध गुणों का ही परिणाम है । अत: त्रिगुणों का परिणाम होने से यह भी त्रिगुणात्मक ही होगा। सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण स्वभावत: चंचल हैं, अत: प्रतिक्षण किसी-न-किसी परिणाम को प्राप्त होते रहते हैं, चाहे वह सरूप परिणाम हो अथवा विरूप । अर्थात् सृष्टिकाल में विरूप परिणाम और प्रलयकाल में सरूप परिणाम प्राप्त होते हैं । इनके परिणामी होने से त्रिगुणात्मक चित्त भी प्रतिक्षण किसीन-किसी परिणाम को प्राप्त

करता रहता है । चित्त के ये परिणाम ही चित्तवृत्ति कहलाते हैं । चित्तवृत्ति शब्द की 'वर्ततेऽनया इति वृत्तिः अथवा 'वर्तनं वृत्तिः चित्तस्य' इस व्युत्पत्ति से ही प्रतीत होता है कि रहने या सत्ता का साधन ही वृत्ति है, अर्थात् चित्त-वृत्ति चित्त के अस्तित्व का साधन ही है । विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक में चित्तवृत्ति का यही स्वरूप बताया है -- "येः प्रमाणादिलक्षणव्यापारैः चित्तं जीवति ते तद्वृत्तयः उच्यन्ते" अर्थात् जिन प्रमाणादि व्यापारों की सहायता से चित्त जीवित है, अर्थात् चित्त का अस्तित्व है, उन्हें ही चित्त की वृत्तियां कहते हैं । अतः वस्तुतः चित्त के व्यापार को चित्तवृत्ति कहते हैं । नागोजी भट्ट ने भी ऐसा ही वर्णन किया है । सांख्यसूत्रकार ने चित्तवृत्ति का लक्षण नहीं किया, परन्तु सूत्र ५।१०६ से ८ में इसका संकेत किया है[1] । सूत्र १०८ के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने उपर्युक्त लक्षण को ग्रहण किया है, जिससे जो जीवित रहे, वही उसकी वृत्ति है । जैसे ब्राह्मण की वृत्ति याजनादि कर्म[2] । अतः वृत्ति के अधीन ही चित्त की स्थिति है, अर्थात् चित्त के निर्वाह का साधन होने से प्रमाणादि परिणाम चित्त की वृत्ति कहलाते हैं ।

उपर्युक्त सभी आचार्यों से भिन्न आचार्य भोज ने राजमार्तण्ड वृत्ति में वृत्तियों को चित्त का परिणामविशेष कहा है--'वृत्तय-श्चित्तस्य परिणामविशेषः' चित्त सदैव किसी न किसी परिणाम रूप से ही रहता है । परिणामों से भिन्न उसकी कोई स्थिति नहीं, अतः चित्त का परिणाम ही वृत्तियां हैं । वंशीधर मिश्र ने भी इसी मत का समर्थन किया है-- 'विषयाकारवृत्तिरूपपरिणामविशेषः' । सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने वृत्ति का अर्थ सन्निकर्ष किया है । इन्द्रियों का बाह्य विषयों से जो

----

१ 'भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पति' --सांख्यसूत्र५।१०७पृ० २२८
'न द्रव्यनियमस्तद्योगात्' सांख्यसूत्र ५।१०८, पृ० २२८ ।

२ 'वृत्तिर्वर्तनजीवन इति हि यौगिकोऽयं शब्दः । जीवनं च स्वस्थितिहेतु-व्यापारः । वैश्यवृत्तिः शूद्रवृत्तिरित्यादिव्यवहाराच्च ।' --सांख्यप्रवचन-भाष्य, पृ० २२८ ।

सम्पर्क या सम्बन्ध होता है, वह सन्निकर्ष रूप व्यापार ही वृत्ति है। 'वृत्तिश्च सन्निकर्ष: । अर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थ:' । शिवनारायण शास्त्री का भी यही मत है। किसी भी वस्तु का प्रामाणिक ज्ञान करने के लिए इन्द्रियादि का उन वस्तुओं से सन्निकर्ष या सम्बन्ध होता है। उस सम्बन्ध रूप व्यापार को ही वृत्ति कहते हैं। उस व्यापार के अभाव में ज्ञान भी असम्भव है।[१]

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने योगसारसंग्रह में वृत्ति को बुद्धि का अग्रभाग माना है। चित्त या बुद्धि की वृत्ति दीपक की शिखा के समान बुद्धि का अग्रभाग है, जिससे कि चित्त की एकाग्रता रूप व्यवहार होता है। चित्तवृत्तियां चित्त को स्पष्ट करने वाला व्यापार है, अत: चित्त का अग्रभाग कहना उचित ही है। वह अग्रभाग ही मूषा में डाले हुए द्रवीभूत तांबे के समान इन्द्रिय के द्वारा बाह्य विषय से मिलने पर विषयाकार हो जाता है।[२] योगकारिकाओं में भी ज्ञान की लय और उदयशील अवस्था को चित्तवृत्ति कहा गया है।[३] अत: चित्त की भिन्न-भिन्न रूप से स्थिति का नाम ही चित्तवृत्ति है। चित्त सदैव किसी-न-किसी परिणाम के रूप में ही स्थित रहता है। वे परिणाम ही उसकी अवस्थाएं हैं। अत: चित्तवृत्ति चित्त का परिणाम या अस्तित्व का साधन है। इस प्रकार चित्तवृत्ति का अर्थ है-- ज्ञानरूपसमस्त अवस्थाएं। उनके अभाव हो जाने पर चित्त का लय होता है।

अब प्रश्न इस बात का है कि चित्तवृत्ति चित्त का अंश है अथवा चित्त का गुण। वृत्तियां न तो चित्त का अंश ही हैं, और

---

१ 'तथैवापीन्द्रियादिना ..... भवति व्यापार:' --सारबोधिनी, पृ० ११३

२ 'बुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्य .... मूषानिषिक्तद्रुतताम्रवत् ।' योगसार, पृ० ४

३ 'प्रख्यारूपं चित्तसत्त्वं सर्वविज्ञानलक्षणम् । प्रत्ययोलयोदयशीलावस्था तस्य वृत्तिरितीरिता ।', पृ० ४ ।

न ही चित्त के गुण[१] । यदि वृत्ति चित्त का भाग या अंश होगी तब तो उस वृत्ति के माध्यम से चक्षु आदि का सूर्यादि से सन्निकर्ष सम्भव न होगा । (क्योंकि वह विषयों से सन्निकर्ष स्थापित करने के लिए जाती है) अत: वह चित्त का अंश नहीं । यदि चित्त का गुण मानें तो गुण में क्रिया सम्भव नहीं है, परन्तु वृत्ति में सर्पण रूप क्रिया होती है । क्रियावान् द्रव्य ही हो सकता है । अत: चित्तवृत्तियों को चित्त का गुण मानना भी अयुक्त है । हां, यह अवश्य कह सकते हैं कि चित्तवृत्तियां द्रव्य हो सकती हैं । सूत्रकार के इस मत का विज्ञानभिक्षु ने समर्थन किया है और वृत्तियों को द्रव्य ही माना है[२] । अत: वृत्ति द्रव्य है, परन्तु सांख्यसूत्रकार ने वृत्ति के द्रव्यत्व का भी निषेध किया है[३] । अत: वृत्ति द्रव्य हो, यह आवश्यक नहीं । प्रसर्पणरूप क्रिया से युक्त होने के कारण ही वृत्तियां द्रव्य हैं । वस्तुत: ये घटादिसदृश-देशव्यापी द्रव्य के समान द्रव्य नहीं है । अत: अन्त में यह कह सकते हैं कि वृत्तियों के रूप से ही सदैव चित्त की अवस्थिति है । अत: वृत्तियां चित्तकी अवस्थाविशेष ही हैं ।

वृत्तियों के प्रकार

जहां तक वृत्तियों के प्रकारों का प्रश्न है, वृत्तियां वस्तुत: अनेक हैं । चित्त प्रतिक्षण परिणामशील है । अत: प्रतिक्षण चित्त की वृत्तियां भी भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु उन सभी वृत्तियों में जो चित्त को अधिक विक्षिप्त करती हैं, और ज्ञान और मोक्षप्राप्ति के लिए जिन वृत्तियों का निरोध आवश्यक है, उन सभी वृत्तियों के मुख्यत: पांच प्रकार स्वीकृत है । सांख्य और योगसूत्रकारों ने एक ही सूत्र में इसे स्पष्ट कर

---

१ `भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्ति: सम्बन्धार्थं सर्पतीति' --सूत्र५।१०७, पृ० २२८

२ `बुद्धिर्विषयेषु सम्बन्धार्थं .... क्रियासंभवादित्यर्थ:', पृ० ५

३ न द्रव्यनियमस्तद्योगात्' --सांख्यसूत्र ५।१०८, पृ० २२८

दिया-- `वृत्तय: पंचतय्य: क्लिष्टाक्लिष्टा:` अर्थात् वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं और ये पांचों वृत्तियां भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से दो प्रकार की हैं। सांख्यसूत्रों के वृत्तिकार अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु आदि सभी ने इस मत का समर्थन किया है। उपर्युक्त सूत्र में `वृत्तय:` पद बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। बहुवचनान्त पद का प्रयोग विविध व्यक्तियों की विविध वृत्तियों के कारण हुआ है। सूत्र में प्रयुक्त `पंचतय्य:` पद का अर्थ -- पांच अवयव वाली या पांच प्रकार की। असंख्य व्यक्तियों की असंख्य वृत्तियां हैं ये पांच वृत्तियां उन सभी को अवयव है। इसी कारण पंच में अवयवार्थक तयप् प्रत्यय लगा है, परन्तु विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक में इसका खण्डन किया है। उनके अनुसार `पंचतय्य:` पद का पांच प्रकारों से अर्थ लेना ही अधिक उपयुक्त है[1]। इनके विपरीत आचार्य भोज और वाचस्पति मिश्र ने अवयवार्थ ही स्वीकार किया है[2]। जहां तक वृत्तियों की संख्या का प्रश्न है, सभी सांख्ययोगदार्शनिक मुख्यत: पांच ही प्रकार स्वीकार करते हैं। ये पांच वृत्तियां कौन-कौन हैं? इनका योगसूत्र१।६ में पतंजलि ने उद्देश किया है[3] प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच वृत्तियां हैं। सांख्यतत्त्वालोक में हरिहरानन्द आरण्यक ने पांच ही वृत्तियां मानी हैं, परन्तु वृत्तियों का उद्देश करते समय निद्रा के स्थान पर विज्ञान का कथन किया है। निद्रा और विज्ञान अत्यन्त भिन्न है, अत: यह कहना कि निद्रा के स्थान पर विज्ञान का कथन हुआ है, सर्वथा अयुक्त है। परन्तु साथ ही भास्वती में हरिहरानन्द ने ही योगभाष्याभिमत पांच वृत्तियों को स्वीकार किया और निद्रा का भी

----

१ `वृत्तीनामसंख्यव्यक्तितयाऽवयवार्थकत्वानुपपत्त्या लक्षणयाऽत्र प्रकारवाचित्वं ता: पंचधा वृत्तय:।` --योगवार्तिक, पृ० २७

२ `वृत्तिरूपोऽवयव्येक:, तस्य प्रमाणाद्योऽवयवा: पंच। तत्तस्तदवयवा पंचतयी पंचावयवा वृत्तिर्भवति।` --योगतत्त्ववैशारदी, पृ० २५

३ `प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय:` --योगसूत्र १।६, पृ० ४३।

वहां कथन हुआ है । यह उनका स्ववचोव्याघात दोष है । अत: निद्रा को ही स्वीकार करना चाहिए, वही अधिक उपयुक्त और अधिक आचार्यों को मान्य भी है । इन पांच वृत्तियों पर लक्षणसहित विचार आगे किया जायगा । ये पांच वृत्तियां ही क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से द्विविध है । क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियां क्या हैं, यह प्रश्न स्वाभाविक है । वस्तुत: जिन वृत्तियों का मूल अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेश रूप पंच क्लेशों में है । वे क्लेशमूलक या क्लिष्ट वृत्तियां कहलाती हैं और जिनका विषय प्रकृति और पुरुष का पार्थक्यज्ञान या विवेकज्ञान है वे वृत्तियां अक्लिष्ट वृत्तियां कहलाती हैं । योगभाष्यकार कहते हैं[1]-- जो वृत्तियां धर्माधर्म रूप कर्मसंस्कारों की उत्पत्ति का कारण बनती है और क्लेशमूलक हैं वे ही क्लिष्ट वृत्तियां कहलाती हैं, क्योंकि शुभ और अशुभ ये दोनों ही कर्म भोग और बन्धन का कारण होते हैं । अत: वे अक्लिष्ट वृत्तियां ही हैं । विवेकज्ञान को विषय बनाने वाली और गुणों के कार्य(संसार से अनुरक्ति) का विरोध करने वाली वृत्तियां अक्लिष्ट है । सांख्यसूत्रों के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने भी एतादृश लक्षण किया है[2] । दु:ख देने वाली वृत्तियां क्लिष्ट और उससे विपरीत अक्लिष्ट वृत्तियां होती हैं । क्लिष्ट वृत्तियां क्लेशमूलिका होने से इन पांच क्लेशों में से किसी क्लेश के प्रकट होने पर ही उत्पन्न होती है । इन वृत्तियों से जो संस्कार संचित होते हैं, वे भी क्लेशमूलक होने से क्लेशरूप या दु:खरूप फल ही देते हैं । दु:ख देने के कारण ही इन्हें क्लेशमूलिका कहते हैं । आचार्य भोज भी इसी मत के पोषक हैं[3] । इनसे भिन्न अक्लिष्ट वृत्तियां

----

१ `क्लेशहेतुका: कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूता: क्लिष्टा: । ख्यातिविषया: गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टा ।` --व्यासभाष्य, पृ०३६
२ `क्लिष्टा: दु:खदा: सांसारिक वृत्त्योऽक्लिष्टा: च तद्विपरीता योगकालीन- वृत्त्य: ।` सांख्यप्रवचन भाष्य, पृ० १३१ ।
३ एतदुक्तं भवति पंचवृत्त्य: कीदृश्य: । क्लिष्टा: अक्लिष्टा:, क्लेशैर्वक्ष्यमाणलक्षणैराकृष्टा तद्विपरीताक्लिष्टा: एता एव पंचवृत्त्य: संक्षिप्य उद्दिश्यन्ते ।` पृ०४

विवेकज्ञान को विषय बनाती हैं,क्योंकि विवेकज्ञान से ही चित्त निवृत्त होता है । ये वृत्तियां गुणाधिकार का विरोध करती हैं । गुणाधिकार का अर्थ है-- गुणों की प्रवृत्ति । गुणों की प्रवृत्ति से ही क्लेश होता है, अत: गुणों को निवृत करने वाली वृत्तियों को ही गुणाधिकारविरोधिनी कहा है । किसी आचार्य ने गुणों के कार्यारम्भण रूप अधिकार को स्वीकार किया है जब कार्य ही न होगा, तब उनसे दु:ख या क्लेश होने वे का प्रश्न ही नहीं उठता, इस प्रकार विवेकज्ञान को उत्पन्न करने वाला वृत्तियां ही अक्लिष्ट वृत्तियां कहलाती हैं ।

कुछ आचार्य क्लेशमूलक वृत्तियों को तामसिक और अक्लिष्ट वृत्तियों को सात्त्विक मानते हैं । वस्तुत: सात्त्विक वृत्तियां कि सत्त्वगुण का परिणाम रूप होने से गुणाधिकारविरोधिनी नहीं हो सकती,परन्तु यहां ऐसा प्रतीत होता है कि सात्त्विक से आचार्य का अभिप्राय सत्त्वगुण के परिणाम से नहीं,वरन् विवेकज्ञान से है,क्योंकि ज्ञान को सत्त्व रूप या प्रकाशस्वरूप माना गया है और विवेकज्ञान मोक्षप्रद होने से सात्त्विक है । अत: अक्लिष्ट वृत्तियां इसी अर्थ में सात्त्विक हैं । अब प्रश्न यह है कि वृत्तियां पांच प्रकार की हैं,परन्तु यहां उनका उल्लेख किस क्रम से है । शास्त्रों में प्रमाण का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है और यह ठीक ही है कि प्रमाण चित्त-वृत्ति रूप होने पर भी आत्मज्ञान या विवेक प्राप्ति में सहायक है । श्रुतियों में प्रमाणों को ही ज्ञानप्राप्ति का साक्षात् उपाय कहा गया है-- 'आत्मा-वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्य: निदिध्यासितव्यश्च' क्योंकि प्रमाणों से यथार्थ ज्ञान होता है और साधना की दृष्टि से प्रमाण अधिक महत्त्वपूर्ण है । विवेकज्ञान भी एक प्रकार का यथार्थ ज्ञान ही है । अत: प्रमाण के फलस्वरूप सम्यग्रूपेण जानना अधिक आवश्यक है । रही अन्य तीन विपर्यय,विकल्प और निद्रा की बात । इसमें निद्रा तो तम: प्रधान और तमस् का प्राबल्य होने पर साधना में अनेक बाधाएं या विघ्न होंगे । अत: साधना को सुव्यवस्थित और

सुदृढ़ बनाने के लिए निद्रा वृत्ति का निरोध अत्यन्त आवश्यक है । विकल्प और विपर्यय वस्तुत: मिथ्याज्ञान हैं । वस्तु के अभाव में उसका ज्ञान या पदार्थ का विपरीत ज्ञान भी विवेकज्ञान का साधक है । पंचम वृत्ति है, स्मृति । स्मृति अनुभवजन्य होती है, अत: अनुभव के बाद ही होगी । अनुभव प्रमाण विपर्ययादि से ही प्राप्त होता है, अत: निरोधक्रम में यदि प्रमाणादि का निरोध हो जाय तो स्मृति वृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । उसका निरोध स्वत: सिद्ध है । अत: उसी क्रम से यहां भी इनका निरूपण किया जा रहा है ।

प्रमाण वृत्ति

(क) प्रमाण क्या है ?

उपर्युक्त पांच वृत्तियों के अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रमाण की ही गणना की गई है । अत: सर्वप्रथम प्रमाण पर ही विचार करना आवश्यक है । जहां तक प्रमाणों के स्वरूप का प्रश्न है, वह तो उसकी व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है । 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा प्रमेय का ज्ञान प्राप्त किया जाय, वही प्रमाण है । प्र उपसर्ग पूर्वक मा धातु से ल्युट प्रत्यय लगने से यह शब्द निष्पन्न हुआ, जिसका अर्थ है प्रमा का करण या मुख्य कारण[1] । लगभग सभी आचार्यों ने प्रमा के करण को ही प्रमाण कहा है और यह युक्तिसंगत ही है । योगवासिष्ठ में भी ऐसा ही लक्षण किया गया है--'प्रमाण' उस साधन का नाम है, जिसके द्वारा किसी विषय का प्रमाण (अर्थात् सत्य ज्ञान) होता है[2] । यद्यपि योगसूत्रकार और भाष्यकार ने इसका लक्षण नहीं किया, परन्तु अन्य टीकाकारों ने इसे स्पष्ट किया है । साथ ही योगसूत्र १।७ में 'प्रत्यक्षानुमानागमा:

---

१ प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम् । करणसाधनो ल्युट्। युक्तिदीपिका, पृ० २९ ।

२ 'योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त', पृ०१८६ ।

प्रमाणानि' के प्रमाणानि पद का आचार्यों ने द्विविध अर्थ किया है। एक पद प्रमाणसामान्य का लक्षणपरक है और दूसरा प्रमाणविशेष का है। अर्थात् सूत्र के प्रमाणानि पद में तन्त्र है। तन्त्र का अर्थ है एक बार उच्चरित पद से अनेक अर्थ का बोधन करना। अतः प्रमाणानि पद में 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से दो प्रमाणपदों का एकशेष समझना ही उपयुक्त है। इस प्रकार अज्ञात पदार्थ का ज्ञान ही प्रमा है और प्रमा का करण या साधन प्रमाण है। सांख्यकारिकाओं के टीकाकार वाचस्पति मिश्र भी इसी मत के पोषक हैं[1]। तत्त्वालोक में हरिहरानन्द का और सप्ततिकार का भी यही मत है[2]। सांख्यसूत्रकार भी प्रमाण को प्रमा का करण ही मानते हैं, परन्तु इसे भिन्न शब्दों में स्पष्ट किया गया है--'द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थ-परिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम्'[3] अर्थात् असन्निकृष्ट या अज्ञात अर्थ की परिच्छित्ति या अवधारण ही प्रमा है। वह प्रमा चाहे बुद्धि और पुरुष दोनों का धर्म हो अथवा किसी एक का ही। उस प्रमा का सर्वोत्तम साधन या साधकतम ही प्रमाण है। सूत्र में 'द्वयोरेकतरस्यवापि' पदों के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमा के विषय में दो मत प्रचलित हैं। वे दोनों मत कौन-कौन हैं, यह जानना आवश्यक है। जहाँ तक प्रमा के स्वरूप का प्रश्न है, सभी विद्वानों का मत समान है। सभी अनधिगत तत्त्व के बोध को ही प्रमा मानते हैं। भिन्नता केवल इस बात की है कि कुछ आचार्य बोध शब्द से बुद्धि के बोध्य को और कुछ पौरुषेय बोध का ग्रहण करते हैं। अज्ञात पदार्थ का बोध या ज्ञान मुख्यतः बुद्धि को ही होता है। पुरुष को

---

१ अत्र च प्रमाणमिति समाख्या लक्ष्यपदं, तन्निर्वचनं च लक्षणम्। प्रमीयते-ऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वं गम्यते।', पृ० ६७।

२ 'अनधिगततत्त्वबोधः प्रमा। प्रमायाः करणं प्रमाणम्'--सांख्यतत्त्वालोक, पृ० १५

३ सांख्यसूत्र १।८७, पृ० ६४

तो उसका केवल अभिमान होता है यही बौद्ध बोध है । अर्थात् बुद्धि में होने वाला ज्ञान ही प्रमा है । आचार्य अनिरुद्ध ने इसी मत को स्वीकार किया है[1] । परन्तु इनके विपरीत विज्ञानभिक्षु ने पौरुषेय बोध को प्रमा कहा है । पौरुषेय बोध का अर्थ है, पुरुषगत ज्ञान । अब प्रश्न यह है कि पौरुषेय बोध की प्रक्रिया क्या है? बाह्य वस्तुओं का इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान सर्वप्रथम मन इत्यादि बुद्धि को अर्पित करते हैं, तत्पश्चात् बुद्धि उस ज्ञान के साथ पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है और इस प्रकार पुरुष को भी उस विषय का ज्ञान होता है । यही है पौरुषेय या पुरुषगत बोध । अत: विज्ञानभिक्षु पुरुषनिष्ठ बोध के साक्षात् कारण बुद्धिगत बोध को ही प्रमाण मानते हैं, क्योंकि प्रमा का कारण ही प्रमाण है । विज्ञानभिक्षु का यह मत योगभाष्यकार के मत के अधिक समीप है । प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करके प्रसंगत: प्रमा को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं--'फलमविशिष्ट: पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोध:' अर्थात् बाह्यार्थों का बुद्धिगत बोध प्रमाण है और उसका कार्यभूत पौरुषेय बोध चित्तवृत्ति ही प्रमा है । वाचस्पति ने भी इसी मत को स्वीकार किया है[2] । अन्य टीकाकारों उदासीन, शिवनारायणादि ने बौद्ध बोध और पौरुषेयबोध दोनों को ही प्रमा माना है । परन्तु ये मत मूल टीकाकार वाचस्पति से भिन्न है, क्योंकि वाचस्पति ने कई स्थलों पर इसे स्पष्ट किया है[3] । पुरुष में पड़ने वाला बुद्धिवृत्ति का अनुग्रह या प्रतिबिम्ब ही प्रमा है[4] । इस प्रकार वे बुद्धिवृत्ति और पौरुषेय बोध दोनों को प्रमा

----

१ 'द्वयोरिति इन्द्रियार्थयोर्विद्यमानयो: ..... परिच्छित्ति: प्रमा प्रमिति: फलम् ।' अनिरुद्ध वृत्ति--सूत्र १।८७, पृ० २६।

२ 'तत्र असंदिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्ति:।बोधश्च पौरुषेय: प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति' --तत्त्वकौमुदी, पृ० ६७ ।

३ द्वयो: एकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्ति: प्रमा 'इति सांख्यसूत्रे प्रमाद्वैविध्यस्याभिहितत्वेन बुद्धिवृत्ति: पौरुषेयबोधश्चेत्युभयमपि प्रमेति भाव: ।' पृ० ७३ विद्वत्तोषिणी ।

४ 'अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोध:', पृ० १०३

मानने के लिए सर्वथा अप्रस्तुत है । हां, सांख्यसूत्र १।८७ के `द्वयोरेकतरस्य` पद से ऐसा प्रतीत होता ह कि सूत्रकार को बुद्धिवृत्ति और पौरुषेय बोध दोनों ही प्रमारूप से अभिमत है । विज्ञानभिक्षु ने भी प्रमा के इन द्विविध रूपों को स्वीकार किया है[१] । प्रमाविषयक विचारों में भिन्नता होने के कारण प्रमाणविषयक मतभेद होना स्वाभाविक है अर्थात् बौद्ध बोध को प्रमा मानने पर उसका करण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही प्रमाण होगा और पुरुषनिष्ठ बोध को प्रमा मानने पर बुद्धिवृत्ति ही प्रमाण होगा ।

जहां तक प्रमाण के लक्षण का प्रश्न है, आचार्य भोज ने सर्वथा भिन्न शब्दों से इसका लक्षण किया है-- `प्रमाणलक्षणं तु अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति` अर्थात् विवादरहित पदार्थ का ज्ञान ही प्रमाण है । नागोजी ने भी ऐसा ही लक्षण किया है और `प्रमाकरणं प्रमाणम्` इसका भी समर्थन किया है[२] । इस प्रकार उन्होंने भोज और अन्याचार्यों के एतद्विषयक मत का ऐक्य प्रदर्शित किया है । अत: संक्षेप में प्रमा का करण ही प्रमाण है ।

(ख) प्रमाण के प्रकार

सांख्ययोगदार्शनिकों ने चित्त की प्रमाणरूप चित्तवृत्ति का तीन प्रकारों में विभाजन किया है-- प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द । इनसे भिन्न न्याय, बौद्धादि दार्शनिक चार और पांच प्रमाण मानते हैं । कोई उपर्युक्त तीनों के अतिरिक्त अर्थापत्ति को कोई अभाव को भी प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं, परन्तु सांख्ययोगाचार्यों को तीन ही प्रमाण स्वीकृत है । योगसूत्रकार ने १।७ सूत्र में ही `प्रत्यक्षानुमानागमा:

----

१ `अत्र यदि....... प्रमाभेदेन प्रमाणं भवति ।`, पृ० ६५

२ `अनधिगततत्त्वबोध: प्रमा । तत्करणं प्रमाणमिति सामान्यलक्षणम्। अविसंवादिज्ञानं वा प्रमा ।`, पृ० ६

इन त्रिविध प्रमाणों का उल्लेख किया है । सांख्यसूत्रों में प्रमाण का लक्षण करते समय सूत्र के अन्त में 'त्रिविध' पद का ग्रहण करने से सूत्रकार का मत स्पष्ट हो जाता है । अत: सांख्य और योगशास्त्रों के मूल आचार्य तीन ही प्रमाण मानते हैं ।[1] सभी वृत्तिकार,कारिकाकार और टीकाकारों को भी यही मत अभिमत है । परन्तु सांख्यकारिकाओं के टीकाकार युक्तिदीपिकाकार ने मुख्यरूप से एक ही प्रमाण माना है । एक ही प्रमाण उपाधि के कारण भिन्न-भिन्न आश्रय को प्राप्त होते हैं,अत: भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से कहे जाते हैं । जहां तक प्रमाणों की संख्या का प्रश्न है, यदि एक प्रमाण से ही कार्य हो जाय तो तीन मानने की क्या आवश्यकता । एक ही प्रमाण मानने पर शास्त्र का प्रयोजन पूर्ण न हो सकेगा । शास्त्र तो साधारण जनों के ज्ञान के लिए ही प्रवृत्त हुआ है और प्रमाण साधारण जनों के ज्ञानोत्पादन में उपयोगी ह । अत: उनको ज्ञान-प्राप्ति के लिए तीनों प्रमाणों की आवश्यकता है । अत: लौकिक प्रमाणों की संख्या तीन ही मानना उचित है। आर्ष (आगम) प्रमाण उर्ध्वरेत योगियों का है । वह साधारण या लौकिक जनों के ज्ञान में उपयोगी और समर्थ नहीं । अत: एक ही प्रत्यक्ष नामक प्रमाण को स्वीकार करना उपयुक्त न होगा । लौकायतिक या चार्वाक दार्शनिकों के एक ही प्रमाण मानने में एक आपत्ति है । प्रत्यक्ष प्रमाण से स्थूल पदार्थों पुरुषों आदि का ज्ञान होता है । सूक्ष्म विषयों का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं । किसी अज्ञानी पुरुष के अन्तर्वर्ती विपर्यय अथवा संशय का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं, अत: लौकायतिक उसका ज्ञान प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ होगा । अनुमान

----

१ दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि ।
--कारिका ४,पृ०९६ ।

प्रमाण को स्वीकार करने पर ही उस पुरुष के मिथ्याज्ञानादि का उस पुरुष के आकृति और वचनादि लिंगों से अनुमान सम्भव है। अनुमानप्रमाण को मानने पर भी कुछ ऐसे पदार्थ शेष हैं, जिनका ज्ञान नहीं हो सकता । कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनके विषय में न प्रत्यक्ष ही सम्भव है और न उनका कोई लिंग ही प्राप्त है । अत: अनुमान भी नहीं हो सकता । ऐसे स्थलों पर ज्ञानी ऋषियों वाक्य अर्थात् आप्त जनों के तद्विषयक वाक्यों को ही प्रमाण मानना पड़ता है और यही शब्द प्रमाण है । अत: इन तीनों ही प्रमाणों को मानना आवश्यक है और तीनों को मानने पर ही सांसारिक सभी विषयों का ज्ञान हो सकता है ।

प्रश्न यह है कि सांख्य योगदार्शनिकों को तीन ही प्रमाण क्यों अभीष्ट हैं । वे अन्य अर्थापत्ति अभावादि प्रमाणों को क्यों नहीं स्वीकार करते ? कारिकाकार ने इस प्रश्न का समाधान अपनी चतुर्थ कारिका में 'सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्' पद से किया है । इस पद की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है-- इन तीन प्रत्यक्षानुमानादि में ही अन्य सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है[1] । अन्य आचार्यों का भी ऐसा ही मत है । परन्तु इनसे भिन्न नारायण तीर्थ ने इसका पृथक् ही अर्थ किया है[2] । सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् का अर्थ है पतंजलि आदि ऋषियों को प्रत्यक्षादि तीन ही प्रमाण अभीष्ट होने से तीन ही प्रमाण होते हैं, अन्य उपमानादि नहीं । उपमानादि का प्रत्यक्षादि में ही अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु यह कैसे सम्भव है? यह इन सभी प्रमाणों का

----

१ 'एष्वेव दृष्टानुमानाप्तवचनेषु सर्वेषां प्रमाणानां सिद्धत्वात् अन्तर्भावादित्यर्थः ।', पृ० १०१

२ सर्वैः प्रमाणैः प्रमातृभिः पतंजलिप्रभृतिऋषिभिः सिद्धत्वात् प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानीति स्वीकृतत्वात् ।, पृ० ५

स्वरूप जानने के पूर्व स्पष्ट नहीं हो सकता । प्रत्यक्षादि प्रमाण किसे कहते हैं, इस शंका का पूर्ण समाधान होने के पश्चात् ही यह समझा जा सकता है कि उपमानादि प्रमाणों का किस प्रमाण में अन्तर्भाव सम्भव है और इसी प्रकार अभावादि का भी अन्तर्भाव किनमें होता है । अत: सर्वप्रथम प्रत्यक्षादि का लक्षण आवश्यक है ।

(ग) प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण जानने के पूर्व यह शंका होती है कि सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही क्यों विचार किया जाय ? क्यों न अनुमानादि का प्रथम विवेचन करें ? इस शंका का समाधान अत्यन्त सुगम है । प्रत्यक्ष प्रमाण ही अन्य (अनुमानादि) प्रमाणों का मूल है । अर्थात् अनुमानादि को प्रत्यक्ष की सहायता की अपेक्षा है । अनुमान प्रमाण का आधारभूत व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष के बिना सम्भव नहीं, अत: इस पर ही सर्वप्रथम विचार करना उचित होगा । योगवासिष्ठ में भी प्रत्यक्ष को ही प्राथमिकता दी गई है । आचार्य वसिष्ठ ने भी प्रत्यक्ष को ही परम प्रमाण और अन्य प्रमाणों के आधार रूप से स्वीकार किया है ।

'सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव ।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु ।'[1]

प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है, ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है । जहां तक सांख्यसूत्रकार के प्रत्यक्ष प्रमाण विषयक मत का प्रश्न है । उन्होंने 'यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्'[2] ऐसा लक्षण किया है, अर्थात् चित्त जिस पदार्थ से सम्बद्ध हो

---

१ योगवासिष्ठ २।१९।१६

२ सांख्यसूत्र १।८९, पृ० ६८

उसी पदार्थ के आकार या रूप का परामर्श करने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । अत: बुद्धि के सम्बद्ध विषयानुरूप परिणाम को ही सूत्रकार ने प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है । उनके दोनों वृत्तिकारों --अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने भी इसी मत का समर्थन किया है --`सम्बद्धं भवत् सम्बद्धवस्त्वाकारधारि भवति यद्विज्ञानं बुद्धिवृत्तिस्तत् प्रत्यक्षं प्रमाणमित्यर्थ: ।`[1]

उपर्युक्त आचार्यों से भिन्न कारिकाकार ने कारिका ५ में प्रयुक्त प्रत्यक्ष प्रमाण का `प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं` लक्षण किया है । अर्थात् विषय से सम्बद्ध इन्द्रियों के आधार पर प्राप्त तद्विषयक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । वस्तुत: ईश्वरकृष्ण का मत भी सूत्रकार के समान ही है,परन्तु उन्होंने उसे एक दूसरे रूप में ही प्रस्तुत किया है--`प्रतिविषयाध्यवसायो` पद का सभी आचार्यों ने लगभग एक ही अर्थ किया । तत्त्वकौमुदी गौडपाद,युक्तिदीपिकाकार सभी के अनुसार प्रतिविषय के प्रति शब्द का अर्थ है-- पदार्थ से सन्निकृष्ट इन्द्रिय और पृथ्वी आदि पंच महाभूत अर्थात् सभी स्थूल पदार्थ विषय हैं । इन स्थूल पदार्थों के साथ साथ सूक्ष्म तन्मात्रादि का भी विषय शब्द से कथन हुआ । यद्यपि ये सूक्ष्म तत्व साधारण लौकिक जनों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं,अपितु ये योगियों के ही विषय बनते हैं । `विषय` शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कौमुदीकार कहते हैं-- जो बुद्धि को बांधते हैं या स्वाकार में रंगकर उसे भी तद्रूप बना देते हैं, वे ही विषय कहलाते हैं । प्रतिशब्द विषयों से सन्निकर्ष रूप वृत्ति को प्रकट करता है । अत: पदार्थों से सन्निकृष्ट इन्द्रियों से प्राप्त तद्विषयक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । यह ज्ञान बुद्धि का ही धर्म है ।[2] अत: इस ज्ञान के आकार की वृत्ति ही प्रमाण है । गौडपाद और

---

१ सांख्यप्रवचनभाष्य,पृ०६८

२ `प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां .... प्रत्यक्षमित्यर्थ:` --गौडपादभाष्य,पृ०६

युक्तिदीपिकाकार[1] का भी ऐसा ही मत है । परन्तु इन आचार्यों से इव भिन्न नारायण तीर्थ ने कारिकाकार से भिन्न अर्थ किया है । अर्थ से सन्निकृष्ट इन्द्रियाधीन ज्ञान रूप अर्थ न मानकर, जिसके द्वारा विषय का ज्ञान प्राप्त हो, ऐसी इन्द्रियमात्र को 'प्रतिविषयाध्यवसाय:' पद के अर्थरूप से स्वीकार किया है । इन्द्रियां पदार्थों से सम्बद्ध होकर ज्ञान प्राप्त करती हैं और उस ज्ञान को बुद्धि को समर्पित करती हैं । अत: बुद्धि में उस ज्ञान का अर्पण करने में कारण या करण होने से इन्द्रिय ही प्रमाण है, क्योंकि चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्ट तद्विषयक बुद्धिवृत्ति ही प्रमा है । इसी कारण चन्द्रिकाकार ने इन्द्रियों को ही प्रमाण माना । उनके कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे बुद्धिवृत्ति या बौद्ध बोध को ही प्रमा मानते हैं, और उसके कारण इन्द्रिय को ~~करण~~ करण, परन्तु वास्तविकता यह है कि इन्द्रिय बौद्ध बोध का करण नहीं हो सकती, कारण भले ही हो, क्योंकि यदि इन्द्रिय करण है, इन्द्रिय के रहने पर पदार्थ का ज्ञान बुद्धि को अवश्य ही होना चाहिए, इन्द्रिय का उन पदार्थों से सन्निकर्ष हो अथवा न हो, परन्तु ऐसा नहीं होता । इन्द्रिय हो और पदार्थ भी हो, जब तक उनका सन्निकर्ष न होगा तद्विषयक ज्ञान होना सर्वथा असम्भाव्य है । अत: वस्तुत: बुद्धिवृत्ति का करण इन्द्रिय नहीं, वरन् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष है । हां, यह अवश्य है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के करणरूपेण इन्द्रियों को स्वीकार कर सकते हैं, परन्तु बुद्धिवृत्ति का साक्षात् कारण न होने से वह करण नहीं और करण न होने से इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमाण मानना उपयुक्त नहीं । इसके अतिरिक्त यह तो पूर्णरूपेण स्पष्ट ही हो गया कि प्रमाण एक चित्तवृत्ति है, अत: वह चित्त की ही अवस्थाविशेष है । इन्द्रिय को चित्त की

---

१ 'विषयं विषयं प्रति.....प्रतिविषयाध्यवसाय:' —युक्तिदीपिका, पृ० ३५

अवस्था या वृत्ति के रूपसे नहीं स्वीकार कर सकते । इन्द्रिय चित्त से पृथक् तत्त्व ही है, उनका पृथक् अस्तित्व है । अत: इन्द्रिय चित्तस्वरूप नहीं हो सकती । वृत्ति तो वस्तुत: चित्तस्वरूप ही है, चित्त से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं ।इस प्रकार सांख्यदर्शन में इन्द्रिय प्रमाण रूप चित्तवृत्ति नहीं हो सकती । यद्यपि नैयायिक इन्द्रियों को भी प्रमाण मानते हैं ।उनका प्रमाण विषयक विचार ही भिन्न है । वे प्रमाण को चित्तवृत्ति रूप नहीं मानते । सांख्याचार्यों को मान्य बौद्धबोध रूप प्रमाण को नैयायिक प्रमा या प्रमाण का फल कहते हैं । अत: वे कभी इन्द्रिय,कभी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और कभी निर्विकल्पक ज्ञान इन तीनों को ही करण या प्रमाणरूप से स्वीकार करते हं । अत: सांख्यदर्शन में इन्द्रियां प्रमाण नहीं । इस प्रकार नारायण तीर्थ का उपर्युक्त मत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता ।

अत: यह तो स्पष्ट है कि बुद्धि को इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त बाह्यार्थविषयक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है,परन्तु इसकी प्रमा क्या है? अधिकतर आचार्यों ने इस ज्ञान के साथ बुद्धि के पुरुष में प्रतिबिम्ब को ही प्रमा कहा है[1] । युक्तिदीपिका में भी ऐसा ही लक्षण हुआ । प्रमा और प्रमाण एक ही हैं अथवा प्रमा अर्थान्तर इस विषय पर विचार करना आवश्यक है । यदि यह कहा जाय कि दोनों अनर्थान्तर या एक हैं तब तो करण और कार्य भाव ही सम्भव न होगा । एक ही पदार्थ में करण कार्यभाव का सम्बन्ध सम्भव नहीं, सम्बन्ध सदैव दो के मध्य ही होता है । अत: प्रमा को प्रमाण का अर्थान्तर मानना ही उचित है । प्रमाण और प्रमा के आश्रय में भी भिन्नता है । प्रमाण बुद्ध्याश्रित और प्रमा पुरुषाश्रित । भिन्नाधिकरण वाले पदार्थों का एकत्व सम्भव नहीं । अत: प्रमा और प्रमाण का अर्थान्तरत्व है । इस प्रकार प्रमा और प्रमाण भिन्न है ।

----

१ 'अनेन यश्चैतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोध:' --तत्त्वकौमुदी,पृ० १०३

अब प्रश्न यह है कि लक्षण में 'अध्यवसाय' पद का ग्रहण संशयादि में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति के निराकरण के लिए हुआ, अर्थात् यदि केवल 'प्रतिविषयो दृष्टम्' ही लक्षण हो तो संशयादि ज्ञान अर्थ से सन्निकृष्ट इन्द्रियों से प्राप्त होने के कारण वे भी प्रत्यक्ष कहलायेंगे। अतः यह लक्षण अतिव्याप्तिदोष[1] से दूषित होगा। संशय दोलायमान उभयकोटिक ज्ञान है, अनिश्चित होने के कारण यह प्रमाण नहीं हो सकता, प्रमाण निश्चयात्मक या अध्यवसायात्मक ज्ञान को कहते हैं। अतः लक्षण में अध्यवसाय पद का ग्रहण करना आवश्यक ही है। लक्षण में विषय शब्द का प्रयोग असद्विषयक मिथ्याज्ञानादि के बहिष्कार के लिए है। लक्षण में प्रयुक्त प्रति शब्द बाह्यार्थों से सम्बन्ध को प्रकटकरता है। सम्बन्ध के अभाव में अनुमानादि प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाण हो जायगे। अतः वस्तुतः 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' यह लक्षण उपपन्न ही है।

(घ) योगाचार्यों का एतद्विषयक मत

जहां तक योगसूत्रकार का प्रश्न है, उन्होंने प्रमाण विशेषों का कोई लक्षण नहीं किया, केवल गणना ही की है। पातंजलसूत्रों के प्रमुख भाष्यकार व्यास ने 'विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्' एतादृश लक्षण किया है। अर्थात् इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य पदार्थों से चित्त का सन्निकर्ष होने पर उन पदार्थों को विषय बनाने वाली सामान्य और विशेष रूप पदार्थों की जो विशेषरूप का ज्ञान करने वाली चित्तवृत्ति है, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रकार सभी

---

१ अतिव्याप्ति दोष का लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार किया है--
'अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः' अर्थात् जो लक्षण अपने लक्ष्य के भिन्न या अलक्ष्य में भी व्याप्त हो, वही अतिव्याप्ति दोष से दूषित लक्षण होगा।

पदार्थों का एक सामान्य रूप और एक विशेष रूप इस प्रकार द्विविध रूप हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण इनके सामान्य रूप का नहीं, वरन् विशेष रूप का ज्ञान प्राप्त करता है। सामान्य रूप भी उसमें अवश्य भासित होता है, परन्तु चित्तवृत्ति विशेषरूपात्मक ही होती है। इस प्रकार व्यास ने भी सांख्याचार्यों के मत का ही समर्थन किया है। वे इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते हैं। हां, यह अवश्य है कि वह ज्ञान विशेषविषयक होना चाहिए। क्या कारण है कि 'विशेषावधारणप्रधाना' पद का प्रयोग लक्षण में किया गया है। यदि यह पद निकाल दिया जाय तब प्रत्यक्ष का यह लक्षण अनुमान प्रमाण में अतिव्याप्त होगा। जब बुद्धि और पुरुष का तादात्म्य होता है, बुद्धिवृत्ति या ज्ञान पुरुष में प्रतीत होने लगता है। यह ज्ञान या बुद्धि के ज्ञान का पुरुष में प्रतिबिम्ब ही पौरुषेय बोध है। पुरुष वस्तुतः अपरिणामी है, अतः वह बिम्बरूप से ही बुद्धि के रूप को प्राप्त कर बुद्धि का संवेदन या ज्ञान प्राप्त करता है। यही योगसूत्रकार ने ४।२२ सूत्र[1] में स्पष्ट किया है। अन्य सभी आचार्य विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति और नारायण तीर्थ ने भी इसी मत समर्थन किया है।

(ख) अनुमान प्रमाण

अनुमान प्रमाण का लक्षण सांख्यसूत्रकार ने भी सूत्र १।१०० में इस प्रकार किया है--'प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्' अर्थात् प्रतिबन्ध या व्याप्तिज्ञान से प्रतिबद्ध या व्यापक का ज्ञान ही अनुमान है, ऐसा ही विज्ञानभिक्षु और अनिरुद्ध ने स्वीकार किया है। अब प्रश्न यह है कि व्याप्ति है क्या, जिसके ज्ञान से व्यापक का ज्ञान अनुमान प्रमाण

---

१ 'चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्'--योगसूत्र ४।२२, पृ०८२८

में किया जाता है । व्याप्ति वस्तुत: नित्य साहचर्य को ही कहते हैं । सूत्रकार ने भी स्वयं व्याप्ति का लक्षण किया है--'नियतधर्मसाहित्य-मुभयोरेकतरस्य वा व्याप्ति:' अर्थात् किसी एक पदार्थ का अन्य से अथवा दोनों का दोनों से जो नियतधर्म साहित्य है, उसे ही व्याप्ति कहते हैं । किसी धर्म का दोनों में सदैव एक साथ रहना या एकत्रावस्थिति ही नियत-धर्मसाहित्य है । इस साध्य-साधन में नियतधर्मसाहचर्य रूप व्याप्ति के आधार पर साध्य का ज्ञान करना ही अनुमान प्रमाण है । कारिकाकार ने भी लगभग इसी अर्थ को स्वीकार किया है, परन्तु एक दूसरे ही प्रकार से उसे स्पष्ट किया है[1] । लिंग और लिंगी के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है । लिंग का अर्थ है व्याप्य या जो अपेक्षाकृत कम स्थानों में प्राप्त हो, लिंगि का अर्थ है व्यापक या जो अपेक्षाकृत अधिक स्थानों में प्राप्त है[2] । व्याप्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पति कहते हैं-- जो शंकित और समारोपित द्विविध उपाधियों के कारण नहीं, वरन् वस्तु स्वभाव से ही जिसका साहचर्य हो, उसे ही व्याप्य कहते है और व्याप्य जिससे सम्बद्ध हो उसे व्यापक । जिज्ञासा होती है कि ये शंकित और समारोपित उपाधियां क्या हैं, जिनका तत्त्वकौमुदीकार ने उल्लेख किया है । जब एक वस्तु या दूसरी वस्तु के साथ साहचर्य सम्बन्ध कार्य कारण रूप या स्वाभाविक न होकर कल्पित हो, तब जिसके कारण वह सम्बन्ध कल्पित होता है, उसे उपाधि कहते हैं । अर्थात् जो हेतु साध्य साधन या कार्य-कारण के वास्तविक सम्बन्ध को न बताकर अवास्तविक सम्बन्ध को सिद्ध

---

१ 'तल्लिंगलिंगिपूर्वकम्', पृ० १०२

२ 'लिंगम्-व्याप्यम् । लिंगि-व्यापकम् । .... तद् व्यापकम् ।'

— तत्त्वकौमुदी, पृ० ११०

करता है वही उपाधि है । इन द्विविध उपाधियों का लक्षण सुषमा, विद्वतोषिणी आदि में किया गया । इनका लक्षण करते समय आचार्यों ने न्यायदार्शनिकों की सहायता ली[1] । इस प्रकार अनुमान प्रमाण में उपाधि का निराकरण होता है, अनुमान तो व्याप्तिजन्य ज्ञान है । साध्य और साधन के नित्यसाहचर्य का ज्ञान ही व्याप्ति का पूर्ण ज्ञान है, परन्तु व्याप्ति ज्ञानमात्र से अनुमान प्रमाण सम्भव नहीं, जब तक साधन का पुन: पक्षादि में प्रत्यक्ष न होजाय[2] । अब प्रश्न यह है कि कारिकाकार ने तो अनुमान के लक्षण में पक्ष हेतु के पक्षधर्मताज्ञान को नहीं स्पष्ट किया । कारिकाओं में अनुमान का 'तल्लिंगलिंगिपूर्वकम्' ए लक्षण किया गया, परन्तु आचार्यों ने इस समस्त पद का लिंगि च लिंगी च लिंगिनी लिंग च लिंगिनी च लिंगलिंगिनी लिंगलिंगिनी[3] पूर्वं यस्य तत्' एतादृश विग्रह करके लिंगि शब्द की पुनरावृत्ति की है । अर्थात् लिंग और लिंगी या व्याप्य और व्यापक का नित्यसाहचर्य (व्याप्तिज्ञान) साथ ही पक्ष में लिंग के अस्तित्व का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर ही उस प्रत्यक्षीकृत हेतु से उसके साध्य का अनुमान होता है और यही अनुमान प्रमाण का सामान्य लक्षण है ।

---

१ जिसका साध्य में व्यापकत्व और साधन में अव्यापकत्व प्रत्यक्षसिद्ध या निश्चित न हो वह संदिग्धोपाधि है और जिस स्थल पर साध्य में व्यापकत्व और साधन में अव्यापकत्व प्रत्यक्षसिद्ध या निश्चित हो वहां निश्चितोपाधि होती है । --सुषमा, पृ०३८, का०५

२ 'ननु केवलाद् व्याप्यव्यापकत्वज्ञानादेवानुमितिर्न संभवति, व्याप्यस्य पक्षावृत्तित्वज्ञानमन्तरेणानुमित्यसंभवात् ।', पृ०१३६

३ सुषमा, पृ०३८

(च) योगदार्शनिकों का तद्विषयक मत

योगसूत्रों में अनुमान प्रमाण का कोई लक्षण नहीं किया गया है। प्रमाणों के अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण पतंजलि ने उसका लक्षण करने की कोई आवश्यकता न समझी। अत: उन्होंने सभी का उद्देशमात्र किया[1]। भाष्यकार और टीकाकारों ने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आचार्य व्यास ने 'सामान्यावधारणप्रधाना-वृत्ति: अनुमानम्' ऐसा लक्षण किया है। अनुमान वह वृत्ति या ज्ञान है जिसमें वह्नित्व इत्यादि सामान्य का ही निश्चय होता हो। उन्होंने अनुमान का पूर्ण लक्षण इस प्रकार किया है। अनुमान के विषय या साध्य अग्नि आदि का सदृश स्थलों महानसादि में रहने वाला तथा असदृश या असमान जलह्रदादि में न रहने वाला जो सम्बन्ध या व्याप्ति को विषय बनाने वाली पदार्थों के सामान्य अंश का ज्ञान कराने वाली चित्तवृत्ति ही अनुमान प्रमाण है। अन्य योगाचार्यों नारायणतीर्थादि ने भी व्यास के मत का समर्थन किया है। परन्तु भोज का मत सांख्यकारिकाओं के समान ही है[2]। पदार्थों के साहचर्य रूप सम्बन्ध के ज्ञान से हेतु को पक्ष में देखकर उसके साध्य का सामान्य विषयक ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है।

(छ) अनुमान के प्रकार

अनुमान के प्रकारों के विषय में सांख्य न्यायादि दर्शनों के मत समान हैं। ये सभी अनुमान को तीन प्रकार का स्वीकार करते हैं[3]-- पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। गौतमसूत्र से भी यह स्पष्ट है।

१ 'अत्र अतिप्रसिद्धत्वात् प्रमाणानां शास्त्रकारेण भेदलक्षणेनैव प्राप्तत्वात्-लक्षणस्य पृथक् लक्षणं न कृतम्।', भोजवृत्ति, पृ० २८।

२ गृहीतसम्बन्धात् लिंगात् लिंगिनि सामान्याध्यवसायोऽनुमानम्।', पृ० ४

३ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टम् च। न्यायसूत्र, १।५, पृ० २१

सांख्य और योगदर्शनों के मूलाचार्यों ने अनुमान के प्रकारों का कहीं उल्लेख नहीं किया है, परन्तु विज्ञानभिक्षु ने १।१०३ सूत्र के भाष्य में इन त्रिविध प्रकारों की गणना की है। सांख्यकारिकाओं में ईश्वरकृष्ण ने उपर्युक्त तीन ही प्रकार माने हैं। तत्त्वकौमुदीकार का अनुमान का विभाजन कुछ भिन्न है। वे अनुमान के मुख्य दो प्रकार मानते हैं--वीत और अवीत। इन्हीं दोनों के अन्तर्गत उपर्युक्त त्रिविध प्रकारों का भी समावेश हो जाता है। वीत और अवीत क्या है, इस जिज्ञासा के समाधान के लिए सर्वप्रथम इनका लक्षण करना ही उपयुक्त है। वीत का अर्थ है विशेषरूप से ज्ञात या प्रसिद्ध अर्थात् अन्वयव्याप्ति रूप कारणवाला अनुमान[1]। अन्वयव्याप्ति के आधार पर पक्ष में साध्य की सत्ता सिद्ध करना वीतानुमान और व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर साध्य का पक्ष में निषेध करने वाला अनुमान ही अवीतानुमान होता है[2]। अर्थात् वीत में अन्वयव्याप्ति का प्राधान्य और अवीत में व्यतिरेक व्याप्ति का प्राधान्य होता है। वाचस्पति के इस मत का अन्य टीकाकारों ने भी समर्थन किया। तत्त्व-कौमुदीकार वीतानुमान के भेद रूप से पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमान को स्वीकार करते हैं और अवीत ही शेषवत् है। ये त्रिविध अनुमान क्या हैं? इनका क्या स्वरूप है यह जानना आवश्यक है। जहां तक पूर्ववत् अनुमान का प्रश्न है। अधिकतम दार्शनिकों ने पूर्ववत् का 'पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्' ऐसा विग्रह करके जिसके पूर्व कुछ है ऐसा अर्थ किया है। पूर्व का अर्थ है कारण अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान ही पूर्ववत् अनुमान है-- जैसे मेघोन्नत्या भविष्य-दृष्टिः' मेघ को घिरा हुआ देखकर वृष्टि होने का अनुमान ही पूर्ववदनुमान है,

----

१ 'तत्र वीतम्-वि-विशेषेण इतं ज्ञातं--प्रसिद्धम्--अन्वय व्याप्तिहेतुकमित्यर्थः
..... इत्येवं प्रवर्तमानं सद् यद् विधायकं वस्त्वेव साधकं तद् वीतमित्यर्थः।'
वस्तुसारबोधिनी, पृ० १४०-

२ तत्त्वकौमुदी, पृ० ११३

तत्त्वकौमुदी में पूर्ववदनुमान का 'दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यत् यत् पूर्ववत्' एतादृश लक्षण किया। अर्थात् पूर्ववदनुमान उसे कहते हैं, जिसमें ऐसी वस्तु के सामान्यरूप का ज्ञान हो रहा हो, जिसका विशिष्ट रूप पूर्व ही प्रत्यक्ष हो चुका है। इस लक्षण में प्रयुक्त स्वलक्षण शब्द का अर्थ है असाधारण लक्षण अर्थात् जिस सामान्य पदार्थ का स्वलक्षण या विशेषलक्षण का पूर्व ही प्रत्यक्ष किया जा चुका हो। एतादृश पदार्थ को विषय बनाने वाला अनुमान ही पूर्ववदनुमान है। इसके उदाहरण रूप से हम धूम और अग्नि को ले सकते हैं। पर्वत में धूम को देखकर वह्नित्व सामान्य से अवच्छिन्न वह्निविशेष का अनुमान करना ही पूर्ववद् है। इस अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है--'धूमाद्वह्नित्वसामान्य-विशेषः पर्वतेऽनुमीयते, तस्य वह्नित्वसामान्यविशेषस्य स्वलक्षणं वह्निविशेषो दृष्टो रसवत्याम्।'[1] इसमें प्रयुक्त वह्नित्वसामान्यविशेष: पद के अर्थ में मतभेद है। कुछ टीकाकारों --बलराम, शिवनारायणादि ने इसके अर्थ रूप से ऐसे वह्नित्व को स्वीकार किया है, जो सामान्य और विशेष उभयरूप है, परन्तु यह उपयुक्त नहीं, क्योंकि जब पर्वत में धूम को देखकर वह्नि का अनुमान होता है कि पर्वत में वह्नि है, न कि यह भी कि वह्नि किस आकार की या कितनी ऊंची है। वह्नि का आकारादि का ज्ञान ही वह्नि का विशेषरूप का ज्ञान होगा। अत: अनुमान प्रमाण में वस्तु के सामान्यविशेष द्विविध रूपों का ज्ञान होता है। यह कहना उपयुक्त नहीं। हां यह अवश्य है कि जिस पदार्थ का अनुमान हुआ वह अवश्य ही सामान्यविशेषात्मक होगा। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि बलराम, शिवनारायण आदि का अभिप्राय भी ऐसा ही है। इस प्रकार वह्नित्वसामान्यविशेष: पद का कुछ भी अर्थ हो, परन्तु यह मानना ही होगा

---

१ तत्त्वकौमुदी, पृ० ११३

कि अनुमान में वस्तु के सामान्य या जातिपरक अंश का ही ज्ञान होता है न कि विशेष अंश का। अतः अनुमान का विषय वह्नित्व रूप सामान्य ही है। योगभाष्य में व्यास ने भी 'सामान्यावधारणप्रधानावृत्तिरनुमानम्' ऐसा लिखा है। इनके विपरीत सुषमाकार ने इस मत का खण्डन किया।[1] वे वह्निमात्र को अनुमान का विषय मानते हैं, वह्नित्व को नहीं। उनका यह कथन सर्वसाधारण की अनुभूति के आधार पर किया गया, क्योंकि अनुमान काल में 'पर्वतेवह्निमनुमिनोमि' ऐसा ही अनुमान होता है न कि वह्निविशेष का। जिज्ञासा यह है कि यदि वह्निमात्र को ही अनुमान का विषय मानें तब तो योगाचार्यों से विरोध होगा, क्योंकि वे वह्नित्व इत्यादि सामान्य के निश्चय को ही अनुमान प्रमाण मानते हैं। इसका भी समाधान सुषमाकार ने किया है-- योगभाष्य से उनका कोई विरोध नहीं, क्योंकि योगदार्शनिकों के सामान्यावधारण प्रधाना वृत्तिः का अर्थ वह्नित्व आदि सामान्य से न होकर, सामान्यरूप से ही वह्नि आदि के ज्ञान से है। अतः वे भी वह्निमात्र को ही अनुमान का विषय मानते हैं, वह्नित्व को नहीं। इस प्रकार सुषमाकार का मत हमारे अनुभव के अधिक निकट और युक्तिसंगत है। नारायणतीर्थ ने भी इसी मत का समर्थन किया।[2] इसप्रकार यद्यपि पूर्ववदनुमान के तत्त्वकौमुदी प्रतिपाद्य लक्षण को सभी आचार्य मानते हैं, परन्तु सामान्य के विषय में इनका पर्याप्त मतभेद है।

जहां तक सामान्यतोदृष्ट अनुमान का प्रसंग है चन्द्रिका में नारायणतीर्थ ने कार्य और कारण से भिन्न हेतु के आधार पर साध्य के अनुमान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा है। परन्तु तत्त्वकौमुदी

---

१ केचित्तु..... उपेक्षितम्' --सुषमा, पृ०४०

२ साध्यस्य सामान्यात्मना अध्यवसायोऽनुमानम्' --योगसिद्धान्तचन्द्रिका,

में वाचस्पति ने पूर्ववत् से विपरीत अर्थात् अदृष्टस्वलक्षणसामान्यं ऐसा लक्षण किया है। अत: सामान्यतोदृष्ट का विषय वह सामान्य पदार्थ है, जिसका असाधारण या विशिष्ट रूप पहले देखा न गया हो, जैसे इन्द्रिय-विषयक अनुमान। रूप रस आदि क्रियाएं क्रिया होने से अवश्य ही करण से युक्त होंगी, 'या या क्रिया सा सा करणवती' ऐसा नियम होने से। अत: रूपादि क्रियाओं को भी करण से युक्त ही मानना होगा। इसप्रकार रूपादि क्रियाओं के करण रूप से इन्द्रियों का अनुमान होता है, परन्तु इनके विशेष रूप रूप अर्थात् इनको अपना कार्य या व्यापार करते हुए किसी व्यक्ति ने कभी इनका प्रत्यक्ष नहीं किया। अर्थात् इन्द्रियत्वसामान्य का व अपना विशिष्ट रूप व कभी प्रत्यक्षगोचर नहीं होता। क्योंकि इन्द्रियां तो सदा अतीन्द्रिय हैं। इस प्रकार इन्द्रियविषयक उपर्युक्त अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान ही है।

शेषवदनुमान जैसा कि इस शब्द से ही स्पष्ट है, शेष या बचे हुए को अपना विषयम बनाता है। इस अनुमान का उदाहरण देते हुए वाचस्पति ने न्यायभाष्य वे की भी सहायता ली। न्यायभाष्य की एक पंक्ति को उद्धृत किया और तदनुसार ही उसका लक्षण भी किया। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि वे न्यायभाष्यकार वात्स्यायन से बहुत प्रभावित है। अत: शेषवत् अनुमान एक ऐसी चित्तवृत्ति है जो शेष को ही विषय बनाती है। इसी को स्पष्ट करते हुए वात्स्यायन[1] कहते हैं— 'स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्रा-प्रसंगाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्यय:' अर्थात् परिशेषानुमान उसे कहते हैं, जिसमें किसी वस्तु का जहां प्रसंग या सम्भावना होती है, वहां उसका निरोध होने पर तद्भिन्न स्थल में इनका प्रसंग ही न होने के कारण जो शेष पदार्थ है, उसी के ज्ञान के आकार की चित्तवृत्ति को परिशेषानुमान कहते हैं। जैसे शब्द गुण

---

१ न्यायभाष्य, पृ० २२

है,अत:उसका आश्रय द्रव्य ही हो सकता है । द्रव्य कितने हैं और उनमें से कौन सा द्रव्य शब्द का आश्रय है यही निश्चय करना है । न्यायवैशेषिक द्रव्यों की संख्या नौ ही मानते हैं,उनमें से पृथ्वी आदि शब्द का आश्रय हो नहीं सकते । इस प्रकार शब्द के आश्रय रूप से आकाश नामक एक नवम् द्रव्य का अनुमान होता है । यही है परिशेष अनुमान,क्योंकि इसमें द्रव्यत्व जाति का प्रसंग है, अत: सभी द्रव्य प्रसंगवश प्राप्त हैं,परन्तु इन आठ द्रव्यों का निषेध हो जाता है और द्रव्य से भिन्न सामान्यादि का यहां प्रसंग ही नहीं शब्द गुण का आश्रय द्रव्य ही हो सकता है,अत: द्रव्य से भिन्न पदार्थों में प्रसंग न होने से नवम द्रव्य आकाश ही शेष है । अत: इस आकाश का ही शब्द के आश्रय रूप से अनुमान होता है । अत: संक्षेप में यही अनुमान है । इस प्रकार अनुमान वृत्ति का निरूपण समाप्त हुआ ।

(ज)आप्त वचन

आप्त प्रमाण को ही शब्द प्रमाण कहते हैं । इस विषय में सभी आचार्यों का मतैक्य है । आप्त जनों के वाक्य या उपदेश के आकार की चित्तवृत्ति ही आप्त प्रमाण है । यद्यपि सूत्रकार[1] ने आप्तजनों के उपदेश को ही शब्द प्रमाण कहा है,परन्तु यह युक्तिसंगत नहीं,क्योंकि प्रमाण एक चित्तवृत्ति है और उपदेश कोई चित्तवृत्ति नहीं,वह तो वाक्यरूप ही हो सकता है । अत: भाष्यकार ने इसका अर्थ वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान ही लिया है । कारिकाकार ने भी सूत्रकार के मत का समर्थन किया है । 'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु' अर्थात् आप्त श्रुति ही आप्त वचन नामक प्रमाण है । 'आप्त श्रुति:' पद का अर्थ क्या है, इस विषय में मतभेद है । कुछ आचार्य गौडपाद,नारायणतीर्थादि इसका अर्थ आप्तजनों के वाक्य या श्रुति से लेते हैं। आप्तजन कौन होते हैं-- जिस व्यक्ति को शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सम्यग्प्रकारेण ज्ञात हो अर्थात् जिस व्यक्ति ने वाक्यार्थज्ञान सम्बन्ध का प्रत्यक्ष किया हो

[1] 'आप्तोपदेश: शब्द:' सांख्यसूत्र १।१०१,पृ०७५

वही आप्तजन है[1]। चरकसंहिता में भी आप्तजनों का ईदृश वर्णन हुआ है। जिनका सर्वविषयों में तर्करहित, निश्चयात्मक ज्ञान रहता है, जो त्रिकालदर्शी है, जिनकी स्मरणशक्ति कदापि नष्ट नहीं होती, जो राग-द्वेष के वश में नहीं होते और जो पक्षपातशून्य हैं वे आप्त हैं[2]। परन्तु इन सभी से भिन्न वाचस्पति ने आप्तजनों के वाक्यों को ही प्रमाण मानना उचित नहीं समझा। उन्होंने 'आप्तश्रुतिः' पद का 'प्राप्ता आप्ता युक्तेति यावत्। आप्ता चाऽसौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः। श्रुतिः वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्' अर्थ किया है। अतः आप्त या यथार्थ श्रुति अथवा वाक्य से उत्पन्न वाक्य के अर्थ के ज्ञान को ही शब्द प्रमाण कहा है। इस प्रकार यथार्थविषयक वाक्यार्थों के आकार की चित्तवृत्ति या चित्त का व्यापार ही शब्द प्रमाण है।

इस प्रकार वाक्यजन्य ज्ञान के आकार की चित्तवृत्तियां बोद्ध बोध ही आचार्य को शब्द प्रमाण रूप से अभिमत है और यही युक्तिसंगत भी है। इनके सभी टीकाकारों ने भी इस मत को स्वीकार किया, परन्तु इनसे भिन्न युक्तिदीपिकाकार का कुछ भिन्न ही मत है। उन्होंने आप्तश्रुति शब्द का द्विविध अर्थ किया है, परन्तु एक ही पद कैसे ~~तीन~~ दो अर्थ दे सकता है, क्योंकि 'प्रत्यर्थं शब्दाः भिद्यन्ते' ऐसा नियम है। अतः 'आप्तश्रुतिः' पद में 'आप्तश्रुतिश्चाप्तश्रुतिश्चाप्तश्रुतिः' इस प्रकार दो पदों का 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इस पाणिनीय सूत्र से अथवा जतुकाष्ठन्याय से एक रूप मानकर एक ही आप्तश्रुति पद प्रयुक्त हुआ। अतः ~~तीन~~ दो एकाकार पदों का एकशेष होने के कारण यह द्विविध अर्थ देता है।

---

१ 'आप्तिः साक्षादर्थप्राप्तिर्यथार्थोपलम्भः तया वर्तत इत्याप्तः साक्षात्कृत-धर्मा यथार्थाप्त्या श्रुतार्थ ग्राही तदुक्तमाप्तवचनम्।' माठरवृत्ति, पृ० १२

२ 'देवी भागवतांक' (कल्याण), पृ०५। चरकसंहिता--विमानस्थान ४।४

वे दोनों अर्थ इस प्रकार हैं-- प्रथम अर्थ है,आप्तजनों की श्रुति या वचन । आप्तजन का अर्थ वे रागादि से वियुक्त जनों से लेते हैं । इनके द्वारा गृहीत वचन ही आप्तवचन है । द्वितीय आप्तश्रुति का अर्थ है-- मनु आदि द्वारा प्रणीत स्मृति,वेदांग,तर्क, इतिहास,पुराणादि शिष्टों का नाना शिल्पादि से युक्त अदुष्ट मन वाले जनों का जो वचन है,वही आप्तवचन है । इनवचनों के आकार की साधक की चित्तवृत्ति ही आप्तप्रमाण है ।

(क) योगाचार्यों का एतद्विषयक मत

योगभाष्यकार व्यास ने `आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वा ऽर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते । शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः `ईदृश लक्षण किया । इस प्रकार व्यास को भी आप्तजनों के द्वारा दृष्ट पदार्थों का उनके ही द्वारा किए गए वर्णन के आकार की चित्त-वृत्ति ही शब्दप्रमाणरूप से अभिमत है । परन्तु इनके विपरीत भोज ने राजमार्तण्ड में आप्तवचन को ही आगम प्रमाण कहा है[१] । जहां तक आप्त-जनों का प्रश्न है विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति मिश्र दोनों ने हीआप्त जनों का स्वरूप स्पष्ट किया है । वाचस्पति कहतेहैं-- यथार्थ विषय का कारुण्य तथा इन्द्रियदोषादि से रहित जनों से जो सम्बन्ध होता है,वही आप्ति है और इस आप्ति के द्वारा प्रेरित होकर कर्म करने वाला व्यक्ति ही आप्त पुरुष है[२] । विज्ञानभिक्षु ने भी लगभग इसी का समर्थन किया है । अतः सभी दोषों से रहित सर्वथा विश्वसनीय पुरुष ही आप्त है और उनके वचनों के आकारकी चित्तवृत्ति आप्त या आगम प्रमाण । भावागणेश और

---

१ `आप्तवचनमागमः` भोजवृत्ति,पृ०४

२ `तत्त्वदर्शनकारुण्यकरणपाटवाभिसंबन्धः आप्तिः,तया सह वर्तत इत्याप्तः ..... ।`--तत्त्ववैशारदी,पृ०१० ।

हरिहरानन्द ने भी[1] चित्तवृत्ति को ही शब्द प्रमाण माना है, आप्तजनों के वचनमात्र को नहीं। यही उपयुक्त भी है, क्योंकि सांख्ययोग दर्शनों का प्रमाण चित्तवृत्ति रूप है।

अन्य प्रमाणों का इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव

इस प्रकार उपर्युक्त त्रिविध प्रमाणों का विचार किया जा चुका है। ये तीन ही सांख्ययोगदार्शनिकों को मान्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य दार्शनिक न्याय वैशेषिकादि उपमान और अर्थापत्ति को भी प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं। अतः उनके अनुसार तीन ही प्रमाण मानना पर्याप्त नहीं, परन्तु सांख्ययोग आचार्य उपर्युक्त तीन ही प्रमाणों में उपमानादि का अन्तर्भाव मानते हैं। अब प्रश्न यह है कि उपमान का अन्तर्भाव किस प्रमाण में और कैसे हुआ? जहां तक उपमान प्रमाण के अन्तर्भाव का प्रश्न है, सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने उपमान प्रमाण को आगम ही कहा है, परन्तु उपमान के स्वरूप के ज्ञान के अभाव में यह कहना उपयुक्त नहीं। उपमान के विषय में नैयायिक कहते हैं-- 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' अर्थात् प्रसिद्ध या ज्ञात गौ आदि पदार्थ के सादृश्यकथन के द्वारा साध्य या अप्रसिद्ध पदार्थ गवयादि का बोध कराना ही उपमान प्रमाण है। इस प्रकार वे 'यथा गौस्तथा गवयः' इसको ही उपमान कहते हैं, परन्तु सांख्य दार्शनिक इसे उपमान प्रमाण मानने को किंचिदपि प्रस्तुत नहीं। यह वाक्य गुरु आदि के द्वारा कहा जाने के कारण आप्त वाक्य ही होगा और आप्तवाक्य होने से इससे उत्पन्न ज्ञान आगम प्रमाण ही होगा। अतः आगम से भिन्न उपमान नामक प्रमाण मानने से क्या लाभ?

---

1 'योग्यशब्दजन्या वृत्तिश्च शब्दप्रमाणमिति'--भावागणेश

'आप्तोक्तशब्दश्रवणाद् यः श्रोतुस्तदर्थनिश्चयः।
प्रमाणमागमः सः स्याद् यः सिध्येदविचारतः।

--योग का० २५, पृ० ७४

यदि हम न्यायवार्तिककार के उपमान के लक्षण को स्वीकार करें अर्थात् `समाख्या सम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमानार्थ:` या `समाख्या` या शब्द का ज्ञान ही उपमान प्रमाण का फल या उपमिति है तथापि उपमान प्रमाण को स्वीकार करना आवश्यक नहीं । वाचस्पति उपमान के फल या `अर्थ गवयशब्दो गोसदृशस्य पिण्डस्य वाचक:` इस उपमिति को भी अनुमिति या अनुमान का फल ही मानते हैं । शंका इस बात की है कि यह उपमिति कैसे अनुमिति हो सकती है और अनुमिति हो भी परन्तु इसके अनुमान का स्वरूप क्या होगा ? वाचस्पति अनुमान का स्वरूप भी स्पष्ट करते हैं--गवय शब्द गौ सदृश पिण्ड का वाचक है, यह हुआ प्रतिज्ञा वाक्य । क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषों के द्वारा जो शब्द जिस पदार्थ या वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है, वह अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा आदि अन्य वृत्ति के न होने पर उसी का वाचक होता है । यह हेतु है । `जैसे गौशब्द गोत्व का` यह है उदाहरण और गवय-शब्द गौसदृश पिण्ड के लिए प्रयुक्त होता है, यह हुआ उपनयवाक्य तथा अन्त में `गवय शब्द गौ सदृश पिण्ड का ही वाचक है` यह निगमन वाक्य है[1] । इस प्रकार इस अनुमान वाक्य से स्पष्ट है कि उपमान प्रमाण की कोईआवश्यकता नहीं । जिसे नैयायिक उपमान प्रमाण कहते हैं वह वस्तुत: अनुमान ही है । इसप्रकार उपमान का अनुमान में ही अन्तर्भाव है या यह कहिए उपमान अनुमान प्रमाण ही है इससे भिन्न कुछ नहीं अब प्रश्न है अर्थापत्ति का । अर्थापत्ति का लक्षण मीमांसकों ने किया है, क्योंकि वे इसे उपर्युक्त तीनों से भिन्न प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं । कोई सांख्ययोगाचार्य इन्हें स्पष्ट नहीं करते केवल उदाहरण देकर ही उसका खण्डन करते हैं । तत्त्वविभाकर में वंशीधर ने अर्थापत्ति का एतादृश लक्षण किया है[2] -- जिसके द्वारा अर्थ की कल्पना हो उसे ही अर्थापत्ति

---

१ तत्त्वकौमुदी, पृ० १२६ ।

२ `अर्थस्यापत्ति: कल्पना यस्मात्.... येन विना यदनुपपन्नं तदुपपाद्यमित्यर्थ:`
पृ० १७६ ।

प्रमाण कहते हैं, उपपाद्यज्ञान से उत्पन्न उपपादक का ज्ञान ही अर्थापत्ति है और उसका साधन अर्थापत्ति प्रमाण । तत्त्वकौमुदीकार का भी ऐसा ही मत है--`जीवतश्चैत्रस्यगृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पनमर्थापत्तिरभिमता वृद्धानाम्` अर्थात् जीवित चैत्र का घर में अभाव होने से उसका बाहर अस्तित्व आवश्यक ही है,क्योंकि कोई भी सत् पदार्थ एक स्थान पर नहीं है तो अन्यत्र अवश्य होगा,क्योंकि वह सत् है और सत् की सत्ता या अस्तित्व अनिवार्य है । यही है अर्थापत्ति प्रमाण परन्तु सांख्य योगी जन इसे भी अनुमान ही मानते हैं, क्योंकि सत् होते हुए भी चैत्र के घर में न होने से ही उसके बहिरस्तित्व का ज्ञान होता है । अत: उसके बाह्य अस्तित्व में गृहाभाव ही लिंग है और इसी हेतु से बहिर्भाव का अनुमान अनुमान होता है । यदि यह कहें कि गृहाभाव रूप हेतु ही असिद्ध है-- यह भी उचित नहीं है । घर में चैत्र का अभाव तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है-- प्रत्यक्ष सिद्ध होने से यह सोचना कि चैत्र घर में भी हो सकता है, सर्वथा असिद्ध है, अत: गृहाभाव अनुमान का सद्हेतु है हेत्वाभास नहीं । यदि यह कहें कि चैत्र घर में नहीं है तो कहीं न होगा । यह भी अयुक्त है,क्योंकि वह जीवित या सत् है, अत: उसका कहीं न कहीं अस्तित्व तो अनिवार्य ही है । क्योंकि `सदा सत्वव्यापक:` सन्नेकत्र नास्ति तदान्यत्रास्ति । यदा व्यापक एकत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्ति ।` ऐसी व्याप्ति है अत: चैत्र भी घर में न होने पर कहीं न कहीं होगा । अत: गृहाभाव प्रत्यक्ष सिद्ध है । इस हेतु के आधार पर चैत्र की बाहर सत्ता का भी निराकरण करना उचित व नहीं, ------------------------------

क्योंकि गृहाभाव का घर के अभाव से विरोध है न कि भावमात्र से । विरोध एकविषयक होता है,यहां विरोध के विषय घर और बाहर दो स्थल है,अत: भिन्नविषयक होने से इनके विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता ।

इसके अतिरिक्त अभाव सम्भवादि अन्य प्रमाण भी कुछ दार्शनिकों को मान्य है,परन्तु सांख्य और योगी अभाव का भी प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करते हैं । भूतलादि में घटादि का अभाव स्वीकार करने के लिए ही अभाव प्रमाण माना गया । परन्तु वस्तुत: घट का भूतल में अभाव भूतल का ही परिणामविशेष है । सभी पदार्थ चिति तत्त्व पुरुष को छोड़कर अन्य सभी तत्त्व परिणामी है । और भूतल का परिणाम घटाभाव इन्द्रिय (चक्षुरूप) से ग्राह्य है । अत: इन्द्रियग्राह्य होने से यह भी प्रत्यक्ष ही होगा। अत: अभाव भी प्रत्यक्ष का विषय होने से अभाव प्रमाण को मानने की कोई आवश्यकता नहीं ।

सम्भव प्रमाण इस प्रकार [illegible] का होता है-- 'खार्यां द्रोणाढकप्रस्थाद्यवगम:' अर्थात् खारी में द्रोण आढक प्रस्थादि का सद्भाव सम्भव है,अर्थात् खारी में ये अल्प परिमाण वाले पदार्थ रह सकते हैं परन्तु यह भी अनुमान ही है,क्योंकि खारी का अस्तित्व बिना द्रोण आढकादि के सम्भव नहीं, अत: खारी को देखकर द्रोण आढकादि के अस्तित्व का तो अनुमान होता ही है । इस प्रकार पौराणिकाभिमत सम्भव भी पृथक् प्रमाण नहीं ।

जहां तक ऐतिह्य प्रमाण का प्रश्न है सांख्य योगदार्शनिक ऐतिह्य को प्रमाण मानने को प्रस्तुत नहीं ऐतिह्य वस्तुत: परम्परागत जनश्रुति ही है । जब इस श्रुति के वक्ता का पता ही नहीं तो यह आप्त वाक्य भी नहीं हो सकती,अत: यह आप्त या आगम भी नहीं और निश्चित वक्ता के अभाव में यह प्रमाण कहलाने की अधिकारी भी नहीं

~~और निश्चित वक्ता के अभाव में यह प्रमाण कहलाने की अधिकारी भी नहीं~~,
अत: ऐतिह्य प्रमाण नहीं है । इस प्रकार सांख्ययोगदार्शनिकों को मुख्यत: तीन ही प्रमाण अभिमत है, इन्हीं तीनों में अन्य सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है । इन तीन प्रमाणों के द्वारा सभी पदार्थों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

अत: उपर्युक्त विवेचन के अनुसार उपमान प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव हो गया । इसी प्रकार अर्थापत्ति का भी अनुमान प्रमाण में, अभाव का प्रत्यक्ष में और सम्भव का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव हो जाता है । इस विषय को तत्त्वकौमुदीकार ने अत्यन्त सरल भाषा में स्पष्ट किया है और उनके अन्य टीकाकारों ने भी इसकी प्रचुर व्याख्या की है, अत: इसे यहां स्पष्ट करना आवश्यक नहीं ।

विपर्यय वृत्ति

प्रमाण वृत्ति के पश्चात् विपर्यय का ही प्रसंग है । विपर्यय भी एक चित्तवृत्ति है । विपर्यय ज्ञान क्या है, यह अत्यन्त स्पष्ट है । सभी आचार्य अविद्या, अज्ञान या मिथ्याज्ञान को ही विपर्यय कहते हैं । सांख्य-सूत्रकार ने विपर्यय का लक्षण करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी, परन्तु तत्त्वकौमुदी में 'तत्र विपर्यय: अज्ञानमविद्या साऽपि बुद्धिधर्म:'[1] अर्थात् अविद्या को ही विपर्यय कहा गया । अर्थात् तत्व का विपरीत ज्ञान ही विपर्यय ज्ञान है । योगसूत्रकार ने इसे सूत्र १।८ में[2] स्पष्ट किया है कि पदार्थ के रूप से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित (भ्रमज्ञान) पदार्थ के रूप में अप्रतिष्ठित या (अनिश्चित ज्ञान, संशय) मिथ्याज्ञान ही विपर्यय है । इस प्रकार विपर्यय के इस लक्षण के अन्तर्गत भ्रमज्ञान और संशय दोनों का ही अन्तर्भाव हो जाता है । लक्षण में प्रयुक्त

---

१ तत्त्वकौमुदी, पृ० २८८

२ 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्' --योगसूत्र १।८, पृ० ५६

'अतद्रूपप्रतिष्ठम्' पद का द्विविध विग्रह करने पर एक संशय के पक्ष में और एक भ्रमज्ञान के पक्ष में होगा। अर्थात् जब हम इसका विग्रह 'तस्य रूपमिति तद्रूपम्, न तद्रूपम् इति अतद्रूपम् तथा अतद्रूपे प्रतिष्ठा यस्य तत् ज्ञानमिति अतद्रूपप्रतिष्ठम्' इस प्रकार करेंगे, अर्थात् जो तद्भिन्न रूप से या जो अपने से विपरीत रूप में प्रतिष्ठित हो, ऐसे मिथ्याज्ञान को ही विपर्यय कहते हैं। ऐसा विपरीत ज्ञान ही भ्रमज्ञान है। इस विषय में नञ् समास के विविध अर्थों पर विचार करना होगा। नञ् समास के विविध अर्थ हैं, परन्तु मुख्य दो ही अर्थ हैं,-- पर्युदास और प्रसज्यक। ये द्विविध अर्थ इस श्लोक से स्पष्ट है--

'द्वौ नञर्थौ समाख्यातौ पर्युदास प्रसज्यकौ,
पर्युदासः सदृक्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत।'

इस प्रकार पर्युदास और प्रसज्यक इन द्विविध अर्थों में पर्युदास तत्सदृश अन्य का ज्ञान कराता है। अतः उपर्युक्त भ्रमज्ञान के पक्ष में यही अर्थ प्रयुक्त है। क्योंकि भ्रमज्ञान में तत्सदृश अन्य वस्तु का ही यथार्थ ज्ञान होता है। इसप्रकार भ्रम भी विपर्यय है। अतः अतद्रूपप्रतिष्ठम् के प्रथम विग्रह में पर्युदासरूप विधिपरक अर्थ ही ग्राह्य है।

नञ का दूसरा अर्थ है प्रसज्यक जो निषेधपरक होता है जैसे 'अतद्रूपप्रतिष्ठम्' में तस्य रूपम् इति तद्रूपे, तद्रूपे प्रतिष्ठा यस्य तत् तद्रूपप्रतिष्ठम् न तद्रूपप्रतिष्ठमिति अतद्रूपप्रतिष्ठम्' जो उसके यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित न हो या जो यथार्थ रूप से अनिश्चित हो वही अतद्रूपप्रतिष्ठ है। इस प्रकार इस पद का विग्रह करने पर विपर्यय के अन्तर्गत संशय को भी स्वीकार करना होगा। अतः भ्रम और संशय दोनों ही विपर्यय ज्ञान है। केवल भ्रम या केवल संशय ही नहीं। इस प्रकार वास्तव में ज्ञेय से भिन्न या

अयथार्थ रूप ज्ञान के आकार की चित्तवृत्ति ही विपर्यय वृत्ति है । व्यास, भोज, विज्ञानभिक्षु आदि सभी ने विपर्यय में भ्रम और संशय दोनों को ही स्वीकार किया है । यदि यह कहें कि विपर्यय को पृथक् वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता, प्रमाण में ही इनका अन्तर्भाव क्यों नहीं हो जाता । कारण यह है कि प्रमाण यथार्थवस्तु का ज्ञान करता है, परन्तु विपर्यय अयथार्थ पदार्थ का जैसे स्थाणु को देखकर यह ज्ञान होता है कि यह स्थाणु है अथवा पुरुष । इस प्रकार यह अयथार्थ वस्तु का ज्ञान ही विपर्यय है, क्योंकि वास्तव में तो वह स्थाणु है पुरुष आदि नहीं ।

विपर्यय के प्रकार

विपर्यय वृत्ति मुख्यत: पांच प्रकार की होती है-- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेषाभिनिवेश । सांख्यसूत्रकार के अतिरिक्त अन्य सभी सांख्य योग दार्शनिकों ने भी इसी मत का समर्थन किया है[1] । सूत्रकार ने 'विपर्ययभेदा: पंच' इस सूत्र में विपर्यय को पांच भेदों वाला कहा है[2] । यद्यपि उन्होंने पांचों भेदों का नाम से कथन नहीं किया । विपर्यय को क्लेश भी कहते हैं । ये सदैव कष्टदायक होते हैं । इनके उपर्युक्त पंच प्रकारों में अविद्या ही प्रमुख है, अत: सर्वप्रथम इनका ही वर्णन योगसूत्रकार ने किया है । अनित्य, अशुचि, दु:ख और अनात्म पदार्थों में नित्य-शुचिसुख और आत्म की भावना रखना ही अविद्या नामक चित्तवृत्ति है[3] ।

----

१ 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा: क्लेशा:' --योगसूत्र २।३, पृ० २७३

२ 'सांख्यसूत्र ३।२७, पृ० १५३

३ 'अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' -योगसूत्र २।५, पृ० २८७।

तत्त्वकौमुदीकार के अनुसार आठ अव्यक्तमहदहंकार और पंचतन्मात्राओं आदि अनात्म पदार्थों में आत्मा की बुद्धि ही अविद्या है । अविद्या को तम भी कहा जाता है । ये आठ प्रकार की होती हैं । योगवासिष्ठ में भी अविद्या का लक्षण किया गया है । जब वस्तुत: विद्यमान न होते हुए भी आत्मा से अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्व का भान होने लगे, उसे ही अविद्या कहते हैं[1] । इसे अविद्या इसलिए कहते हैं, क्योंकि ज्ञान होने पर यह विद्यमान नहीं रहती[2] । अविद्या अनन्त प्रकार की होती है[3] । अविद्या चित्त की एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण वृत्ति है । अत: चित्त में इसी का प्राधान्य होने से चित्त को ही अविद्या शब्द से कहा जाता है । चित्त को ही सम्पूर्ण आडम्बर उत्पन्न करने वाला समझना चाहिए ।

विपर्यय वृत्ति का दूसरा प्रकार है अस्मिता । अस्मिता का अर्थ है दृक् शक्ति पुरुष और दर्शन शक्ति बुद्धि इन द्विविध शक्तियों की एकात्मता या अभिन्नता की सी प्रतीति ही अस्मिता है[4], अर्थात् यद्यपि दृक् पुरुष अपरिणामी शुद्ध, नित्य और चेतन है और इनके विपरीत बुद्धि प्रतिक्षण परिणामी, अनित्य और जड़ इन दोनों के अत्यन्त भिन्न होने पर भी अज्ञानवश अभिन्नता का अनुभव ही अस्मिता है । इसको ही मोह भी कहते हैं । अविद्या के समान इसके भी अष्ट अवान्तर प्रकार होते हैं ।

सुख के पश्चात् अन्त:करण में रहने वाली तत्सजातीय सुख के प्रति अभिलाषाविशेष ही राग रूप चित्तवृत्ति है । राग को महामोह भी कहते हैं । इसके दश प्रकार होते हैं । इसी प्रकार दु:ख

----

१ योगवासिष्ठ ३।६६

२ ,, ६।२, पृ० १८८

३ ,, ६।२, पृ० १६०

४ दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता --योगसूत्र २।६, पृ० २६६

भोग के अनन्तर अन्त:करण में रहने वाला क्रोध या उस दु:ख को दूर करने की इच्छा ही द्वेष रूप क्लेश है । द्वेष की दूसरी संज्ञा तामिस्र है । यह १८ प्रकार की होती है ।

विपर्यय का पंचम प्रकार है अभिनिवेश । अभिनिवेश रूप क्लिष्ट वृत्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए योगसूत्रकार कहते हैं `स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेश:`[1] अर्थात् पूर्वजन्म के मरणभय विषयक अनुभवजन्य स्वभावत: सिद्ध विद्वानों के मन में जो अज्ञानियों के समान मरणभय होता है,उसे ही अभिनिवेश कहते हैं । इस क्लेश को अन्धतामिस्र की संज्ञा दी गयी है । यह भी तामिस्र के समान अष्टादश प्रकार का होता है । उपर्युक्त पंच क्लेशों को सभी अन्य सांख्ययोगाचार्यों ने स्वीकार किया । साथ ही इसका उल्लेख अनेक पुराणादि में भी हुआ है ।[2] अत: यह स्पष्ट है कि प्रमाण की भांति विपर्यय भी चित्त की विशिष्टवृत्ति है,भिन्नता इस अंश में है कि सत्त्व या यथार्थ ज्ञान का प्राधान्य होने से प्रमाण को सात्त्विक वृत्ति कहते हैं । और अज्ञान या भ्रमज्ञान का प्राधान्य होने से विपर्यय को तामसवृत्ति कहते हैं ।

विकल्प वृत्ति

विकल्प योगाचार्यों की एक विशिष्ट मान्यता है । यद्यपि विकल्प का अर्थ `अथवा` से ही भी लिया जाता है,परन्तु दार्शनिक स्तर पर हम इसे इसी रूप में नहीं स्वीकार कर सकते । विकल्प वृत्ति से दार्शनिकों का तात्पर्य एक विशिष्ट चित्तवृत्ति से है । इस वृत्ति का लक्षण

~~१ दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता` --योगसूत्र २।६,पृ०२९६~~

१ योगसूत्र २।६,पृ०३०२

२ वायुपुराण ६।३५,पृ०८८

करते हुए योगसूत्रकार लिखते हैं--`शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः`[1] अर्थात् ऐसे वस्तु का ज्ञान जिसका अस्तित्व ही न हो या जो अभाव रूप है, ऐसी वस्तु के ज्ञान की अनुगामिनी चित्तवृत्ति ही विकल्प वृत्ति है । अतः ऐसे शब्द ज्ञान के आकार की वृत्ति, जो शब्द अवास्तविक पदार्थ का ज्ञान करावें वे ही विकल्प हैं । इस प्रकार इस वृत्ति में शून्य वस्तु का(जो विद्यमान न हो) शब्द या आगम के द्वारा ही ज्ञान होता है । यद्यपि उस अवास्तविक पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु उस वस्तु का कथन शब्दों में किया । जब कथन या व्यवपदेश हुआ है ,अतः उस कथनानुसारिणी चित्तवृत्ति भी अवश्य होगी ,यद्यपि वह शून्य वस्तुविषयक ही क्यों न हो । इसी वृत्ति को विकल्प वृत्ति कहते हैं । अतः भाव यह है कि विकल्पज्ञान में में कुछ स्थानों पर अभेद में भेदका ज्ञान और कुछ में भेद में अभेद का आरोप व्यवहार का हेतु होता है । इस प्रकार उस भेद या अभेद का वस्तुतः अभाव होने से उसका आभासमात्र ही विकल्प ज्ञान है । योगसूत्रों के सभी टीकाकारों ने विकल्प का ईदृश लक्षण ही किया है । हरिहरानन्द ने तत्त्वालोक में भी विकल्पवृत्ति का ऐसा ही लक्षण किया है । आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र २।३२ के भाष्य में `विकल्पस्तु विशेषदर्शनकालेऽपि राहोः शिरः पुरुषस्य चैतन्यमित्यादिज्ञानम्` ऐसा लिखकर अन्त में `एतत् सर्वं पातंजले सूत्रितम्`[2] ऐसा कहा है, जिससे स्पष्ट है कि वह पंतजलि का समर्थन करते हैं ।

विकल्प को विभिन्न उदाहरणों के आधार पर आचार्यों ने स्पष्ट किया है, जैसे `चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्` इस वाक्य में पुरुष का स्वरूप चैतन्य बताया गया है । इससे प्रतीत होता है कि पुरुष विशेषण और चैतन्य विशेष्य है, यद्यपि पुरुष तथा चैतन्य में

----

१ योगसूत्र १।६, पृ०६२

२ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० १३१

विशेषण-विशेष्य भाव जैसा कोई सम्बन्ध नहीं है । अपितु पुरुष ही चैतन्य है । उन दोनों में अभेद है । इस अभेद में ही भेद का ज्ञान शब्दों से किया जा रहा है । अत: यह विशेषण विशेष्यरूप भेद का जो वस्तुत: शून्य है इस वाक्य में शब्दों से कथन हो रहा है, अत: इस कथन के अनुसार की वृत्ति ही विकल्प वृत्ति है । यद्यपि चिति और पुरुष का भेद वास्तविक नहीं, तथापि प्रकट किया जा रहा है ,अत:यही विकल्प वृत्ति है ।

विकल्प के प्रकार

जहां तक विकल्प वृत्ति के प्रकारों का प्रश्न है, योगसूत्रकार ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया । हरिहरानन्द ने सांख्यतत्त्वालोक में त्रिविध विकल्पों पर प्रकाश डाला है । वे हैं-- वस्तुविकल्प, क्रियाविकल्प और अभावविकल्प । इन तीनों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं--`अत्र वस्तुनोरेकत्वेऽपि व्यवहारार्थं तयोर्भेदवचनं वकल्पितम्`[1] जहां किन्हीं दो वस्तुओं में परस्पर ऐक्य होने पर भी व्यवहार में उसे भिन्न-भिन्न कहा जाता है,वह वस्तु विकल्पवृत्ति है,जैसे उपर्युक्त उदाहरण में पुरुष और चैतन्य परस्पर एक हैं । पुरुष के बिना चैतन्य का अस्तित्व नहीं और चैतन्य के बिना पुरुष का कोई अस्तित्व नहीं,परन्तु दोनों का पूर्ण तादात्म्य होने पर भी उनका भिन्न रूप में कथन हुआ है । इससे भेदका पूर्ण अभाव होने पर भी वाक्य से उस भेद की प्रतीति होती है । यह है-- वस्तु विकल्प ।

द्वितीय है क्रिया विकल्प । जहां अकर्ता पदार्थ[2] का भी व्यवहार के लिए कार्य रूप से प्रतिपादन किया जाय । वहां क्रिया-विकल्प होता है-- जैसे `बाणस्तिष्ठति` स्था धातु का अर्थ है--स्थित होना अर्थात् गति से निवृत्त होना । इस गति निवृत्ति रूप क्रिया के कर्ता रूप से बाण का कथन हुआ है यद्यपि बाण में गतिनिवृत्ति आदि क्रिया का पूर्ण अभाव है ।

----

१ सांख्यतत्त्वालोक,पृ० १७

२`अकर्ता यत्र व्यवहारसिद्ध्यर्थं कर्तृवत् व्यवह्रियते स क्रियाविकल्प: ।`

इस प्रकार इस वाक्य में उस अवास्तविक या असत् कर्तृत्व का शब्दों के द्वारा प्रतिपादन किया गया, अत: यह क्रिया विकल्प है ।

तृतीय या अन्तिम है-- अभाव विकल्प । जो पदार्थ अभावार्थक है अर्थात् जिनका पूर्ण अभाव है, ऐसे पदार्थों के विषय में कुछ कहना, उस कथनानुसार उस अभाव वस्तुविषयक चित्तवृत्ति ही अभाव विकल्प है[1] । जैसे-- 'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुष:' अर्थात् पुरुष उत्पत्तिधर्म-शून्य है । अर्थात् पुरुष में उत्पत्ति धर्म का पूर्ण अभाव है । पुरुष कभी भी उत्पत्ति नहीं करता, परन्तु उस अभाव का भी कथन या प्रतिपादन इस वाक्य में हुआ, अत: यह अभाव विकल्प है । इस प्रकार वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा बिना केवल शब्द ज्ञान के माहात्म्य से जो शश शृंग आकाश कुसुमादि अलीक यथार्थविषयक चित्तवृत्तियां उदय होती हैं वे सभी विकल्प वृत्ति के अन्तर्गत ही आती हैं ।

निद्रा वृत्ति

उपर्युक्त प्रतिपादित विविध वृत्तियों के पश्चात् निद्रा वृत्ति का प्रसंग आता है । निद्रा भी चित्त की ही एक विशिष्ट वृत्ति है । इस विषय में पर्याप्त मतभेद है । कुछ आचार्य निद्रा को वृत्ति रूप से स्वीकार नहीं करते, अत: सर्वप्रथम यह निश्चित करना आवश्यक है कि निद्रा वस्तुत: वृत्ति है अथवा नहीं ? जहां तक सांख्ययोग सूत्रकारों का मत है । वे निद्रा को वृत्तिरूप ही मानते हैं । 'वृत्तय: पंचतय्य: क्लिष्टाक्लिष्टा:' इस सूत्र में पांच प्रकार की वृत्तियों का कथन है । उनमें निद्रा भी सम्मिलित है । यद्यपि सांख्यसूत्रकार ने किसी सूत्र में पांचों वृत्तियों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया परन्तु योगशास्त्रकार पतंजलि ने सूत्र १।६ में इनकी गणना की है । सूत्रकार को

---

१ 'अभावपदाश्रिता चित्तवृत्तिरभावविकल्प:', पृ० सांख्यतत्त्वालोक, पृ० १७

भी यही अभिमत है, अतः उन्होंने इन वृत्तियों की गणना करने का प्रयत्न नहीं किया । सूत्रों के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने इन पंचवृत्तियों का उल्लेख भी नहीं किया । इनसे भिन्न योगसूत्रों के विभिन्न टीकाकारों ने निद्रा वृत्ति को स्पष्ट किया है, परन्तु उपर्युक्त आचार्यों से भिन्न हरिहरानन्द ने वृत्तियों का उद्देश करते हुए निद्रा वृत्ति का ग्रहण नहीं किया । पांच वृत्तियों को वे स्वीकार करते हैं परन्तु उनके नाम इस प्रकार हैं-- प्रमाण, स्मृति, विज्ञान, विकल्प और विपर्यय[1]। उन्होंने निद्रा को वृत्ति रूप से स्वीकार नहीं किया, परन्तु अवस्थावृत्तियों[2] का विवेचन करते हुए जहां सुषुप्ति का प्रसंग आया है, उन्होंने योगसूत्र १।१० को उद्धृत करके निद्रा को ही सुषुप्ति कहा है[3]। उनके अनुसार निद्रा और सुषुप्ति समान ही है । अन्य कुछ आचार्यों ने निद्रा को सुषुप्ति की वृत्ति कहा है, परन्तु उन्होंने इतना भी भेद करने की आवश्यकता नहीं समझी । सुषुप्ति में चित्त जड़ रहता है और वृत्ति भी तामसी होने से जड़ ही है । अतः ऐसे ही विचारकों के मत के निवारणार्थ निद्रा का वृत्तित्व स्पष्ट करने के लिए ही योगसूत्रों में निद्रा का लक्षण करते हुए वृत्ति पद का ग्रहण किया हुआ[4]। अन्यथा लक्षण सूत्र में ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं ।

---

१ 'प्रमाणस्मृतिप्रवृत्तिविज्ञानविकल्पविपर्यया: इति' , पृ०१४

२ 'सांख्यतत्त्वालोक में अवस्थावृत्तियों का भी उल्लेख हुआ है हम इस पर बाद में विचार करेंगे ।

३ 'सुषुप्ति लक्षणं यथाह--अभावप्रत्ययालम्बनावृत्ति: निद्रा । तथाचित्तेन्द्रियाधिष्ठानानां सम्यग्जडत्वम्' -- तत्त्वालोक, पृ०२२ ।

४ तत्त्वकौमुदी, पृ०१६

अब प्रश्न यह है कि निद्रा वृत्ति का स्वरूप क्या है? सांख्यसूत्रों में इसका कोई लक्षण नहीं मिलता, हां विज्ञानभिक्षु ने सूत्र के भाष्य में 'निद्रा च सुषुप्तिकालीना बुद्धिवृत्तिः' एतन्मात्र लिखा है, अर्थात् निद्रावृत्ति चित्त की सुषुप्ति अवस्था में रहती है। इस प्रकार सुषुप्ति में सत्त्व, रजस् अभिभूत और तमस् का प्राबल्य होता है। ऐसी अवस्था में ही तमः प्रधान निद्रावृत्ति होती है। सुषुप्तिकालीन वृत्तियों के विषय में पर्याप्त मतभेद है। इसका पूर्व ही उल्लेख हो चुका है, परन्तु इतना तो अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि सुषुप्ति में भी कोई-न-कोई वृत्ति रहती है। चित्त प्रतिक्षण परिणामी है। वह कभी स्थिर नहीं हो सकता। सुषुप्ति में चित्तवृत्ति का अभाव ही स्वीकार करना उपयुक्त नहीं, क्योंकि सुषुप्ति के पश्चात् जागृतावस्था में उसका स्मरण होता है। अर्थात् (सुख या आनन्दपूर्वक सोये) 'सुखमहमस्वाप्सम्' इसका अर्थ यह हुआ मेरा मन शान्त या चंचलता से रहित था। यदि सुषुप्ति में वृत्ति का पूर्ण अभाव है तब तत्कालीन सुख या दुःख का स्मरण होना सम्भव नहीं, परन्तु लोकव्यवहार में ऐसा देखा जाता है। अतः सुषुप्ति में वृत्ति है वह निद्रारूप ही क्यों न हो। निद्रा का लक्षण योगसूत्रों में इस प्रकार किया गया[1]-- 'अभाव प्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा' अर्थात् जागरण और स्वप्नावस्था की वृत्तियों से अभिभूत जाग्रत और स्वप्न के पदार्थों को विषय बनाने वाली वृत्तियों के कारण सत्त्व और रजस् के अभिभूत हो जाने पर तमस् द्रव्य रूप अज्ञान को विषय बनाने वाली या तमः प्रधान वृत्ति निद्रा है। अन्याचार्यों ने भी इसे तामसी ही स्वीकार किया है। तामस होने के कारण इस वृत्ति के पूर्व ही शरीर जड़ हो जाता है। वृत्ति क्षीण हो जाती है। इस प्रकार

----

1 योगसूत्र 1।10, पृ० 64

सभी योग आचार्यों को निद्रा वृत्ति अवश्य ही मान्य है । सांख्यसूत्रों के मूल आचार्य ने इनका उल्लेख भी किया है, मुख्य पांच वृत्तियां ही माना यद्यपि इनका उद्देश नहीं किया ।

स्मृति वृत्ति

स्मृति चित्त की मुख्य पांच वृत्तियों में अंतिम वृत्ति है । स्मृति का वृत्तित्व सर्व स्वीकृत है । यह भी एक ज्ञानविशेष या विशिष्ट अवस्थामात्र है । इसका लक्षण योगसूत्रकार ने इस प्रकार किया[१] 'अनुभूतविषयासंप्रमोष: स्मृति:' अर्थात् प्रमाणादि के द्वारा अनुभव किए गए विषय में जो अनपहरण रूप या ठीक उसी अनुभव प्रकारिणी अस्तेय रूप वृत्ति बनती है,उसे ही स्मृति कहते हैं । इस प्रकार जिस विषय का अनुभव किया गया हो,वह विषय अनुभवपूर्वक अपने उसी रूप में जब पुन: चित्त में वृत्ति रूप से उपस्थित हो, उसे स्मृति वृत्ति कहते हैं । इस प्रकार पूर्व अनुभूत पदार्थ ही स्मृति का विषय होता है । स्मृति का अर्थ है स्मरण करना । स्मरण सदैव पूर्व अनुभव किए गए या देखे गए पदार्थ का ही सम्भव है न कि अनाघ्रात पदार्थों का । जब तक हम किसी पदार्थ का अनुभव न करेंगे तब तक उसका अभाव होने पर भी उसका स्मृति रूप से चित्त में उपस्थित होना सम्भव नहीं । अत: स्मृति पूर्वानुभूतविषयक होती है । इस प्रकार स्मृति में दो रूप हैं-- एक तो वह विषय जिसका अनुभव किया जा चुका है और दूसरा उसका पुन: स्मृतिकाल में ज्ञान होना । अब प्रश्न उठता है कि इन द्विविध रूपों में कोई एक स्मृति है अथवा दोनों ही स्मृति हैं । भाष्यकार ने कहा है कि ज्ञेय वस्तु या अनुभूतविषय के साथ

----

१ योगसूत्र १।११,पृ०७५

उसका पुनर्ज्ञान इस प्रकार के उभयात्मक संस्कार बनते हैं, तथा उसके अनुसार उभयाकार चित्तवृत्ति भी उत्पन्न होती है । अत: स्मृति उभयात्मक है, परन्तु भाष्यकार ज्ञानाकार वृत्ति को बुद्धि या अनुभव रूप ही मानते हैं अर्थात् 'ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धि: स्मृति:' अनुभूत जो विषय है, उस विषय के पूर्व ज्ञान का हमें ज्ञान हो रहा है, वह उस ज्ञान का अनुभव या ज्ञान हुआ न कि स्मृति । व्यास ने इस बुद्धि: पद का 'ज्ञानशक्ति: प्रमाणमित्यर्थ:' ऐसा अर्थ किया है अर्थात् किसी विषय के पूर्व ही प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होने पर वह ज्ञान जब पुन: चित्त में उपस्थित हो वह तो उस ज्ञान का अनुभव है न कि स्मृति। जैसे यदि हमें वृक्षज्ञान की स्मृति हो रही है, उसके दो अंश होंगे । पहले तो एक बार वृक्ष का ज्ञान हुआ और अब उस ज्ञान का पुन: ज्ञान या अनुभव कर रहे हैं कि हम उसी वृक्ष का, जो कि अनुभूत विषय है, पुनर्ज्ञान कर रहे हैं, इसमें जो पुनर्ज्ञान है वह तो अनुभव मात्र है, क्योंकि वह ज्ञान अनुभूत नहीं । उस पूर्ववृक्षज्ञान का प्रथम बार अनुभव हो रहा है, परन्तु उस वृक्ष रूप विषय का तो हमें पूर्व ही अनुभव हो चुका था, अत: वह वृक्ष अनुभूत विषय है । इस प्रकार स्मृतिकाल में उस अनुभूत विषय के आकार की चित्तवृत्ति बनती है । अत: 'ग्राह्याकारपूर्वा स्मृति:' अर्थात् ग्राह्य विषयाकाराकारित वृत्ति ही स्मृति है न कि ज्ञानाकाराकारित वृत्ति भी स्मृति है । अत: 'वृक्षमहं जानामि' इस प्रकार की वृक्षग्रहण प्रधाना वृत्ति ही स्मृति है । इनके पश्चाद्भावी अन्य आचार्यों --विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति मिश्र, भावागणेश आदि ने भी स्मृति का एतादृश लक्षण किया है । परन्तु योगवार्तिककार का एतद्विषयक मत कुछ भिन्न है । पूर्व काल में किसी वस्तु का अनुभव हुआ हो अथवा न हुआ हो, किन्तु उसका निश्चय के साथ जब ऐसा ध्यान आए कि यह वस्तु पूर्व काल में अनुभूत हो चुकी है, उस ध्यानाकार वृत्ति को स्मृति कहते हैं ।

इसप्रकार योगवासिष्ठ में अनुभूत विषयक ज्ञान को ही स्मृति रूपसे स्वीकार किया है।[1]

इस विषय में यदि ऐसी धारणा हो कि जो अनुभव है, उसी को स्मृति कहते हैं, वह अनुभव मिथ्या ही क्यों न हो। इस प्रकार अनुभव के ही पुनर्ज्ञान को स्मृति कहा गया, परन्तु उस अनुभव का सत्य या प्रामाणिक होना आवश्यक नहीं, यदि इस लक्षण को स्वीकार कर लें। उनका भास्वतीकार से विरोध होगा। उन्होंने अनुभव के स्थान में प्रमाण पद का प्रयोग किया है। जिस विषय का पहले प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त हो चुका हो ऐसे विषय के आकार की पुन: वृत्ति होना ही स्मृति है। अनुभव तो वस्तुत: अज्ञातविषयक होता है, अर्थात् जिस वस्तु का पहले ज्ञान न हुआ हो उसका ज्ञान प्राप्त करना ही स्मृति है। अनुभव के अन्तर्गत मिथ्याज्ञान, भ्रम तर्कादि का भी अन्तर्भाव हो जाता है। हरिहरानंद के अतिरिक्त अन्य सभी आचार्य अनुभूत विषयक ज्ञान को ही स्मृति कहते हैं और यही उपयुक्त भी है। प्रामाणिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

सांख्यसूत्रकार ने कोई विशिष्ट लक्षण नहीं किया, परन्तु वृत्तिकार अनिरुद्ध ने भी 'स्मृतिरतीतज्ञानम्'[2] कहकर अतीत या भूतकालिक ज्ञान को ही स्मृति कहा है। विज्ञानभिक्षु ने 'स्मृतिस्तु संस्कारजन्यं ज्ञानम्'[3] ईदृश लक्षण किया है। अर्थात् संस्कार से उत्पन्न ज्ञान ही स्मृति है। उनके इस कथन से प्रतीत होता है कि उन्होंने आचार्य व्यास के मत का समर्थन किया है। व्यास १।११ सूत्र का भाष्य करते हुए स्मृति वृत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं। ग्राह्यग्रहणोभयाकार ज्ञान से उभयाकार

---

१ पूर्वं दृष्टमदृष्टं वा प्राग्दृष्टमिति निश्चये:।
यदेवेहां विषयैऽन्तस्तदा स्मृतिरुदाहृत्य ।। ३।६६।२४,पृ०२२५

२ अनिरुद्ध वृत्ति सूत्र २।३३,पृ०५६

३ सांख्यप्रवचनभाष्य ,सूत्र २।३३,पृ०१३१

संस्कार उत्पन्न होता है । तत्पश्चात् उस संस्कार से उभयात्मिका चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है । अत: स्मृति को संस्कारजन्य कहना उपयुक्त नहीं है । क्योंकि स्मृति प्रमाण कीअपेक्षा अल्पप्रकाशक होने से सात्त्विक राजस् है[1] ।

स्मृति के प्रकार

जहां तक स्मृति के प्रकारों का प्रश्न है, लगभग सभी आचार्य द्विविध स्मृति स्वीकार करते हैं--भावितस्मर्तव्या और अभावितस्मर्तव्या भावितस्मर्तव्या स्मृति का अर्थ है, जिसमें भावित या कल्पित अर्थात् अयथार्थ पदार्थ का स्मरण हो उसे अयथार्थ स्मृति भी कहते हैं । स्वप्न काल की स्मृति इसी प्रकार की होती है । प्राय: स्वप्न में अयथार्थ का या ऐसे पदार्थ का स्मरण होता है, जिसका आज तक कभी ज्ञान भी न हुआ हो ऐसी स्मृति भावितस्मृति ही कही जाती है । अभावित स्मृति सदैव यथार्थ पदार्थों का ही स्मरण करती है । अत: इसे यथार्थ स्मृति भी कहते हैं । यह प्राय: जाग्रदवस्था में ही होती है । जाग्रदवस्था में मिथ्यावस्तु का स्मरण असम्भव ही है । इन द्विविध स्मृतियों में प्रथम अर्थात् भावितस्मृति को ब्रह्मलीन मुनि स्मृति न कहकर स्मृत्याभास ही कहते हैं[2] ।अयथार्थविषयक होने के साथ ही संस्कारजन्य होने से स्मृति जैसी प्रतीत होती है । इन द्विविध स्मृतियों से भिन्न प्रमुष्टतत्ताकनामक स्मृति भी है परन्तु इसका क्या स्वरूप है, यह तो किसी आचार्य ने स्पष्ट नहीं किया है, परन्तु विज्ञानभिक्षु ने प्रमुष्टतत्ताक स्मृति का खण्डन अवश्य किया है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अवश्य ही उनके पूर्व किसी आचार्य ने स्मृति के इस प्रकार को भी स्वीकार किया होगा,परन्तु अथक उस आचार्य का नाम प्राप्त न हो सका । अब प्रश्न यह है कि प्रमुष्ट तत्ताक और अप्रमुष्ट-तत्ताक स्मृति क्या है? ब्रह्मलीन मुनि पातंजलि सूत्रों की व्याख्या में इन्हें

---

१ सांख्यतत्त्वालोक,पृ०१५

२ पातंजलयोगदर्शनम्,पृ०७७

स्पष्ट करते हैं । जिस स्मृति के आकार में तत् पद हो उसको अप्रमुष्ट तत्ताक स्मृति कहते हैं, जैसे ` सा मैं माता` और जिसके आकार में तत् पद न हो वह प्रमुष्ट तत्ताक स्मृति कही जाती है, जैसे-- `मैं माता` ।

स्मृति के उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त हरिहरानन्द ने तीन अन्य प्रकार स्वीकार[1] किया है--विज्ञानस्मृति, प्रवृत्तिस्मृति और निद्रादिरुद्धभाव स्मृति । इन प्रकारों की उन्होंने गणना तो की है,परन्तु लक्षण नहीं । अत: इनका स्वरूप स्पष्ट करना सर्वथा असम्भव-सा है । इनसे भिन्न किसी अन्य आचार्य ने न तो इनका समर्थन किया और न ही खण्डन करने का प्रयास किया । अत: अन्ततोगत्वा प्रमाणत: हम यही कह सकते हैं कि स्मृति दो प्रकार की होती हैं-- भावितस्मर्तव्या और अभावित स्मर्तव्या । स्मृति को आरण्यक ने सात्त्विकराजस कोटि में ही रखा है । प्रमाण की अपेक्षा ये अल्पप्रकाशक है, प्रमाण पूर्ण सात्त्विक वृत्ति है,उससे पदार्थ का सात्त्विक ज्ञान होता है । इससे भिन्न स्मृति में अयथार्थ ज्ञान भी सम्मिलित है,अत: यह सात्त्विकराजस वृत्ति है ।

चित्त की अवस्थावृत्तियां

जहां तक चित्त की अवस्थावृत्तियों का प्रसंग है किसी आचार्य ने भी इनका उल्लेख नहीं किया,केवल हरिहरानन्द ने सांख्यतत्त्वालोक में उपर्युक्त पंच विशिष्ट वृत्तियों के अतिरिक्त चित्त की अन्य नवधा वृत्तियों का भी उल्लेख किया है । अब प्रश्न यह है कि अवस्थावृत्तियां हैं क्या ? ज्ञान क्रिया के समय में चित्त की[2] जिस जिस रूप में अवस्थिति होती है, उन्हें ही चित्त की अवस्थावृत्ति कहते हैं । ये अवस्थावृत्तियां संख्या में नौ

---

१ सांख्यतत्त्वालोक,पृ०१६

२ ज्ञानक्रियाकाले चित्तस्य यद्यद्भावेनावस्थानं भवति ता एवावस्थावृत्तय: ,पृ०२०

मानी गई हैं । इन नौ को भी तीन वर्गों में विभाजित किया गया है--बोध्यगत, चेष्टागत और धार्यगत । बोधगत अवस्था वृत्तियां त्रिविध हैं --सुख, दु:ख और मोह[1] । ये तीनों सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के परिणाम है । जिन वृत्तियों में इन तीनों का प्राधान्य हो वे वृत्तियां बोध्यगत अवस्थावृत्तियां कहलाती हैं । अनुकूलविषयके उद्रेक से सुख, प्रतिकूलविषय के उद्रेक से दु:ख होता है । सुख और दु:ख के अत्यधिक भोग से सुख और दु:ख के पार्थक्यज्ञान न कर सकने वाली जड़ता की प्रतीति को मोह ह कहते हैं ।

चेष्टागत अवस्थावृत्तियां भी त्रिविध हैं--इनमें राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप वृत्तियों का अन्तर्भाव है । रागादि पर क्लेशों के प्रसंग में विचार होगा, परन्तु यहां भी संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है । सुखविषयक इच्छाविशेष ही राग है तथा दु:ख विषयक क्रोध ही द्वेष तथा मरणत्रास या मरणभय ही अभिनिवेश है । चित्त की सभी चेष्टाएं रागादि त्रिविध क्लेशों से प्रेरित होकर[2] ही होती हैं, अत: इन्हें चित्त की चेष्टागत अवस्था वृत्तियां कहते हैं ।

तृतीय और अन्तिम है धार्यगत अवस्थावृत्तियां ये भी तीन प्रकार की हैं, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति । धार्य का अर्थ है शरीर अर्थात् शरीर से सम्बन्धित वृत्तियों को ही धार्यगत वृत्तियां कहते हैं । शरीर और चित्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अत: शरीरगत उपर्युक्त त्रिविध वृत्तियों को चित्त की वृत्तियां कहा गया है[3] । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन

---

१ 'सुखदु:खमोहा: सत्त्वरजस्तम: प्रधाना: बोध्यगता: अवस्थावृत्तय:', पृ० २०

२ 'रागद्वेषाभिनिवेशाश्चेष्टागतावस्थावृत्तयस्त्रिगुणानुसारिण्य:', पृ० २१

३ 'जाग्रतस्वप्नसुषुप्तयोधार्यगतावस्थावृत्तय: । धार्यं शरीरं ।तत्सम्पर्काद्धार्यगतावस्थावृत्तयश्चित्तस्य', पृ० २१ ।

अवस्थाओं का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है। हरिहरानन्द ने इस जाग्रदवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है जागरे चित्तेन्द्रियाधिष्ठानान्यजडानि चेष्टन्ते अत: जागरितावस्था में ये सक्रिय रहते हैं। इससे भिन्न स्वप्नावस्था में इन्द्रियां जड़ता को प्राप्त होती हैं और उसके अनियत अनुव्यवसायाधिष्ठान की जब चेष्टा होती है। उस अवस्था को स्वप्न कहते हैं[1]। आरण्यक सुषुप्ति और निद्रा में कोई भेद नहीं मानते उनके अनुसार ये समान ही हैं।

चित्त के त्रिविध व्यवसाय

चित्त के उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त उसके त्रिविध व्यवसायों का भी उल्लेख हुआ है। प्रश्न यह है कि व्यवसाय क्या क्या है? कतिपयशक्ती अधिकृत्यैकदा यच्चित्तचेष्टितं स व्यवसाय: अर्थात् कुछ शक्ति को दृष्टि में रखकर एक बार में ही जो चित्त के द्वारा चेष्टा की जाती है, वही चित्त का व्यवसाय है। व्यवसाय भी त्रिविध हैं-- सद्व्यवसाय, अनुव्यवसाय और अपरिदृष्ट व्यवसाय। हरिहरानन्द ने सद्व्यवसाय को ग्रहण, अनुव्यवसाय को चिन्तन और अपरिदृष्टव्यवसाय को धारण कहा है। यद्यपि उन्होंने इन व्यवसायों का अधिक वर्णन नहीं किया, परन्तु एक एक पंक्ति में इनको स्पष्ट किया है। ज्ञानेन्द्रियरूप शक्तियों के द्वारा वर्तमानविषयक जो चित्त की चेष्टा या व्यापार होता है उसे सद्व्यवसाय कहते हैं[2]। इनसे भिन्न जो अतीत और अनागतकालीन विषयों के प्रति स्मृतिविषयक व्यापार होता है उसे अनुव्यवसाय कहते हैं[2]।

---

1 'जाड्यापन्नेषु - - - - - - - - - - - - - -तदवस्था स्वप्न:' पृ० २१

१ ज्ञानेन्द्रियादीनधिकृत्य वर्तमानविषयो व्यवसाय: सदाख्य:, पृ० २२

२ अतीतानागतविषयोऽनुव्यवसाय स्मृतविषयालोऽन्यात्मक। , पृ० २२

जिस व्यवसाय के द्वारा निद्रा में भी चित्त का परिणाम होता रहता है और उसके द्वारा संस्कार जीवित रहते हैं, वह अपरिदृष्ट व्यवसाय कहलाता है[1]। इस प्रकार ये तीनों व्यवसाय आरण्यक को अभिमत है, यद्यपि इनके अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य ने इस विषय में कुछ विचार नहीं किया। अत: इस विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना असम्भव है।

इस प्रकार यद्यपि इसके पूर्व अर्थात् तृतीय अध्याय में चित्तादि तत्वों के विभिन्न कार्यों या व्यापारों के पर विचार हो चुका है तथा इस अध्याय में कुछ ऐसे व्यापारों या कार्यों का विवेचन किया जा चुका है, जो मुख्यत: चित्त के ही कार्य हैं। यद्यपि उनमें चित्त को अन्य तत्वों की सहायता अवश्य लेनी पड़ती है, तथापि ये वृत्तियां चित्त की ही कही गई हैं। ये चित्त के विशिष्ट व्यापार हैं।

-0-

---

१ येन चावेक्षमानेन व्यवसायेन निद्रायामपि सदा चित्तपरिणामो जायते संस्काराच्च येनानुजीवन्ति सोऽपरिदृष्टव्यवसाय:", पृ० २२

पंचम अध्याय

-o-

चित्तवृत्ति निरोध और उसके उपाय

वृत्ति-निरोध क्या है ?

वृत्ति-निरोध के उपाय

(क) अभ्यास

(ख) वैराग्य का स्वरूप और प्रकार

अपर वैराग्य

पर वैराग्य

वृत्ति निरोध के अन्य उपाय

(क) क्रियायोग

(ख) अष्टांग योग

यम
नियम
आसन
प्राणायाम-- प्राणायाम के प्रकार, रेचकादि
प्रत्याहार
धारणा
ध्यान
समाधि

(ग) स्वकर्म

निरोधकालिक चित्तविक्षेप और उनका प्रशमन

(क) चित्तविक्षेप क्या है?

(ख) चित्तविक्षेप के प्रकार

व्याधि
स्त्यान
संशय
प्रमाद
आलस्य
अविरति
भ्रान्तिदर्शन
अलब्धभूमिकत्व
अनवस्थितत्व
दुःख
दौर्मनस्य
अंगमेजयत्व
श्वास
प्रश्वास

(ग) चित्तविक्षेपों के प्रशमन के उपाय

पंचम अध्याय

-o-

चित्तवृत्तिनिरोध और उसके उपाय

वृत्ति-निरोध क्या है?

द्वितीय और तृतीय अध्याय में चित्त के और साथ ही अन्य बाह्य और अन्त:करणों के विभिन्न व्यापारों का विवेचन हुआ है। चित्त तो प्रतिक्षणपरिणामी है, अत: प्रतिक्षण उसकी वृत्तियां भी भिन्न ही होंगी। इन वृत्तियों के रहने पर ही पुरुष को भोग का सम्पादन हो सकता है, परन्तु मोक्ष रूप पुरुषार्थ सर्वथा असम्भव है। इन द्विविध पुरुषार्थों की प्राप्ति ही जीवन का परम प्रयोजन है। अत: भोग के पश्चात् मोक्षप्राप्ति का विवेचन भी आवश्यक है।

जहां तक मोक्ष का प्रसंग है, यह तो प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट है कि मोक्ष का मुख्य उपाय विवेकज्ञान है[1]। विवेकज्ञान या प्रकृति पुरुषविवेकज्ञान से ही मुक्ति होगी। प्रकृति को अपना समझकर उससे तादात्म्य होने पर सृष्टि निवृत्ति ही न होगी और पुरुष अज्ञानवश भोग या संसार में ही लिप्त होता जायगा। अत: सर्वप्रथम अज्ञान का निराकरण करना अत्यन्तावश्यक है। परन्तु ज्ञान प्राप्ति या अज्ञान का निराकरण सहज नहीं है। ज्ञानप्राप्ति मात्र से ही अज्ञान का नाश या यह कहिए कि तिरोभाव हो जाता है। जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश एक स्थल पर ही कदापि नहीं रह सकते, ठीक उसी प्रकार ज्ञान रूप प्रकाश के आते ही अज्ञान रूप तम स्वत: भाग जाता है।

---

१ ज्ञानान्मुक्ति: -- सांख्यसूत्र ३।२३, पृ० १४८

प्रश्न यह है कि ज्ञान की प्राप्ति होगी कैसे? इसके अनेक उपाय शास्त्रों में वर्णित हैं और सांख्ययोगाचार्य भी समाधि योगादि उपायों को ही स्वीकार करते हैं, अत: चित्त समाधि के अभाव में योग असम्भव और चित्त की समाधि के लिए सर्वप्रथम इन चंचल चित्त की विभिन्न वृत्तियों का निरोध या उपशम अत्यन्तानिवार्य है[1]। यहां तक कि चित्तवृत्तिनिरोध को ही योग संज्ञा भी दी गई 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:' अर्थात् प्रमाणादि वृत्तियों का निरोध ही योग है[2]। योग-वासिष्ठ में संसार से उतरने की युक्ति को ही 'योग' संज्ञा दी गई[3]। इसी में एक स्थल पर योग को वृत्तिनिरोध रूप भी कहा गया है[4]। चित्तवृत्ति के निरोध को स्पष्ट करते हुए आचार्यों ने अपने-अपने मत दिये हैं। चित्तवृत्तियों का उपशम ही निरोध है। उपशम प्रतिलोमपरिणाम रूप होना चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार का परिणाम होता है, उसके विपरीत रूप से उसका स्वस्वकारण में लय ही निरोध है। अर्थात् राजस् और तामस वृत्तियों का क्रमश: सात्त्विक वृत्तियों में लय ही योग है[5]। आचार्य भोज ने भी निरोध का लगभग ऐसा ही अर्थ किया है -- 'चित्तस्य निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य या वृत्त्योऽगांगिभावपरिणामरूपा: तासां निरोधो बहिर्मुखतया परिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते' अर्थात् चित्त की अंग रूप वृत्तियों का बाह्यविषयों के रूप में परिवर्तितवृत्तियों को उन विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करना अर्थात् भीतर

----

१ 'वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धि:' -- सांख्यसूत्र ३।३१,पृ०१५१

२ चित्तस्य वृत्तीनां प्रमाणविपर्ययादीनां यो निरोधो निवर्तनं स योग इत्यर्थ: ।'
-- सर्वदर्शन संग्रह--पृ०३३१

३ 'संसारोत्तरेण युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते ।' ६/१ ।१३।३

४ योगस्तद्वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्' ।
-- ५।७८।३

५ 'चित्तस्य रजस्तमोवृत्तीनां वक्ष्यमाणानां निरोध: प्रतिलोमपरिणामेनोपशमो योग इत्यर्थ: ।'
--सूत्रार्थबोधिनी,पृ० २

की और उन्मुख करने से इस प्रकार विलोमपरिणाम के द्वारा वृत्तियों को स्वकारण (वृत्तियों के कारण) चित्त में लीन करना ही योग है । भावागणेश ने भी चित्तनिग्रह को अतीन्द्रिय प्रयत्नविशेष कहा है[1] । सर्वदर्शनसंग्रहकार सायन-माधव ने भी इसी मत का समर्थन किया है[2] । इनसे भिन्न अधिकतर टीकाकार वृत्तियों की संस्कारमात्रावशेषावस्था को ही योग या चित्तवृत्तिनिरोध कहते हैं । आचार्य विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति और नागोजी भी इसी मत के पोषक हैं । विज्ञानभिक्षु लिखते हैं-- `चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था निरोधः' अर्थात् चित्त की वृत्तियों की संस्कारमात्र रूप से अवस्थिति ही निरोध है । चित्तवृत्ति-निरोध के उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त विविध आचार्यों के एतद्विषयक मतों में कुछ भिन्नता है । मुख्यतः इनके द्विविध मत हैं । एक तो सभी वृत्तियों का पूर्ण लय अर्थात् निःशेष लय स्वीकार करते हैं, परन्तु दूसरे सविशेष लय अर्थात् उनके अनुसार चित्तवृत्तिनिरोधकाल में भी वृत्तियों के संस्कार शेष हैं, अर्थात् उनका लय सावशेष या संस्कारशेष है । इस प्रकार द्वितीय मत ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि संप्रज्ञात योगकाल में भी सात्त्विक वृत्तियां रहती हैं । तथापि उसे योग संज्ञा दी गई है । साथ ही असंप्रज्ञात काल में भी सभी वृत्तियों का निरोध हो जाने पर भी उनके संस्कार रहते हैं । अतः चित्तवृत्तिनिरोध का द्वितीय अर्थ ही अधिक उपयुक्त है । सांख्ययोगदार्शनिक किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति और नाश स्वीकार नहीं करते । उत्पत्ति का अर्थ होता है-- कार्य के अभाव से पुनः उसी का उत्पन्न होना, यह तो नैयायिकों का मत है । परन्तु सांख्यदार्शनिकों और योगियों का कथन है `कार्य सदैव अपने कारण में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है, उसी विद्यमान सूक्ष्म पदार्थ का पुनः स्थूलरूप ग्रहण करना ही अभिव्यक्ति या उत्पत्ति है और इसी प्रकार जो

---

१ `इदं च चित्ते निर्वर्तनं जीवनयोनिवदतीन्द्रियः प्रयत्नविशेषश्चित्तनिग्रहरूपो- ..... । भावागणेशीय वृत्ति, पृ० २ ।

२ वृत्तिनिवर्तनं च चित्तनिग्रहरूपोऽपीन्द्रियो यत्नविशेषः ।

-- सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३३१

पदार्थ सत् या भावरूप है, उसका पुन: नाश भी सर्वथा असम्भव है। जो सत् है वह अवश्य रहेगा, वह कभी असत् या अभाव रूप नहीं हो सकता। अत: उसके नाश का प्रसंग ही नहीं, नाश का अर्थ सांख्ययोगी तिरोभावमात्र से लेते हैं। अर्थात् स्थूलावस्था या व्यक्तावस्था से सूक्ष्मावस्था या अव्यक्तावस्था की प्राप्ति ही नाश है। अत: कार्य रूप स्थूल पदार्थ का पुन: स्वकारण में सूक्ष्म रूप को प्राप्त करना ही तिरोभाव है। इस प्रकार वृत्तियों का नाश सम्भव नहीं। उनका तिरोभाव हो सकता है और वह है चित्त में स्थूल या व्यक्त रूप में न रहकर सूक्ष्म या संस्कारमात्र रूप में रहना। अत: वृत्तियों की संस्कारमात्रावस्थिति ही निरोध या योग है। इस प्रकार निरोधावस्था का अर्थ वृत्त्यभावावस्था से न लेना चाहिए, अपितु वृत्तियों की तारतम्य विशिष्ट संस्कारों की परिणाम धारा ही निरोध है[1]। यही निरोध योग है। जहां तक योग का प्रसंग है चित्तवृत्तिनिरोधमात्र को सूत्रकार पतंजलि ने योग कहा है, परन्तु योग के विशिष्ट प्रकारों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए सम्प्रज्ञात और असंप्रज्ञात इन दोनों को योग संज्ञा दी यद्यपि संप्रज्ञातावस्था में चित्त की सात्त्विक वृत्ति का निरोध नहीं होता केवल राजस और तामस वृत्तियां ही निरुद्ध होती हैं और सात्त्विक वृत्ति का अस्तित्व रहता है। अत: उसे योग कहना संभव नहीं, योग तो चित्तवृत्ति के निरोध को कहते हैं, परन्तु ऐसी शंका करना उचित नहीं। सूत्रकार ने सूत्र में चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहा है, परन्तु यह नहीं कि सभी चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। अत: संप्रज्ञात भी योग कहलाने का अधिकारी है। इस स्थल पर इतना ही पर्याप्त है। इसका विशद विवेचन संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि के वर्णन के प्रसंग में इसी षष्ठ अध्याय के मध्य में होगा।

वृत्तिनिरोध के उपाय

मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए विवेकज्ञान की आवश्यकता है और चित्तवृत्तिनिरोध विवेकप्राप्ति का प्रथम सोपान है।

---

1. 'सा च अवस्था तारतम्यविशिष्ट संस्कार परिणामधारा न तु वृत्त्यभाव एव।'
—नागेशवृत्ति, पृ० २२१

विवेकज्ञान भी वृत्तिरूप है, अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध को उसका उपाय कैसे कहा जा सकता है । जब वृत्तियां ही न होंगी तो विवेकरूप वृत्ति कैसे सम्भव होगी । इस शंका का समाधान यह है कि चित्तवृत्तिनिरोध का अर्थ जहां राजस तामस-वृत्तियों के निरोध से लेना चाहिए न कि सात्त्विक वृत्ति से भी । अत: चित्तवृत्तिनिरोध होने पर भी सात्त्विक वृत्ति तो होगी ही और विवेकज्ञान सात्त्विकवृत्ति रूप ही है । अत: वृत्तिरोध को विवेकज्ञानप्राप्ति का कारण या ज्ञानप्राप्ति का प्रथम सोपान कहा जा सकता है । यह तो पूर्व ही स्पष्ट हो गया परन्तु वृत्तिनिरोध हो कैसे ? यही समस्या है । इस समस्या का समाधान आचार्यों ने कोटिश: किया है । वे अष्टांग योग क्रियायोगादि सभी को चित्तवृत्तिनिरोध का साधन कहते हैं, परन्तु क्या यह आवश्यक है कि एक मुमुक्षु इन सभी साधनों को करे तत्पश्चात् ही उसे विवेक और मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होगी, नहीं कदापि नहीं । उपर्युक्त सभी उपाय भिन्न-भिन्न स्तर वाले व्यक्तियों के लिए हैं अर्थात् चित्त के चांचल्य की दृष्टि से साधक को मुख्यत: तीन श्रेणियों में बांटा गया है-- उत्तम, मध्यम और न्यून । उत्तमश्रेणी के साधक वे हैं, जिनका चित्त विक्षिप्त न हो और पूर्वजन्म के कर्मानुसार जिन्हें कुछ मात्रा में संयम प्राप्त हो । योगसार में विज्ञानभिक्षु ने इन साधकों का लक्षण किया है-- 'उत्तमाधिकारिणस्त एव ये पूर्वभवानुष्ठित-बहिरंगसाधनतया तन्नैरपेक्ष्येणैव योगारूढा यथा जड़भरतादय:'[1] जो पूर्व जन्म में किए गए साधनों के कारण इस जन्म में उनका अनुष्ठान किए बिना हुए भी योगारूढ़ हो जाते हैं, वे उत्तमाधिकारी कहे जाते हैं । ऐसे योगीजनों को मोक्ष या ज्ञानप्राप्ति के लिए अभ्यास और वैराग्य रूप द्विविध उपायों का उल्लेख

----

१ योगसार, पृ०३० ।

हुआ है[1]। यह सभी आचार्यों को मान्य है। साथ ही ऐसे साधक ईश्वरप्रणिधान से भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अभ्यासादि उपाय क्या है, इस विषय में विचार किया जायगा। इस प्रकार संक्षेप में ये उत्तम श्रेणी के साधक हैं।

द्वितीय श्रेणी के वे साधक हैं, जिनका चित्त समाहित न हो अपितु व्युत्थित हो ऐसे साधकों के लिए क्रियायोग[2] का कथन हुआ है। क्रियायोग रूपसाधन का अनुशीलन करने से चित्तवृत्ति का निरोध तो होगा ही साथ ही उसको ज्ञान का भी अधिगम होगा।

उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त अन्य अष्टांगयोगादि का भी उल्लेख हुआ है, सर्वसाधारण अर्थात् सभी मनुष्य इनका अनुशीलन करके ज्ञानार्जन कर सकते हैं। सांख्ययोग में ही नहीं, इन साधनों का विशद् विवेचन महाभारत, योगवासिष्ठ आदि में भी हुआ है, इनसे भिन्न सांख्य दार्शनिक स्वकर्म रूप एक अन्य साधन भी मानते हैं, जिससे चित्त की वृत्तियां निरोध को प्राप्त होती हैं। अत: मुख्यत: ये ही साधन हैं इन साधनों का स्वरूप क्या है, इस पर विचार किया जायगा।

(क) अभ्यास

चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों के प्रसंग में सर्वप्रथम अभ्यास का प्रसंग आता है। अभ्यास क्या है?[3] इस विषय में योगसूत्र में पतंजलि ने लिखा है--" तत्र स्थितौयत्नोऽभ्यास:" अर्थात् चित्त की स्थिति के लिए किया

---

१ "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:" योगसूत्र १।१२, पृ०८२
"वैराग्याभ्यासाच्च" -- सांख्यसूत्र ३।३६, पृ०१५२

२ "तप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग:" -- योगसूत्र २।१, पृ०२६५

३ योगसूत्र १।१३, पृ०८५

गया प्रयत्न ही अभ्यास है । योगसारसंग्रह में भी ऐसा ही लक्षण किया गया है[१] । चित्त की स्थिति का क्या तात्पर्य है, यह सभी भाष्यकारों ने स्पष्ट किया है । व्यास ने इसी सूत्र के भाष्य में लिखा है-- 'चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिस्तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहस्तत्सम्पिपादयिषया तत्साधनानामनुष्ठानमभ्यासः' अर्थात् वृत्तिशून्य या वृत्तिरहित चित्त की प्रशान्त-वाहिता या निरोध प्रवाह ही चित्त की स्थिति है । इसी स्थैर्य के लिए किया गया प्रयत्न ही उत्साह और उसको सम्पादन के करने के लिए उपायों का अनुष्ठान ही अभ्यास है । भाष्यकार के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि स्थिति का अर्थ चित्त की सभी वृत्तियों के निरोध से है न कि कुछ वृत्तियों के निरोध से ही । अन्य टीकाकारों भास्वतीकारादि ने भी एतादृश अर्थ किया है, परन्तु इन सभी से भिन्न विज्ञानभिक्षु और वाचस्पतिमिश्र आदि ने स्थिति में राजस और तामस इन द्विविध वृत्तियों का निरोध ही स्वीकार किया है न कि सात्त्विक वृत्तियों का भी । अर्थात् राजस तामस इन दो वृत्तियों का निरोध हो जाने पर चित्त में सात्त्विक वृत्तिमात्र की अवस्थिति या चित्त की सात्त्विकवृत्तिरूप एकाग्रवृत्तिधारा ही चित्त की स्थिति या प्रशान्तवाहिता है और इसके लिए होने वाले उपायों का अनुष्ठान ही अभ्यास है । उपर्युक्त द्विविध मतों में द्वितीय विचार ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि अभ्यासमात्र से चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध संभव नहीं, यदि अभ्यास से ही चित्त पूर्णरूपेण निरुद्ध हो जाय तो वैराग्य की क्या आवश्यकता है । अत: योगशास्त्र में वैराग्य रूप उपाय का प्रतिपादन निरर्थक होगा । अत: अभ्यास चित्त की राजस तामस वृत्तियों के निरोध का उपाय है[२] । योगवासिष्ठ में वसिष्ठजी ने किसी कार्य को पुन: पुन: करने को ही अभ्यास

----

१ 'तत्राभ्यासश्चित्तस्य स्थितौ यत्नः', पृ०४१

२ मणिप्रभा, पृ०७

३ योगवासिष्ठ ६ [illegible]

कहा है -- `पौन: पुन्येन करणमभ्यास: इति कथ्यते`[1]। सांख्यसूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने अभ्यास को ध्यानरूप ही माना है । `केवलाभ्यासध्यानरूपादेव वैराग्यसहिताज्ज्ञानं तत्साधनयोश्च भवति` उनकी इस पंक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि ध्यान और अभ्यास एक ही है, परन्तु वस्तुत: इन दोनों में पर्याप्त भिन्नता है । इसका ध्यान के प्रसंग में उल्लेख होगा । अत: अन्ततोगत्वा यह कहा जा सकता है-- `स्वत: एव वहिष्प्रवाहशीलं चित्तं सर्वथा निरोधयिष्यामी-त्येवंविध उत्साहोऽभ्यास इत्युच्यते` इस प्रकार का उत्साह ही अभ्यास है ।

अब प्रश्न यह है कि अभ्यास पुन: पुन: किया जाता है, अत: कम से कम कितने समय तक अभ्यास करने से यह सुदृढ़ होगा । आचार्यों ने इसका उत्तर देते हुए लिखा है-- अभ्यास को दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक सेवन करना चाहिए । सूत्र में प्रयुक्त सत्कार शब्द के अन्तर्गत तप,ब्रह्मचर्य,विद्या और श्रद्धा को ग्रहण करना चाहिए । यह तो स्पष्ट ही है कि अभ्यास का एक ही जन्म में नहीं,वरन् जन्म-जन्मान्तरों तक अनुष्ठान करना चाहिए और वह भी निर्विघ्न अर्थात् इसे मध्य में ही त्यागना नहीं चाहिए अत: जन्म-जन्मान्तरों तक अव्यवहित रूप से तपादि द्वारा किया गया अनुष्ठान ही अभ्यास है[2] ।

(ख) वैराग्य का स्वरूप और प्रकार

वैराग्य का स्वरूप स्पष्ट करने के पूर्व यह प्रश्न उठता है कि क्या अभ्यास के पश्चात् वैराग्य होता है अथवा विवेकज्ञान प्राप्ति के लिए अभ्यास और वैराग्य इन दोनों साधनों का अनुष्ठान आवश्यक है या किसी एक का ही । वस्तुत: इन दोनों का ही अनुष्ठान करना चाहिए,

---

१ योगवासिष्ठ ६ । ६७।४३

२ प्रवृत्तिकी स्थितिस्तस्या: शान्तावस्था या चेतस: ।
`साधनानुष्ठानमभ्यासो वीर्यपूर्वकम् ।` -- योगकारिका ३२

क्योंकि दार्शनिकों ने अभ्यास से राजस तामस वृत्तियों का और वैराग्य से सात्त्विक वृत्तियों का निरोध स्वीकार किया है । अत: इन दोनों का अनुष्ठान आवश्यक ही है, परन्तु समस्या यह है कि ये दोनों साथ-साथ किए जाते हैं अथवा क्रम से ही किये जाते हैं । आचार्यों ने इनका क्रमिक अनुष्ठान ही स्वीकार किया है और यह उपयुक्त ही है । क्रमिक होने पर कौन पूर्वभावी और पश्चाद्भावी होगा यह विषय कुछ दुष्कर प्रतीत होता है क्योंकि भाष्यकार[1] और टीकाकारों ने सर्वप्रथम वैराग्य के साहाय्य से चित्तवृत्तियों को बाह्य विषयों से हटाना और अभ्यास से उन वृत्तियों को अन्तर्मुखी करना ही स्वीकार किया है, परन्तु सूत्रकार ने सूत्र में सर्वप्रथम अभ्यास का ही प्रयोग किया है । व्यासभाष्य की व्याख्या करते हुए ब्रह्मलीनमुनि ने लिखा है--"यद्यपि सूत्र में प्रथम अभ्यास पद का उपादान है तथापि बहिर्मुख चित्तवृत्ति का निरोध किए बिना अभ्यास असम्भव है । अत: योग्यतानुसार प्रथम वैराग्य से चित्त के बहि: प्रवाह को रोककर उसके बाद अभ्यास से अन्त: प्रवाह चालू किया जाता है[2] ।" वास्तविकता कुछ ऐसी ही है अर्थात् विषयाभिमुखी वृत्तियों का निरोध अधिक आवश्यक है । इनके निरोध के पश्चात् ही विवेकज्ञान रूप वृत्ति का अभ्यास सम्भव होगा । अत: क्रियात्मक दृष्टि से वैराग्य पूर्वभावी है । अत: उसका ही प्रथम निरूपण होना चाहिए । अब प्रश्न यह है कि यदि वैराग्य पूर्वभावी हो तो शास्त्र-प्रतिपादित विषय का बाध होगा । अर्थात् राजस तामस वृत्तियों का निरोध अभ्यास का विषय है, इनका निरोध होने पर भी जब विवेकज्ञान रूप सात्त्विक वृत्ति शेष हो, तब उस वृत्ति का वैराग्य से निरोध होगा अर्थात् वैराग्य

---

१ तत्र वैराग्येण विषयस्रोत: खिलीक्रियते । विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत: उद्घाट्यते इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध:" सूत्र १।१२ योग भाष्य, पृ०८४

२ तत्र विषयबोध ..... चित्तवृत्तिनिरोध: । भोजवृत्ति, पृ०६
भावागणेशीयवृत्ति, नागेशभट्ट, सूत्र १।१२, पृ०११
योगवार्तिक सूत्र १।१२, पृ०४७

अभ्यास का पश्चाद्भावी प्रतीत होता है । शंका का समाधान यह है कि वैराग्य से पहले बहिर्वृत्ति को रोकना, तत्पश्चात् अभ्यास से अन्तर्मुखी वृत्तिप्रवाह का होना । तत्पश्चात् पुन: वैराग्य से सात्त्विक वृत्ति का निरोध होता है ।

वैराग्य विराग के भाव को कहते हैं-- विरागस्य भाव: -- वैराग्यम् । विराग को अधिकतमाचार्य राग का अभाव ही कहते हैं--[1] `विराग वैराग्यं रागाभाव:` न्यायसूत्रों के भाष्य में भी यही लक्षण किया गया है । परन्तु विज्ञानभिक्षु ने रागाभावमात्र को ही वैराग्य नहीं, वरन् अलंबुद्धि को ही वैराग्य कहा है । राग क्या है ? वात्स्यायन ने राग के अर्थ रूप से आसक्ति को स्वीकार किया है--[2] `आसक्तिलक्षणो राग:` । इनसे भिन्न प्रशस्तपाद में पुन: पुनर्विषयानुरंजनेच्छाराग:` ईदृश लक्षण किया गया है । अत: राग वस्तुत: आसक्ति ही है । इन सभी से भिन्न कुछ अन्य शास्त्रकार राग का कषाय अर्थ करते हैं । कषाय मल को कहते हैं और अविद्यास्मिता-रागद्वेषाभिनिवेश ही चित्त के मल या कषाय हैं । इन क्लेशों का अभाव ही वैराग्य है । प्रशस्तपाद में इसका लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं-- `दोषदर्शनाद् विषयत्यागेच्छा वैराग्यम्` अर्थात् विषयों में दोष का दर्शन या प्राप्ति होने पर इन विषयों को त्यागने की इच्छा करना ही वैराग्य है । इनके विपरीत युक्तिदीपिकाकार ने वैराग्य को ज्ञान का प्रसादमात्र या ज्ञानविशेष कहा है[3] । परन्तु युक्तिदीपिकाकार का मत अन्य आचार्यों से भिन्न प्रतीत होता है । वे विराग को बुद्धि का प्रसादमात्र मानते हैं । बुद्धि के प्रसाद से उनका क्या तात्पर्य है, यह किंचित् ज्ञात नहीं, परन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि वैराग्य के चतुर्विध प्रकारों में से अन्तिम जो वशीकार संज्ञक वैराग्य है, उस अवस्था में बुद्धि में

---

१ तत्त्वकौमुदी, पृ० २२७

२ न्यायसूत्र ४।१।३ पृ० २७६

३ `विरागस्तु रागप्रतिपक्षभूतो ज्ञानाभ्यासोपजनितो बुद्धे: प्रसाद:`, पृ० ६५

ज्ञान का प्रकर्ष होता है, अत: इस अवस्थाविशेष को ज्ञान का प्रसादमात्र कहा जा सकता है । योगभाष्य में भी इसी मत का समर्थन हुआ । अत: अन्त में वैराग्य को राग का अभाव ही कहा जा सकता है । सांख्यसूत्रकार ने वैराग्य का कोई लक्षण नहीं किया यद्यपि ये भी चित्तरोध के उपायरूप से अभ्यास और वैराग्य को ही स्वीकार करते हैं[1] ।

जहां तक वैराग्य के प्रकारों का प्रश्न है आचार्य पतंजलि तो दो प्रकार ही मानते हैं-- अपर वैराग्य और परवैराग्य । यद्यपि इनसे भिन्न अन्य आचार्यों ने इनके चार प्रकार स्वीकार किए--यतमानसंज्ञक वैराग्य, व्यतिरेकसंज्ञक, एकेन्द्रियसंज्ञक और वशीकारसंज्ञक वैराग्य । हां इन चारों का अपर वैराग्य में अन्तर्भाव हो जाता है । ऐसा ही अन्य योग-दार्शनिकों का मत है ।

अपर वैराग्य

अब अपर वैराग्य का प्रसंग है । इसका लक्षण करते हुए योगसूत्रकार कहते हैं--[2] 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' अर्थात् दृष्ट या लौकिक और आनुश्रविक या पारलौकिक (स्वर्ग के) इन सभी विषयों के प्रति वितृष्ण या तृष्णाहीन भाव का होना ही वशीकार नामक वैराग्य है । इस सूत्र का भाष्य करते हुए व्यास जी कहते हैं-- स्त्री अन्न ऐश्वर्य आदि व लौकिक या दृष्ट विषयों में निस्पृह और साथ ही स्वर्ग प्राप्ति होने पर विदेहत्व या प्रकृतिलयत्व की प्राप्ति होने पर उन वेद प्रतिपादित पारलौकिक विषयों में भी वैरस्य, नश्वरत्व एवं दु:खरूपत्वादि दोष को देखने वाला अत: उस भोग में भी चित्त की राग-द्वेषशून्य स्थिति ही वैराग्य है । अत: लौकिकपारलौकिक विषयों के अभाव में तो उनके प्रति इच्छा का अभाव होना ही चाहिए, साथ ही उन

---

१ 'वैराग्याभ्यासाच्च' — सांख्यसूत्र ३।३६, पृ०४७

२ योगसूत्र १।१५, पृ०६१

विषयों के उपस्थित होने पर भी उनके प्रति निस्पृहभाव का होना अपरवैराग्य का लक्षण है । यह वैतृष्ण्य विवेकज्ञान के बल से ही प्राप्य है । भाष्यकार के मत कासभी योग दार्शनिकों ने समर्थन किया है[1] । अत: जिस अवस्थाविशेष में पुरुष की भोगलोलुपता या भोगेच्छा समाप्त हो जाती है, उसे ही अपर वैराग्य कहते हैं । अब प्रश्न यह है कि इसे अपर वैराग्य क्यों कहा गया ।सूत्रकार ने तो सूत्र में अपर शब्द का प्रयोग नहीं किया, किन्तु इसके पश्चात् १।१६सूत्र में वैराग्य का लक्षणकरते हुए उसे 'परवैराग्य' ऐसी संज्ञा दी गई । इससे स्पष्ट है कि पतंजलि को अपर और पर रूप से द्विविध वैराग्य अभिमत है । इस सूत्र में सूत्रकार ने 'वशीकार संज्ञा' इस शब्द का प्रयोग किया है, जिससे प्रतीत होता है कि अपर वैराग्य को ही वे वशीकार वैराग्य भी मानते हैं । यद्यपि अन्य टीकाकार वाचस्पति विज्ञानभिक्षु आदि वशीकार अवस्था के पूर्व वैराग्य की तीन अवस्था मानेते हैं और उन तीनों का क्रमश: अभ्यास होने पर ही वशीकार नामक अवस्था सिद्ध होती है,अर्थात् वशीकार ही वैराग्य की चरमा-वस्था है । वशीकार वैराग्य का तात्पर्य है चित्त का पूर्ण वशीकार अर्थात् चित्त का विषयाधीन न होकर स्वाधीन होना ही वस्तुत: चित्त का वशीकार या वशीकार वैराग्य है ।

इन चतुर्विध अपर वैराग्यों के पश्चात् ही पर वैराग्य की प्राप्ति होती है । यतमान, व्यतिरेक वैराग्यों का लक्षण कई आचार्यों ने किया है । कई सांख्यआचार्यों ने भी कारिकाओं की टीका में इनका लक्षण किया है[2] । इनके अतिरिक्त योगसूत्रों की योगवार्तिक,तत्त्ववैशारदी, योगचन्द्रिकादि में भी उनका उल्लेख है और इन सभी आचार्यों का एतद्विषयक मत समान ही हैं । अत: सामान्यत: यह कहा जा सकता है—अविद्यास्मितादि

---

१ योगभाष्य,पृ०६२

२ तत्त्वकौमुदी,पृ०२२६-२३२

युक्तिदीपिका,पृ०६५

पंचकषाय ही इन्द्रियों को विविध विषयों की ओर प्रवृत्त करते हैं, ये इन्द्रियों को प्रवृत्त न करें, इस प्रकार की इच्छा से रागादि को निवृत्त करने के लिए किए गए प्रयत्न ही यतमानसंज्ञक अपर वैराग्य कहलाता है। इस प्रकार रागादि की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करने पर कितने क्लेश निवृत्त हो गए, कितने अभी हो रहे हैं और कितने अभी शेष हैं। इस प्रकार निवृत्त क्लेशों से अनिवृत्त या शेष क्लेशों को पृथक् करना ही व्यतिरेक संज्ञक अपर वैराग्य होता है। तत्पश्चात् जब सभी क्लेश या मल निवृत्त हो गए हों अर्थात् अब वे इन्द्रियों को बाह्य विषयों के प्रति प्रवृत्त करने में पूर्णतया असमर्थ हों, तथापि कभी-कभी प्रवृत्त करने को उत्सुक हो जाय अर्थात् उनकी मन रूप इन्द्रिय में ही औत्सुक्य रूप से अवस्थिति होने पर एकेन्द्रिय नामक वैराग्य होता है। इसके बाद जिस अवस्था में ज्ञान के बल से सभी विषयों के प्रति उत्कण्ठा की निवृत्ति होने पर इन्द्रियों के वशीभूत होने पर उपेक्षा बुद्धि होती है, वही वशीकार नामक वैराग्य होता है। उसे ही अपर वैराग्य कहा जाता है, जिसका पूर्व ही वर्णन किया जा चुका है। इस प्रकार अपर वैराग्य चार प्रकार के होते हैं। विद्यारण्यादि आचार्यों ने भी इस विषय में सांख्ययोगदार्शनिकों का समर्थन किया है[1]। सांख्यचन्द्रिका में नारायणतीर्थ ने केवल इन्हीं चार वैराग्यों को स्वीकार किया है न कि परवैराग्य को भी[2]।

<u>पर वैराग्य</u>

अपर वैराग्य के पश्चात् पर वैराग्य का प्रसंग है। पर वैराग्य का लक्षण करते हुए योगसूत्रकार लिखते हैं--"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यं" अर्थात् जब पुरुष ख्याति या विवेक ज्ञान के प्रति

---

1 "वैराग्यं द्विविधम्। अपरं परं चेति। यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारभेदैरपरं चतुर्विधम्"। पृ० ३१९, जीवन्मुक्ति विवेक।

2 "विरागो वैराग्यं तच्चतुर्विधं। यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारसंज्ञाभेदात्।"

पृ० २१

भी वितृष्णा का भाव होता है उसे ही परवैराग्य कहते हैं । अपरवैराग्य सिद्ध हो जाने पर विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है तत्पश्चात् विवेकज्ञान के उदित होने से सत्त्वरजसादि त्रिविध गुणों के प्रति भी निस्पृहा का भाव या गुणों के कार्य ज्ञानादि के प्रति भी वैतृष्ण्य होने पर परवैराग्य होता है और परवैराग्य निष्पन्न होने पर ही मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति होती है । अत: कैवल्य का नान्तरीयक होने से परवैराग्य ही ज्ञान की पराकाष्ठा या चरमावस्था है ।

वृत्तिनिरोध के अन्य उपाय

चित्तवृत्तिनिरोध के इन द्विविध मुख्य उपायों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपाय भी हैं, जैसे ईश्वरप्रणिधान अष्टांगयोगादि । इनमें से अष्टांगयोग सर्वसाधारण व्यक्ति के लिए और क्रियायोग मध्यम कोटि के साधक के लिए शास्त्रों में प्रतिपादित है । ईश्वरप्रविधान का उल्लेख आचार्य पतंजलि ने उत्तम श्रेणी के साधक के प्रसंग में किया है । अभ्यासवैराग्य ही समाधि प्राप्ति का एकमात्र साधन नहीं, ईश्वरप्रणिधान से भी समाधि सुलभ होती है[1] । ईश्वरप्रणिधान से उनका तात्पर्य ईश्वर रूप पुरुष विशेष की भक्ति से है । प्रकर्षेण विधानमिति प्रणिधानम् अर्थात् ईश्वर में चित्त को एकाग्र करना ही ईश्वरप्रणिधान है । अत: ईश्वर का ही प्रकृष्ट रूप से ध्यान करने से ईश्वर या परमात्मा भक्त के अभीष्ट सिद्धहेतु संकल्पमात्र से भक्त पर दया करता है और उस अनुग्रहमात्र से समाधि सुलभ हो जाती है[2] । ईश्वर का स्वरूप तो प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट कर चुके हैं । ईश्वर का स्वरूप तो पुरुष क्लेश कर्मादि से असंस्पृष्ट पुरुषमात्र है, कोई अन्य तत्त्व नहीं ।

---

1 ईश्वरप्रणिधानाद्वा —योगसूत्र 1।23, पृ० 126

2 व्यासभाष्य, पृ० 126-127।

केवल ईश्वर का ध्यान या ईश्वर में मन को एकाग्र करने पर समाधि आसन्नतर होती है । आचार्य पतंजलि ने ईश्वरप्रणिधान की प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया है । ईश्वर में ध्यान किस प्रकार किया जाय, इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं-- ईश्वर का वाचक प्रणव शब्द है अर्थात् ईश्वर को ही ओऽम् या प्रणव कहते हैं । प्रणव शब्द का अर्थ उसकी व्युत्पत्ति मात्र से स्पष्ट है । प्रकर्षेण प्रकृष्टं नूयते स्तूयतेऽनेनेति प्रणवः' अर्थात् जिसके द्वारा विशेष स्तुति की जाय वही प्रणव है । प्रणव को ही 'ओऽम्' भी कहते हैं-- ओऽम् की त्रिविध मात्राएं ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप त्रिविध देवों की वाचक हैं । साथ ही ये मात्राएं पृथ्वी अन्तरिक्ष और स्वर्गलोक की वाचक भी हैं । इस प्रकार प्रणव त्रिविध देवों और लोकों में व्याप्त ईश्वर का वाचक है, अतः ईश्वर और प्रणव के मध्य वाच्यवाचकभावसम्बन्ध है, भाष्यकार व्यास ने इस सम्बन्ध के विषय में शंकाएं कीं और उनका समाधान भी स्वतः किया है । अन्ततोगत्वा यह सिद्ध किया कि ईश्वर इस वाच्यवाचकसम्बन्ध को केवल प्रकट करता है अर्थात् यह सम्बन्ध पूर्व भी अनेक सृष्टियों से अवस्थित है । अब प्रश्न यह है कि ईश्वर का वाचक प्रणव हो, परन्तु उसका ध्यान कैसे होता है ? सूत्रकार कहते हैं-- 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'[1] अतः उस प्रणव रूप पद का जप करना चाहिए अर्थात् प्रणव के अर्थ या विषयभूत ईश्वर की भावना करनी चाहिए । सूत्र का वस्तुतः यही अर्थ निकलता है, परन्तु भाष्यकार और विभिन्न टीकाकारों ने कुछ भिन्न अर्थ किया, उनके अनुसार प्रणव रूप शब्द का उच्चारण या जप करना चाहिए और उसके वाच्य ईश्वर की भावना करनी चाहिए । अर्थात् शब्दका पुनः-पुनः उच्चारण या जप करना ही उनका जप है और भावना का अर्थ है उसका पुनः पुनः चित्त में निवेश । अर्थात् बार-बार चित्त को उसी ईश्वर रूप अर्थ में लगाना चाहिए । इस प्रकार जप और भावना से ही ईश्वर की भक्ति होती है और चित्त एकाग्र हो जाता है । अन्य

---

१ योगसूत्र १।२८, पृ०१५६

सभी टीकाकारों विज्ञानभिक्षु वाचस्पति आदि ने भी इसको स्वीकार किया है। भाष्यकार स्वमत को स्पष्ट करके विष्णुपुराण के एक श्लोक को समर्थन रूप से उद्धृत करते हैं--

'स्वाध्यायात् योगमासीत् योगात्स्वाध्यायमासते।

स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते।'[1]

अत: यह ज्ञात है कि ईश्वरप्रणिधान भी समाधि प्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण साधन है और इस साधन के अभ्यास के लिए ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करना अत्यन्तानिवार्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस साधन की सार्थकता के लिए ही योगदार्शनिकों ने ईश्वर को स्वीकार किया और उसका स्वरूपस्पष्ट करने का प्रयत्न किया।

(क) क्रियायोग

उपर्युक्त प्रतिपादित अभ्यास और वैराग्य के अनुशीलन से जब चित्त निरोध हो जाता है और समाधि प्राप्त होती है, तो अन्य क्रियायोगादि उपायों की क्या आवश्यकता है? अत: शास्त्र में किया गया क्रियायोगादि का प्रतिपादन निरर्थक या व्यर्थ है। ऐसी शंका प्राय: उठती है, परन्तु इसके समाधान रूप से सभी योगदार्शनिकों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है। अभ्यास वैराग्य रूप साधनों का उल्लेख समाहित चित्तवाले साधकों की दृष्टि में रखकर किया गया अर्थात् वे ही इन साधनों का सम्यगनुष्ठान करने में समर्थ है और तत्पश्चात् सफल भी होते हैं। परन्तु इनसे भिन्न जो व्युत्थित चित्त वाले साधक है, अर्थात् जिसका चित्त अभी किंचिदपि एकाग्र या निरुद्ध नहीं है, ऐसे साधक अभ्यासादि के अनुष्ठान में सर्वथा असफल है अर्थात् वैराग्य के अ

---

1 योगभाष्य ६।६।२, पृ० १६०

अभाव में अभ्यास करना असम्भव ही है । अत: ऐसे साधकों के लिए युक्ति-प्राप्ति के साधनरूप से क्रियायोग का प्रतिपादन हुआ है[1] । अत: इन्हें निरर्थक मानना उचित नहीं । अब प्रश्न यह है--क्रियायोग है क्या ? वस्तुत: योगप्राप्ति में सहायक होने के कारण इसे क्रियायोग कहा जाता है । सभी योगदार्शनिकों की भी यही मान्यता है । वाचस्पति मिश्र भी कहते हैं--`क्रियेव योग: क्रियायोग: योगसाधनत्वात्` अर्थात् क्रिया ही योग का साधन होने से योग है । वस्तुत: क्रिया तो योग हो नहीं सकती, परन्तु यह साध्य-साधनाभेदोपचारात् क्रिया को ही योग कहा है, क्योंकि ये तपस्वाध्यायादि क्रियाएं योगप्राप्ति में साधन हैं । अत: वाचस्पति मिश्र का क्रियाओं को ही क्रियायोग कहना उपयुक्त ही है । हरिहरानन्द[2] ने भी यही स्वीकार किया है-- योग या चित्तवृत्तिनिरोध को उद्देश्य कर क्रिया करना ही क्रियायोग है । आचार्य विज्ञानभिक्षु लिखते हैं-- योग का उपायरूप होने के कारण ही इन क्रियाओं या कर्मों को योग संज्ञा दी गई । अत: क्रियायोग भी योग-प्राप्ति के साधन हैं । यदि क्रियायोग शब्द का विग्रह `क्रियया एव योग:` ऐसा माना जाय तो उसका अर्थ होगा क्रिया से ही जो योग प्राप्त होता है । इस विग्रह से ऐसा प्रतीत होता है कि ये क्रियाएं और इनसे प्राप्य योग वस्तुत: भिन्न भिन्न है । अत: तप स्वाध्याय और प्रणिधान ये तीनों तो क्रियाएं होंगी और योग कोई भिन्न, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं यदि तप आदि क्रिया मात्र होते तो उन्हें क्रियायोग संज्ञा कैसे दी जाती और शास्त्र में इन उपायों को ही साक्षात् क्रियायोग शब्द से कहा गया है । अत: क्रियायोग का प्रथम विग्रह ही अधिक उपयुक्त है । ये क्रियाएं कौन-कौन हैं? अथवा क्रियायोग कितने प्रकार के हैं[3] । योगसूत्रों का द्वितीयपाद क्रियायोगों के ही वर्णन से प्रारम्भ हुआ है और उसमें त्रिविध क्रियायोगों का

---

१ `क्रियायोगं प्रवक्ष्यामि देवताराधनं(?) ...
भुक्तिमुक्तिप्रदं यस्मान्नान्यत् लोकेऽपि विद्यते ।`

उल्लेख हुआ है-- तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रविधान[१]।

जहां तक तप आदि के स्वरूप का प्रश्न है सूत्रकार ने इन्हें स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी, हां भाष्यकार ने २।१ और २।३२ सूत्रों के भाष्य में इनका उल्लेख किया है। सुखदु:खादि के द्वन्द्व को सहना ही तप है--`तपो द्वन्द्व सहनम्। द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासेन काष्ठमौनमाकारमौनं च।...[२]` अर्थात् क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, स्थान, आसन आदि द्वन्द्व हैं। इन द्वन्द्वों को सहना ही तप है। साथ ही कृच्छ्र, चान्द्रायण शान्तपन आदि व्रत भी तप के अन्तर्गत आते हैं। हरिहरानन्द ने तप को सुख का त्याग का कामसंयम भी कहा है अर्थात् तपस्या में शरीर पर नियंत्रण भी हो जाता है। जहां तक स्वाध्याय का प्रश्न है व्यास ने कहा है--`प्रणवादि पवित्राणां जप: मोक्षशास्त्राध्ययनं वा` अर्थात् प्रणव या ओंकार जिसका उल्लेख ईश्वरप्रणिधान के प्रसंग में किया गया है, का जप तथा मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन ही स्वाध्याय है। मोक्ष-शास्त्रों से तात्पर्य उन शास्त्रों से है, जिसमें मोक्ष प्राप्ति के साधनों और मार्गों का प्रतिपादन हुआ है। ऐसे शास्त्रों का अध्ययन करने से मोक्ष साधन सुन्दर होंगे तत्पश्चात् मोक्षप्राप्ति भी सहज हो सकती है। तृतीय और अंतिम क्रियायोग है ईश्वरप्रणिधान। ईश्वरप्रणिधान पर पूर्व ही विचार किया जा चुका है, परन्तु क्रियायोग के प्रसंग में आचार्य व्यास ने उसे भिन्न शब्दों से व्यक्त किया है--` तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणं` अर्थात् उस परम गुरु या ईश्वर में सभी कर्मों का अर्पण कर देना ईश्वरप्रणिधान है[३]।

----

१ तपआदीनि त्रीणि क्रियायोग इत्यर्थ: ईश्वरप्रणिधानरूपो भक्तियोगोऽप्यत्र क्रियायोग मध्य एव प्रवेशित:। --योगवार्तिक २।१, पृ० १३८

२ व्यासभाष्य, पृ० ४५६

३ ईश्वरप्रणिधानं लौकिक वैदिकसाधारणकर्मण ामन्तर्यामितया परमगुरावीश्वरे-र्पणम्। --नागेशवृत्ति, पृ० २६४।

पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी

२ योगमुद्दिश्य क्रियाचरणं क्रियायोग: -- भास्वती, पृ० १४०

३ तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग:`--योगसूत्र २।१, पृ० २६५

वस्तुत: ईश्वरप्रणिधान के इन द्विविध निरूपणों में कोई विशेष भेद नहीं केवल कथन में ही भेद है। अर्थात् ईश्वर की इतनी भावना करे या उसमें भक्ति करने में उसे सभी स्वकर्मों को अर्पित करे दे अर्थात् ईश्वर ही कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। इस प्रकार की भावना करने को ही ईश्वरभक्ति कहते हैं और ऐसी भावना करते करते चित्त में ईश्वरीय गुण आ जाते हैं। धीरे-धीरे योगी भी ईश्वररूप या ज्ञानी हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि क्रियायोग का फल क्या है? सूत्रकार कहते हैं-- 'समाधिभावनार्थ: क्लेशतनूकरणार्थश्च'[1] अर्थात क्रियायोगों के अनुष्ठान से चित्त में स्थित सभी क्लेशों का तनूकरण होता है। क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को कहते हैं। तनूकरण का अर्थ भोज ने स्वकार्यकरणप्रतिबन्ध:' से लिया है। अर्थात् क्लेशों की फलों की उत्पादक शक्ति का नष्ट या अभिभूत हो जाना ही क्लेशों का तनूकरण है। जब क्लेश फल न देंगे तो चित्त समाधि के योग्य होगा। अब समस्या यह है कि क्रियायोग के अनुष्ठानमात्र से विवेकज्ञान और समाधि की प्राप्ति होगी अथवा उनके पश्चात् भी अभ्यासादि का अनुष्ठान आवश्यक होगा। भाष्यकार व्यास ने क्लेशों का तनूकरण क्रियायोग से और पुन: उन तनूकृत क्लेशों का दाह प्रसंख्यानरूपाग्नि या विवेकज्ञान से स्वीकार किया है[2]। यही सभी आचार्यों की मान्यता है इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि क्रियायोगों के पश्चात् वैराग्यादि की आवश्यकता नहीं, हां क्रियायोग का अभ्यास अवश्य ही अपेक्षित है। आचार्य व्यास के अनुसार जिन वृत्तियों या क्लेशों का क्रियायोग से तनूकरण न हुआ हो उनका ध्यान रूप प्रसंख्यान से दग्धबीजभाव होना चाहिए, वैराग्यादि से नहीं[3]। यह जीवन तो पूर्वजन्म में किए गए

---

१ योगसूत्र २।२, पृ० २७०

२ योगभाष्य, पृ० २७१

३ योगभाष्य, पृ० ३०६

कर्मों का फल है ।

(ख) अष्टांग योग

अभ्यास, वैराग्य क्रियायोगादि के पश्चात् अष्टांगयोग है से सांसारिक दु तापों से मुक्ति प्राप्त होती है[1] । इसका उल्लेख वस्तुत: गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले साधकों के लिए हुआ है । गृहस्थाश्रमी साधकों के लिए अत्यन्त दु:साध्य अथवा परिश्रमसाध्य योगकर्मों का अनुष्ठान करना कुछ दुष्कर होता है अर्थात् गृहस्थाश्रम के धर्मों के साथ -साथ उन योगों को करना संभव नहीं है । अत: उनके लिए अष्टांगयोग रूप सुकर साधनों का उपदेश हुआ है । इनमें क्रमश: एक-एक का अनुष्ठान होता है अर्थात् एक यम के सुदृढ़ हो जाने पर नियम और नियम के दृढ़ होने पर ही आसनादि का अनुष्ठान किया जा सकता है । इसकी अष्टांग योग संज्ञा से यह स्पष्ट है कि इनके आठ ही अंग हैं । ये सभी अंग योगप्राप्ति में साधन या सहायक होने से योग कहे जाते हैं । ये अंग कौन-कौन से हैं, इनकी गणना योगसूत्रकार ने २।२६ सूत्र में की है[2] । ये हैं-- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । इनमें सर्वप्रथम यम का ही कथन हुआ है । अत: सर्वप्रथम इसे ही स्पष्ट करना चाहिए । सांख्यसूत्रों के भाष्य में आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी इन्हीं आठ अंगों को स्वीकार किया है[3] ।

---

१ संसारतापमुक्त्यर्थं वक्ष्याम्यष्टांगयोगकम् --अग्निपुराण, द्वितीय खण्ड १।१८३ अध्याय

२ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि --योगसूत्र २।२९, पृ०४४३।

३ पातंजले योगेऽङ्गानामष्टानामेव विवेकसाक्षात्कारहेतुत्वश्रवणादिति -- सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० १५०

यम
--

जहां तक यम का प्रश्न है `यम` शब्द `यम उपरमे` धातु से निष्पन्न हुआ है । इसका अर्थ है उपरम या अभाव । `यम उपरम इत्यस्य रूपंयमा इति उपरम्यन्ते निवर्त्यन्ते विषयेभ्यो मनसेन्द्रियाणीति यमास्ते चाहिंसादय: पंच इति ।`[1] यम मुख्यत: पांच प्रकार के होते हैं--[2] `अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमा:` ये पांच ही अन्य सभी आचार्यों को मान्य हैं । गरुड पुराण में भी इन्हीं पांच का उल्लेख है[3] । सूत्रकार ने इनका लक्षण नहीं किया, किन्तु भाष्यकार क्रमश: लक्षण करते हुए लिखते हैं --`तत्राहिंसा--सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह:` अर्थात् सभी प्रकार से सभी कालों में सभी प्राणियों से द्रोह न करना ही अहिंसा है । यह अनभिद्रोह भी तीन प्रकार से हो सकता है-- मन से, वचन से और काम या शरीर से । अत: मनसा वाचा कर्मणा किसी भी प्रकार से द्रोह की इच्छा न करना ही अहिंसा है । स्कान्दपुराण में अहिंसा का उल्लेख इस प्रकार हुआ है-- आत्मवत्सर्वभूतेषु यो हिताय प्रवर्तते । अहिंसैषा समाख्याता वेदसंविहिता यथा[4] । अर्थात् प्राणियों को अपने समान समझकर जो उनके हित के लिए प्रयत्न किया जाता है, वही अहिंसा है । आचार्यों ने अहिंसा को मूल कहा है अर्थात् अहिंसा के निर्मल और पुष्ट होने के पश्चात् ही यमनियमादि का अनुष्ठान सम्भव है अन्यथा नहीं । अत: अहिंसा को इन यमादि का कारण न समझना चाहिए वरन् सर्वप्रथम अहिंसा के अनुष्ठान का ही प्रयत्न करना चाहिए ।

----

१ पातंजलरहस्यम्, पृ० २४७

२ योगसूत्र २।३०, पृ०४४४

३ `अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहो । यमा: पंचार्थ...... ।

--गरुण पुराण, पृ० १६२

४ स्कान्दपुराण ५५।१५

अहिंसा के बाद असत्य का प्रश्न है । असत्य का अर्थ है जो सत्य न हो परन्तु सत्य क्या है --' सत्यं यथार्थं वाङ्०मनसे' अर्थात् वाणी और मन का जो यथार्थत्व है वही सत्य है । अत: जो पदार्थ जिस प्रकार देखा गया , जिस प्रकार अनुभव किया गया और जिस प्रकार सुना गया, ठीक उसी रूप से उसका शब्दों में वर्णन या कथन करना ही सत्य है । स्कान्दपुराण में सत्य का एतादृश लक्षण हुआ-- 'दृष्टं श्रुतं-यानुमितं स्वानुभूतं यथार्थत: । कथनं सत्यमित्युक्तं पर पीड़ा विवर्जितम् ।' प्रश्न यह है कि इस प्रकार का सत्य भी कभी कभी अप्रिय या प्राणियों का अवघात करता है अत: वह सत्य है अथवा नहीं । इस विषय में ऐसा कहा जा सकता है कि जो सभी के उपकार के लिए हो, अर्थात् जिसका फल अपकार न होकर उपकार के लिए हो, ~~अर्थात् जिसका फल अपकार न होकर उपकार ही हो~~ वह सत्य तो वस्तुत: सत्य है । इससे भिन्न अपकारक[1] सत्य सत्य कहलाने का अधिकारी नहीं । वह सत्याभास या असत्य ही है । अत: ऐसा असत्य न बोलना या असत्य भाषण पर संयम करना ही द्वितीय असत्य नामक यम है ।

तृतीय यम है अस्तेय । जो स्तेय रूप न हो वही अस्तेय है । स्तेय को भाष्यकार कहते हैं--' स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परत: स्वीकरणम्' शास्त्रोक्तविधि के बिना ही दूसरे के धन को ले लेना स्तेय है और उससे विपरीत या मन से भी किसी दूसरे के धन लेने की इच्छा न करना ही अस्तेय है ।

चतुर्थ यम है ब्रह्मचर्य । ब्रह्मचर्य उपस्थ संयम को कहते हैं अर्थात् अब्रह्मचर्य के विषयों में इन्द्रियों को संयम या निगृहीत करना और उपस्थेन्द्रिय पर पूर्ण संयम प्राप्त करना ही ब्रह्मचर्य है' ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयम:[2]' । अब प्रश्न यह है कि अब्रह्मचर्य के विषय से क्या तात्पर्य है

---

१ योगभाष्य,पृ०४४८

२ ,, पृ०४५०

अथवा अब्रह्मचर्य है क्या ? दक्ष संहिता में आठ अब्रह्मचर्य बताए गए हैं,इन्हें ही आचार्यों ने भी स्वीकार किया है[1], ये इस प्रकार हैं-- स्मरण,कीर्तन,केलि प्रदान,गुह्यभाषण,संकल्प,अध्यवसाय और क्रियानिवृत्ति, ये आठ ही अब्रह्मचर्य हैं । इनके विषयों का ग्रहण न करना या पूर्णरूपेण परित्याग करना ही वस्तुत: ब्रह्मचर्य है ।

पंचम और अन्तिम यम है अपरिग्रह । अपरिग्रह शब्द का अर्थ है ग्रहण न करना,अर्थात् विषयों में विविध अर्जन रक्षणादि दोष देखकर उनका ग्रहण न करने की जो इच्छा उठती है उसे ही अपरिग्रह नामक यम कहते हैं । 'विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनात् स्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमा:' । इस प्रकार ये ही पांच यम हैं,जिनका चित्तशुद्धि के लिए साधक को सर्वप्रथम अनुष्ठान करना चाहिए शास्त्रों में इन पांच प्रकार के यम को सार्वभौम महाव्रत भी कहा गया है[1] । सार्वभौम का अर्थ है जो समस्त पृथ्वी में या समस्त देशों में हो अर्थात् जो सभी विषयों में सभी प्रकार के व्यभिचार से रहित अहिंसादि होते हैं, उन्हें ही वस्तुत: महाव्रत की संज्ञा दी गई है, परन्तु प्रत्येक अहिंसादि महाव्रत नहीं कहलाते, जब तक ये जाति,देश,काल और संयम इन चारों की परिधि से सर्वथा अनवच्छिन्न न हो ।

इन उपर्युक्त पंच यमों के अनुष्ठान से चित्त की क्या स्थिति होती है यह जानना आवश्यक है,परन्तु इस विषय पर किसी आचार्य ने प्रकाश नहीं डाला । ऐसा प्रतीत होता है कि अहिंसा के अनुष्ठान से चित्त का द्वेष रूप क्लेश या कषाय निवृत्त हो जाता है । अस्तेय और अपरिग्रह से चित्तवृत्तियां निरुद्ध होती हैं अर्थात् चित्त विविध विषयों की ओर प्रवृत्त नहीं होता और ब्रह्मचर्य से उपस्थेन्द्रिय पर संयम होता है अर्थात्

---

१ 'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा: महाव्रतम्'

--योगसूत्र २।३१,पृ०४५१

विविध विषयों की ओर प्रवृत्त नहीं होता और ब्रह्मचर्य से उपस्थेन्द्रिय पर संयम होता है अर्थात् इस इन्द्रिय का निरोध होता है । संक्षेपतः ये यमों के फल हैं इनसे भिन्न इनके फलस्वरूप कई सिद्धियां प्राप्त होती हैं । जिनका द्वितीय पाद में विविध सूत्रों से उल्लेख हुआ है, उनका चित्त से विशेष संबंध न होने से यहां उल्लेख अपेक्षित नहीं ।

नियम

यम के पश्चात् नियम का अनुष्ठान करना चाहिए जिनके द्वारा चित्तादिवृत्तियों का निश्चयपूर्वक नियमन किया जाय वे ही नियम कहलाते हैं -- 'नियम्यन्ते नितरां (निश्चयेन) चित्तादिवृत्त्यः येभिस्ते नियमाः' । नियम भी पांच ही होते हैं -- शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान । यम के समान ही शौचादि का लक्षण भी सूत्रकार ने नहीं किया । उनका नाममात्र कथन किया है । नियमों में सर्वप्रथम शौच का प्रसंग है । शौच दो प्रकार के होते हैं -- बाह्य और आभ्यन्तर । 'तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्'[1] अर्थात् मिट्टी, जल और गोमय आदि के द्वारा बने हुए पवित्र भोज्य पदार्थों से जो शौच होता है, वह बाह्य शौच कहा जाता है । 'आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्' और मैत्री करुणा (मुदिता और उपेक्षा की भावना द्वारा चित्त के मदमानादि मलों का प्रक्षालन करना ही आभ्यन्तर शौच है । शौच के फल का निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं--[2] 'सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि' अर्थात् शौच के अनुष्ठान से सत्त्वशुद्धि या चित्तसत्त्व बुद्धि विमल होती है । चित्त समाहित या एकाग्र होता है । चित्त के समाहित होने से इन्द्रियों पर संयम या जय प्राप्त होती है । तत्पश्चात् इन्द्रियजय से आत्मसाक्षात्कार की योग्यता आती है ।

---

१ योगभाष्य, पृ०४५५

२ योगसूत्र २।४१, पृ०४७४

द्वितीय नियम है संतोष । संतोष वस्तुत: निश्चिंत भाव को कहते हैं अर्थात् इच्छित पदार्थ की प्राप्ति होने पर उतने से ही निश्चिन्त रहना, तद्भिन्न की इच्छा न करना ही तुष्टि या संतोष है । 'संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा'[1] भाष्यकार ने ऐसा लक्षण किया है अर्थात् जो पदार्थ प्राप्त है उससे अधिक की कभी इच्छा न करना ही संतोष है ।

तृतीय नियम है तप । तप के विषय में क्रियायोग के प्रसंग में वर्णन हो चुका है । वही तप यहां नियम रूप से कहा गया है । उसी प्रकार स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान का भी उसी स्थल पर वर्णन कर चुके हैं । यहां पर उस विषय में कुछ कहना पिष्टपेषण मात्र होगा । अत: जैसे यमों का अनुष्ठान करने से विविध इन्द्रियों पर निग्रह प्राप्त होता है । अहिंसादि से वागिन्द्रिय पर, ब्रह्मचर्य से उपस्थेन्द्रिय इत्यादि पर चित्त का वशीकार होता है । ठीक उसी प्रकार नियमों शौचसंतोषादि के अनुष्ठान से भी विविध इन्द्रियों पर निग्रह प्राप्त होता है । साथही चित्त भी एकाग्र हो जाता है । ईश्वरप्रणिधान में इन्द्रियां तो विषयों से निवृत्त हो ही जाती हैं,साथ ही चित्त भी एक ही ईश्वर रूप विषय में एकाग्र हो जाता है । ईश्वरप्रणिधान का अनुष्ठान करने से अथवा ईश्वर में सर्वकर्मार्पण से चित्त संप्रज्ञात समाध्यवस्था को प्राप्त हो जाता है -- 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्'[2] तत्पश्चात् असंप्रज्ञात और मोक्ष सन्निकट होते हैं ।

आसन

अष्टांगयोग का तृतीय अंग है आसन । 'आस्य आस्ते वा अनेन इति आसनम्' आसन शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा

१ योगभाष्य ,पृ०४५६

२ योगसूत्र, पृ०४७८

स्थिरता तथा सुख प्राप्त हो उसे ही आसन कहते हैं । सांख्यसूत्रकार और योग-सूत्रकार दोनों ही आचार्यों ने 'स्थिरसुखमासन्' इस सूत्र [1] से जिस अवस्थाविशेष में योगी को स्थिर सुख की प्राप्ति होती है, वही आसन है । अर्थात् आसन स्थिर सुख का साधन है ।

जहां तक आसन के प्रकारों का प्रश्न है, आसन वस्तुत: कई प्रकार के होते हैं । हठयोगप्रदीपिका में आसन के २४ प्रकारों की गणना हुई है -- सिद्धासन पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन ही श्रेष्ठ हैं । व्यासभाष्य में भी इन आसनों की गणना हुई है-- पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन आदि । इनके विषय में यहां कथन करना कोई आवश्यक नहीं, क्योंकि योगियों को ये सभी आसन मान्य नहीं हैं । भाष्यकार को स्थिरसुखासन ही मान्य है । अर्थात् योगियों को इस आसन का ही अनुष्ठान करना पर्याप्त है न कि अन्य का भी । भाष्यकार और अन्य टीकाकारों ने भी योगियों के लिए इसी आसन को उपयोगी बताया है । हठयोगप्रदीपिका में चार आसनों को श्रेष्ठ बताकर सिद्धासन को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है । योगसूत्रकार ने आसन के साधन और फल का भी निरूपण किया है । फल के विषय में सिद्धियों के प्रसंग में विचार होगा । तथापि यहां इतना कहना आवश्यक ही है कि आसन सिद्ध होने पर या आसन पर जय प्राप्त होने से भी चित्त की विक्षिप्तता समाप्त हो जाती है अर्थात् सुख-दु:खादि ,शीतोष्णादि द्वन्द्वों के उपस्थित होने पर भी चित्त व्युत्थित या चंचल नहीं होता । अर्थात् सुख आने पर प्रसन्न और दु:ख आने पर दु:खी या चिन्तित नहीं हो सकता [2] । हां साधन के विषय में यहां विचार करना श्रेयस्कर है । सूत्र २।४७ में सूत्रकार कहते हैं-- 'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्' अर्थात् प्रयत्न को शिथिल करके और अनन्त पर समापत्ति या ध्यान लगाने से आसन सिद्ध होता है । प्रयत्न का अर्थ है शरीर की स्वाभाविक चेष्टा । स्वाभाविक शारीरिक चेष्टाओं या क्रियाओं

---

१ योगसूत्र, पृ०४७९

२ ततो द्वन्द्वानभिघात:

का उपरम करके अथवा स्थिर देव को अपनी समापत्ति का विषय बनाने पर आसन शीघ्र ही सिद्ध होता है । अत: आसन के ये ही कारण हैं, ये ही सभी योग दार्शनिकों को अभिमत भी हैं ।

<u>प्राणायाम</u>

आसन की सिद्धि के पश्चात् ही साधक प्राणायाम का अनुष्ठान करने में समर्थ हो सकता है, अर्थात् जिसने आसन का पूर्णरूपेण अनुष्ठान कर लिया हो वे ही प्राणायाम करने के अधिकारी हैं । प्राणायाम आसन के बाद का ही सोपान है, परन्तु इस विषय में सभी आचार्यों का मत भिन्न-भिन्न है । कुछ विज्ञानभिक्षु आदि प्राणायाम को आसन का पश्चाद्भावी ही मानते हैं अर्थात् आसन के पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाने पर ही साधक प्राणायाम का अनुष्ठान कर सकता है । अत: उन्होंने 'सति आसने' का 'आसनजये सति' ऐसा अर्थ किया है, परन्तु इनसे भिन्न कुछ वाचस्पति आदि आसनजय को नहीं वरन् स्थिर या दृढ़ रूप को स्वीकार करते हैं । आसन पर पूर्ण जय प्राप्त करना आवश्यक नहीं । प्रश्न यह है कि प्राणायाम है क्या ? इसका लक्षण करते हुए योगसूत्रकार कहते हैं-- 'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:'[1] अर्थात् आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति में जो रोध या विच्छेद होता है उसे ही प्राणायाम कहते हैं । श्वास का अर्थ है बाह्य वायु का अन्दर प्रवेश और प्रश्वास का अर्थ है अन्तर्वर्ती वायु का बहिर्निस्सारण । इन द्विविध श्वास-प्रश्वास वायुओं का विच्छिन्न या यह कहिएकि अभाव ही प्राणायाम का तात्पर्यार्थ है । योगवार्तिक में विज्ञानभिक्षु ने सूत्र के गतिविच्छेद पद का भिन्न ही अर्थ किया है । गति का अर्थ स्वाभाविक श्वास और प्रश्वास का विच्छेद या प्रतिषेध है । अत: उनके अनुसार प्राणायाम का अर्थ प्रतिषेधमात्र से है । परन्तु उनका यह लक्षण

---

१ योगसूत्र २।४६,पृ०४८३

अतिव्याप्ति दोष से दूषित प्रतीत होता है, क्योंकि इनका यह लक्षण उन रोगियों में अतिव्याप्त हो जाता है जिनकी श्वास कभी कभी कुछ कारणों से अवरुद्ध हो जाया करती है। क्योंकि उस पक्ष में भी श्वासादि की स्वाभाविक गति तो विच्छिन्न हो ही जाती है। अत: इस दोष से मुक्ति प्राप्ति के लिए उन्हें गतिविच्छेद शब्द का वही अर्थ स्वीकार करना चाहिए जो आचार्य व्यासादि भाष्यकारों को मान्य है। इनसे भिन्न वाचस्पति मिश्र ने प्राणायाम का 'रेचकपूरककुम्भकेष्वस्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद इति प्राणायामसामान्यलक्षणमेतदिति'[1] एतादृश लक्षण किया है।

सांख्यसूत्रकार ने प्राणायाम को चित्तवृत्ति के निरोध या ज्ञानप्राप्ति का उपाय कहा है—'निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम्' इस सूत्र से[2] वे कहते हैं कि प्राण का निरोध प्रच्छर्दन और विधारण से ही होता है। इसी सूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने रेचक पूरक और कुम्भक इन त्रिविध प्राणायामों की गणना की है। परन्तु योगसूत्र में प्रतिपादित प्राणायाम के लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणायाम दो प्रकार के ही होते हैं।

प्राणायाम के प्रकार

प्राणायाम के उपर्युक्त लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणायाम दो ही प्रकार के होते हैं, एक में श्वास का विच्छेद और दूसरे में प्रश्वास का विच्छेद होता है, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। योगसूत्रकार ने ही प्राणायाम के तीन प्रकार स्वीकार करने के पश्चात् इन तीनों से परे एक अन्य प्राणायाम माना है। परन्तु इनसे भिन्न पुराणों में अधिकतर त्रिविध प्राणायामों का ही उल्लेख हुआ है—रेचक, पूरक और

---

१ योगतत्त्ववैशारदी, पृ० २६३

२ सांख्यसूत्र ३।३३, पृ० १५१

कुम्भक । जीवन्मुक्तिविवेक में श्री विद्यारण्य जी ने रेचक का प्रतिपादन करने के पश्चात् कुम्भक के द्विविध आन्तर और बहि: प्रकारों का उल्लेख किया है । अर्थात् वे इन तीनों प्राणायामों को स्वीकार करते हैं । इन्हीं के अनुष्ठान के पश्चात् एक चतुर्थ प्राणायाम होता है जिसे केवल कुम्भक कहते हैं । विद्यारण्य का यह विचार आचार्य पतंजलि के विचार के समान ही है । पतंजलि भी चार ही प्राणायाम मानते हैं । यद्यपि उन्होंने इन्हें रेचकादि शब्दों से सम्बोधित न किया । वे बाह्यवृत्ति,आन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति रूप से तीन और केवल कुम्भक नामक चतुर्थ प्राणायाम मानते हैं । आचार्य ने रेचकादि शब्दों के स्थान पर श्वास और प्रश्वास का प्रयोग किया और सूत्र १।३४ में प्रच्छर्दन और विधारण शब्दों का प्रयोग किया है ।

रेचकादि

रेचकादि के स्वरूप को योगसूत्रकार ने एक ही सूत्र में स्पष्ट किया है । अत: यहां उन्हें साथ ही लेना उपयुक्त है । जहां तक रेचकादि के स्वरूप का प्रश्न है, भाष्यकार व्यास ने लिखा है--'यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभाव: स बाह्य: । यत्र श्वासपूर्वको गत्यभाव: स आभ्यन्तर: । तृतीय: स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभाव: सकृत्प्रयत्नाद्भवति'[1] इस प्रकार बाह्य,आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति ये तीन प्राणायाम हैं । इनका उल्लेख योगसूत्र २।५० में किया गया --'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभि: परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म:' अर्थात् बाह्य,आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति ये त्रिविध प्राणायाम देश,काल और संख्या के अभ्यास द्वारा परिवर्धित होते हुए दीर्घ सूक्ष्म हो जाते हैं । जहां तक इन त्रिविध प्राणायामों के देश काल और संख्या से परिदृष्ट या परिवर्धित होने की बात है, भाष्यकार ने इसे सम्यक्रूपेण स्पष्ट किया है । जब प्रश्वासपूर्वक गति का अभाव होता है, वह बाह्य या रेचक प्राणायाम कहलाता है । प्रश्वास अन्तर्वर्ती वायु के बाहर निकलने को कहते हैं अर्थात् जब

---

१ योगभाष्य, पृ०४८५

वायु बाहर ही स्थित रहे या वायु का ग्रहण न हो इस प्रकार का स्वाभाविक प्राणों का रोध और साथ ही साथ चित्त का बन्धन भी यह रेचक प्राणायाम कहलाता है भास्वतीकार ने एतादृश लक्षण किया--'प्रश्वासपूर्वक: चित्ताधान-प्रयत्नसहितरेचनपूर्वको गत्यभाव:..... नायं रेचनमात्र: किन्तु रेचकान्तनिरोध:'[1]।

इनसे भिन्न जब प्रश्वासपूर्वक प्राण की गति का अभाव होता है तब पूरक प्राणायाम कहलाता है । श्वास का अर्थ है --'बाह्यस्य वायोराचमनं श्वास:' अर्थात् बाहर की वायु का अन्दर प्रवेश ही श्वास है । और इन दोनों से भिन्न तीसरा अर्थात् कुम्भक प्राणायाम होता है, जब एक ही बार के प्रयत्न से बाह्य और आभ्यन्तर इन दोनों प्रकार के वायु अर्थात् श्वास और प्रश्वास इन दोनों ही स्वाभाविक प्राण की गति का अभाव हो जाता है-- वह उभयाभाव या स्तम्भवृत्ति रूप कुम्भक प्राणायाम होता है । अत: यह स्पष्ट है कि ये प्राणायाम एक बार के प्रयत्न से ही सम्भव हैं अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं है ।

योगसूत्रकार एक अन्य केवलकुम्भक नामक प्राणायाम मानते हैं । यह प्राणायाम अनेक बार के प्रयत्नों का परिणाम है । सूत्रकार कहते हैं--'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ:' अर्थात् बाह्य या रेचक और आभ्यन्तर या पूरक इन द्विविध प्राणायामों का भी अतिक्रमण करने वाला प्राणायाम चतुर्थ केवल कुम्भक कहलाता है । अब प्रश्न यह है कि चतुर्थ केवल कुम्भक और तृतीय कुम्भक में भेद क्या है । भिन्नता केवल इतनी ही है कि कुम्भक प्राणायाम एक बार के प्रयत्न से ही साध्य है, परन्तु केवल कुम्भक अनेक बार के प्रयत्नों का विषय है । साथ ही कुम्भक में बाह्य और आभ्यन्तर द्विविध प्राणायामों की अपेक्षा नहीं रहती है, परन्तु केवल कुम्भक

---

१ भास्वती, पृ० २६९

में इनका भी अतिक्रमण हो जाता है । अत: ये चार ही प्राणायाम हैं जिसके अनुष्ठान से क्लेशों का क्षय होता है । प्राणायामों के फल का सिद्धियों के प्रसंग में उल्लेख होगा । इन चतुर्विध प्राणायामों के अनुष्ठान का फल है-- अज्ञान का निराकरण । `तत: क्षीयते प्रकाशवरणम्` अर्थात् प्रकाश या ज्ञान के आवरण रूप अज्ञान या अविद्यादि क्लेशों का प्राणायाम से ही क्षय होता है । इस प्रकार अविद्यादि क्लेशों के क्षीण होने पर चित्त विवेकज्ञानोन्मुख अथवा समाधि के योग्य होता है ।

प्रत्याहार

प्रत्याहार भी अष्टांगयोग का एक अंगमात्र है । प्रत्याहार जैसा कि इस शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है-- इन्द्रियाणि विषयेभ्य: प्रतीपम् , व आह्रियन्ते अस्मिन् इति प्रत्याहार:`[1] इन्द्रियों के इन्द्रियप्रवर्तन रूप व्यापार के निरोध को कहते हैं । अर्थात् जब इन्द्रियां विषयों को ग्रहण करने का कार्य समाप्त कर दें उस अवस्थाविशेष को ही प्रत्याहार कहते हैं । इसका लक्षण करते हुए सूत्रकार कहते हैं-- `स्वविषया-संप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:` अर्थात् इन्द्रियों का विषयों के प्रति प्रवर्तन न होने पर अर्थात् बाह्य पदार्थों से इन्द्रियों का सम्पर्क या सम्बन्ध समाप्त हो जाने पर जब इन्द्रियां चित्त के स्वरूप के समान रूप को प्राप्त हो जाती है, इन्द्रियों की एतादृश अवस्था को ही प्रत्याहार कहते हैं, परन्तु सूत्र में इव शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे प्रतीति होता है कि वस्तुत: इन्द्रियां चित्त के समान अवस्था को प्राप्त नहीं होती, परन्तु ऐसा आभास या प्रतीति होती है । इन्द्रियां चित्त के समान निरुद्ध होती है अर्थात् उनका विषय प्रकाशनरूप कार्य समाप्त हो जाता है अर्थात् प्रत्याहार से

---

१ `प्रत्याह्रियन्ते योगेन प्रत्याहारस्तत: स्मृत:`

—मार्कण्डेयपुराण, प्रथम खण्ड, अध्याय४१, श्लोक ४२

इन्द्रियों पर भी जय प्राप्त हो जाती है अन्य किसी उपाय की आवश्यकता नहीं । ऐसा आचार्य व्यास का मत है । इसी मत का विज्ञानभिक्षु ने भी समर्थन किया है । सांख्ययोग दर्शनों में प्रत्याहार के विशेष प्रकार नहीं बताए गए ।

अष्टांगयोगों में प्रत्याहार रूप साधन का अनुष्ठान करने पर इन्द्रियजय प्राप्त होता है । इन्द्रियजय का अर्थ तो वस्तुत: इन्द्रियों पर जय प्राप्त करने से है अर्थात् इन्द्रियों की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति पर निरोध करना या जय प्राप्त करना ही इन्द्रियजय है । 'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' अत: इन्द्रियों को वश में करना ही इन्द्रियवशीकार है । इस सूत्र का अर्थ करते हुए भाष्यकार ने विविध मतों का उल्लेख किया है सभी ने इन्द्रिय के वशीकार का भिन्न-भिन्न अर्थ किया है । कुछ आचार्य शब्दादि विषयों में इन्द्रियों की आसक्ति का अभाव या अनासक्ति को ही इन्द्रियजय कहते हैं--[1]

'शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्'

कुछ अन्य आचार्य इन्द्रियजय का अर्थ इन्द्रियों की[2] विषयों की ओर स्वेच्छया प्रवृत्ति से लेते हैं । 'शब्दादिसंप्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये' अर्थात् इन्द्रियों का विषयों की ओर स्वत: प्रवृत्त न होना । इनसे भिन्न कुछ आचार्य इन्द्रियों के द्वारा शब्दादिविषयों का राग द्वेष या सुखदुःखादि से रहित ज्ञान को ही इन्द्रिय[3] कहते हैं-- 'रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्'

इनसे भिन्न आचार्य जैगीषव्य ने 'चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः' चित्त की एकाग्रता होने पर इन्द्रियों का भी एकाग्र या

---

1 योगभाष्य, पृ०४९९

2 ,, पृ०४९९

3 ,, पृ०५००

इन्द्रियों की चित्ताधीन प्रवृत्ति ही इन्द्रियजय है । इन्द्रियजय के इसी रूप को भाष्यकार ने उचित माना है । अर्थात् चित्त के निरुद्ध होने के साथ-साथ इन्द्रियों का निरोध होना ही वास्तविक इन्द्रियवशीकार है ।

धारणा

प्रत्याहार के पश्चात् धारणा का ही प्रसंग है । इसका लक्षण पतंजलि ने तृतीय पाद के प्रथम श्लोक में ही किया है--"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।"[1] अर्थात् चित्त का किसी देशविशेष के साथ सम्बन्ध या बद्ध होना ही धारणा है । अर्थात् जब चित्त किसी स्थानविशेष पर एकाग्र हो जाय और कुछ काल तक स्थित रहे उसे ही धारणा कहते हैं । सूत्र के देश शब्द को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार लिखते हैं--"नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये" मेरुदण्ड के ६ चक्रों में, हृदयकमल में मस्तकस्थ ज्योति में नाक या जिह्वा के अग्र भाग में और साथही बाह्यस्थ विषय में जो चित्त की तदाकारा वृत्ति या ज्ञानात्मक स्थिति होती है,उसे ही धारणा कहते हैं । भोज ने चित्त की अन्य सभी विषयों के त्यागपूर्वक जो विषयविशेष में स्थिरीकरण को ही धारणा कहा है । अत: धारणा चित्त के स्थैर्य को कहते हैं । प्रत्याहार के समान धारणा को भी याज्ञवल्क्य[2] ने पांच प्रकारकी माना है , परन्तु अन्य सांख्य योगाचार्य किसी ने भी इनके प्रकारों पर किंचित् प्रकाश न डाला ।

ध्यान

धारणा के सिद्ध हो जाने पर ध्यान रूप योगांग का भी अनुष्ठान किया जाता है , अत: धारणा के पश्चात् ही ध्यान का भी वर्णन करना चाहिए । सांख्यसूत्रकार ने ध्यान की सिद्धि के उपायरूप से

---

१ योगसूत्र ३।१,पृ०५०४

२ "धारणा पंचधा प्रोक्ता" , अध्याय ८,योगियाज्ञवल्क्य ,पृ०१०

धारणा का उल्लेख किया है --'धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः'[1] अर्थात् धारणा, आसन और स्वकर्म से तद् अर्थात् ध्यान की सिद्धि होती है, क्योंकि इस सूत्र के पूर्व दो सूत्रों में ध्यान का ही प्रसंग है। अतः अब ध्यान का वर्णन होना चाहिए। ध्यान का लक्षण करते हुए पतंजलि ने लिखा है--'तत्प्रत्यैकतानताध्यानम्' अर्थात् प्रत्यक्ष या ज्ञान की एकतानता या प्रवाह ही ध्यान है। जिस विषय से चित्त का सम्बन्ध हुआ है उसी विषय के आकार की वृत्ति या तदाकाराकारित वृत्ति का प्रवाह ही ध्यान है, अर्थात् तद्विषयक सदृशज्ञानों का प्रवाह ही ध्यान है। यह ध्यान ही अष्टांगयोग का सप्तम अंग है। ध्यान का लक्षण करते हुए सांख्यसूत्रकार ने कहा है --'रागोपहतिर्ध्यानम्'[2] अर्थात् राग का क्षय ही ध्यान है। इस सूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट किया है कि ज्ञान का प्रतिबन्धक जो राग नामक क्लेश है, उस क्लेश के क्षय का हेतु होने से क्षय को ही ध्यान कहा गया। (कार्यकारणाभेदविवक्षा से) ध्यान रूप योगांग राग के क्षय या नाश का कारण या साधन है। इनसे भिन्न अनिरुद्ध ने ध्यान का अर्थ चित्त के स्थैर्य से लिया है। वे कहते हैं-- 'रागाद्योगुणाच्चलितत्वम् तदुपहतिर्निश्चलितत्वं ध्यानम्'[3] अर्थात् चित्त के राग रूप क्लेश के चलितत्व को दूर करके निश्चल अर्थात् स्थिरता को प्राप्त होना ही ध्यान है। ध्यान की सिद्धि के उपाय या साधन रूप से सूत्रकार ने वृत्तिनिरोध[4]

---

१ सांख्यसूत्र ३।३२, पृ० १५१

२ ,, ३।३०, पृ० १५०

३ अनिरुद्धवृत्ति ३।३०, पृ० ६७०

४ सांख्यसूत्र ३।३१, पृ० १५१

और धारणादि[1] का उल्लेख किया है अर्थात् चित्त की पंच विशिष्ट वृत्तियों के निरोध होने पर ही ध्यान सम्भव है ।

समाधि

समाधि अष्टांगयोग का अंतिम और महत्वपूर्ण अंग है । समाधि शब्द की व्युत्पत्ति[2] से ऐसा प्रतीत होता है कि मन का निश्चल अर्थात् जिस अवस्था में मन सभी विक्षेपों पर जय प्राप्त कर लेता है अथवा सभी विक्षेप निरुद्ध हो जाते हैं । मन की उस स्थिर या निश्चलावस्था को ही समाधि कहते हैं । वस्तुत: तो ध्यान अवस्था में भी मन निश्चल ही रहता है, परन्तु समाधि परिनिष्ठित ध्यान या ध्यान की चरमावस्था है । समाधि का लक्षण करते हुए[3] योगसूत्रकार ने लिखा है-- 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:' तत- अर्थात् ध्यान ही जब पदार्थ या ध्येय वस्तु के आकार का ज्ञान कराता है, ध्यान रूपया ज्ञान रूप को त्याग देता है । ध्यान की इस अवस्था विशेष को ही समाधि कहते हैं । ध्यान रूप अंकालिक चित्त में त्रिपुटी अर्थात् ध्याता, ध्यान और ध्येय ये तीनों ही विद्यमान रहते हैं । यह ज्ञान होता रहता है कि यह पदार्थ है और मैं इसका ध्यान कर रहा हूं परन्तु समाधि काल में स्वयं भी अपना अस्तित्व भूलकर अर्थ या ध्येय विषयमात्र में ही लीन हो जाते हैं । यद्यपि उस समय भी ध्यान की स्थिति रहती है, परन्तु उसकी शून्यता या अभाव सा प्रतीत होता है । इस अंग समाधि से सभी योगांगों का अनुष्ठान करने पर संप्रज्ञात

---

१ सांख्यसूत्र ३।३२, पृ०१५१

२ 'सम्यक् आधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधि:'
-- भोजवृत्ति, पृ०४०

३ योगसूत्र ३।३, पृ०५०७

और असंप्रज्ञात रूप द्विविध योगों की प्राप्ति होती है । जिनका उल्लेख सिद्धियों के प्रसंग में होगा ।

योगांगों के अंतिम तीन अर्थात् धारणा, ध्यान, और समाधि इन को आचार्यों ने सब संयम कहा है अर्थात् संयम इनकी सामूहिक संज्ञा है । जब किसी एक ही विषय पर क्रमशः इन तीनों का अनुष्ठान हो तब ये साधन संयम कहे जाते हैं । भिन्न-भिन्न विषयक होने पर नहीं । सूत्र ३।४ में सूत्रकार ने एकत्र शब्द से इनकी एकविषयता स्पष्ट की है -- 'त्रयमेकत्र संयमः' इस प्रकार उपर्युक्त अष्टांगयोग का निरूपण शब्द या अधम अधिकारियों की दृष्टि से किया गया ।

इस प्रकार इन उपर्युक्त उपायों से चित्तवृत्तियों का चित्त में लय होता है, तत्पश्चात् ही प्रलयकाल में चित्त स्वकारण प्रकृति में लीन होता है और यही मोक्ष का कारण है । 'गुणानां प्रतिप्रसवः स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति', इस सूत्र के अनुसार गुणों का स्वकारण में लीन हो जाना और पुरुष को स्वरूप से स्थित हो जाना ही कैवल्य है । इस प्रकार अष्टांगयोग भी कैवल्य प्राप्ति में सहायक है ।

(ग) स्वकर्म

उपर्युक्त इन सभी साधनों के अतिरिक्त सांख्यसूत्रकार ने स्वकर्म का भी उल्लेख किया है । स्वकर्म ने चित्तवृत्तियों का निरोध या ध्यान की सिद्धि होती है[1] । स्वकर्म का उल्लेख किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया । सूत्रकार ने सूत्र ३।३५ में लिखा है-- स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम्' अर्थात् स्वकर्म से तात्पर्य उन कर्मों के अनुष्ठान से है जो आश्रम के अनुरूप ही शास्त्रों में प्रतिपादित है । अतः साधक जिस आश्रम का है उसी आश्रमानुसार शास्त्र प्रतिपादित कर्मों के अन्तर्गत यमनियमादि अष्टांगयोग का भी अन्तर्भाव किया है ।

---

१ 'धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः' --सांख्यसूत्र ३।३२, पृ०१५१

अत: स्वकर्म उपयुक्त साधनों से भिन्न कोई साधन नहीं, वरन् यमादि ही है ।

निरोधकालिक चित्तविक्षेप और उनका प्रशमन

(क) चित्तविक्षेप क्या है?:-

विक्षेप शब्द वि उपसर्ग पूर्वक क्षिप् धातु से निष्पन्न हुआ है । इसमें घञ् प्रत्यय लगने पर अर्थ हुआ मन को तोड़ने या मोड़ने वाला। अर्थात् जो मन को किसी-न-किसी विषय से हटाकर अन्य विषय पर ले जाय अर्थात् मन या चित्त को किसी एक ही विषय पर न स्थिर रहने दे ऐसे पदार्थों या तत्वों को विक्षेप या चित्तविक्षेप कहते हैं । अत: चित्तविक्षेप का अर्थ है चित्त की एकाग्रता से विच्छिन्न करना यही विक्षेपों का कार्य है । आचार्य भोजव ने ऐसा ही लिखा है --`तैरेकाग्रताविरोधिभिश्चित्तं विक्षिप्यत इत्यर्थ:` अन्य किसी आचार्य ने इन्हें सुगम जानकर स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया और यह उपयुक्त ही है । योगचन्द्रिकाकार ने भी विक्षेपों का एतादृश अर्थ ही किया है[1] । वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु ने भी इनका समर्थन किया है ।

(ख) चित्तविक्षेप के प्रकार

जहां तक चित्त के विक्षेपों का प्रश्न है, इनकी गणना करना सर्वथा असम्भव है, तथापि इनके प्राधान्य के आधार पर आचार्यों ने इन्हें गिनाने का प्रयास किया है । योगसूत्रों में कुलमिलाकर १४ विक्षेप गिनाए गए हैं[2], वे इस प्रकार हैं-- व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व । इन विक्षेपों की पतंजलि ने व्याख्या करना आवश्यक न समझा । हां, भाष्यकारों और टीकाकारों ने

---

१ ये चित्तं योगाद्विक्षिपन्ति ते विक्षेपा: योगस्यान्तराया विघ्ना इति`, पृ०११

२ `व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः` । १।३०, पृ०१६५ ।

इन्हें स्पष्ट किया है ।

व्याधि

आचार्य व्यास ने व्याधि को इस प्रकार स्पष्ट किया है -- `तत्र व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्` अर्थात् धातु की विषमता, रस की विषमता और करणों की विषमता को व्याधि कहते हैं । धातु के अन्तर्गत वात,पित्त,आदि का अंतर्भाव हो जाता है । अत: वातादि का न्यूनाधिक्य ही धातु वैषम्य है और रस का तात्पर्य खाए गए जलादि से बने रस से । अर्थात् इन अन्न जलादि का सम्यक्प्रकारेण परिपाक न होने पर उस वैषम्य और इससे भिन्न करण अर्थात् इन्द्रियों की विषमता ही करणवैषम्य है । अत: श्रोत्रादि दश इन्द्रियों में से किसी की शक्ति क्षीण हो और किसी की तीव्र इस प्रकार का न्यूनाधिक्य ही करणवैषम्य है । अर्थात् इन धातु आदि के वैषम्य को ही व्यास व्याधि कहते हैं । इनसे भिन्न आचार्य भोज ने `तत्र व्याधिर्धातुवैषम्यनिमित्तो ज्वरादि:` अर्थात् धातु के वैषम्य से जो ज्वरादि परिणाम होते हैं उन्हें ही व्याधि कहते हैं, अर्थात् धातु का वैषम्य स्वयं ही व्याधि नहीं । वरन् उस वैषम्य के फलस्वरूप जो भी ज्वर,पीतादि रोग होते हैं, वे ही व्याधि हैं । आचार्य भोज ने धातु मात्र को व्याधि के कारण रूप से स्वीकार किया न कि रस और करण को भी परन्तु अन्य आचार्यों विज्ञानभिक्षु आदि ने भी इस करण के वैषम्य को भी व्याधि रूप से स्वीकार किया है और यही उपयुक्त भी प्रतीत होता है,क्योंकि जिस प्रकार धातु के वैषम्य होने से ज्वरादि कष्टदायक परिणाम होते हैं, ठीक उसी प्रकार रस और करण की विषमता से भी अधिक कष्टदायक परिणाम या रोग होते हैं । अत: उन्हें भी व्याधि कहना उपयुक्त ही है । योगवार्तिक में विज्ञानभिक्षु ने लिखा है `शरीरधारकत्वाद् धातूनां वातकफपित्तानां रसाना-माहारपरिणामानां करणानां चक्षुरादिमनआदीनां च वैषम्यं विसदृशभावो

व्याधि:[1] ।

व्याधि या रोग ही प्राय: चित्त को कार्य करने या किसी कार्य में स्थित रहने में विघ्न डालते हैं । अत: व्याधि को चित्तविक्षेप कहा गया है ।

स्त्यान

स्त्यान का अर्थ है अकर्मण्यता अर्थात् कार्य करने की असमर्थता या यह कहिए आलस्य ही स्त्यान रूप विक्षेप है[2] । चित्त की किसी भी कार्य करने की इच्छा होने पर भी शरीर का अक्षम होना या चित्त की उस कार्य की ओर प्रवृत्ति न होना ही स्त्यान है । इस प्रकार स्त्यान चित्त को समाधि आदि करने में भी विघ्न डालता है । अर्थात् चित्त को एकाग्र या समाहित नहीं होने देता ,अत: इसे भी चित्त के प्रमुख विक्षेपों में रखा गया है ।

संशय

संशय चित्त की दोलायमाना स्थिति है,इसका विपर्यय रूप चित्तवृत्ति के प्रसंग में कुछ विचार हो चुका है । अर्थात् किसी पदार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान न होना या द्विविध पदार्थों में सन्देह बना रहने से एक पदार्थ का अवधारण न हो सकना ही संशय है । अत: `संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति' अत: एक ही पदार्थ का उभयकोटि का ज्ञान संशय

---

१ योगवार्तिक १।३०,पृ०६०

२ `स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य'

—योगभाष्य, पृ०१६७ ।

ज्ञान है । संशय बना रहने पर अर्थात् `योग साध्य है अथवा असाध्य` इस प्रकार का संशय होने पर चित्त कदापि योग के साधनभूत विविध अंगों के अनुष्ठान को प्रस्तुत न होगा । अत: संशय भी चित्त की समाधि आदि में बाधक होने से चित्तविक्षेप है ।

प्रमाद

प्रमाद भी एक प्रकार का आलस्य ही है । भाष्यकार ने प्रमाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है--`प्रमाद: समाधिसाधनानामभावनम्` अर्थात् समाधि के साधनों का अनुसंधान न करना ही प्रमाद है या समाधि के साधनों के प्रति उदासीनता का भाव रखना इसे ही प्रमाद कहते हैं । औदासीन्य ही चित्त की अप्रवृत्ति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण है । अत: प्रमाद भी चित्तविक्षेप है ।

आलस्य

आलस्य का अर्थ आचार्यों ने चित्त की अप्रवृत्ति से लिया है । शरीर के अथवा चित्त के गुरु या भारी होने से चित्त का न प्रवृत्त होना आलस्य है । गुरुता तमोगुण का धर्म है अर्थात् तम का आधिक्य ही आलस्य का कारण है । आलस्य के कारण समाधि आदि विषयों में चित्त के प्रवृत्त न होने से आलस्य चित्त का अन्तराय या विघ्न कहा जाता है ।

अविरति

अविरति तृष्णा को कहते हैं चित्त की सांसारिक विषयों से सम्बन्ध होने पर तद्विषयों की ओर तृष्णा का भाव होना या उनकी प्राप्ति की इच्छा ही अविरति है । आचार्यों ने इसका लक्षण करते हुए `अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्ध:` गर्द्ध शब्द का

प्रयोग किया है । गर्द्ध का अर्थ आचार्य वामन आप्टे ने इच्छा उत्कण्ठा या लालच से किया है । यही अमरकोषकार का भी मत है । चित्त में लालच या उत्कण्ठा होने पर अर्थात् चित्त की सांसारिक विषयों में अनुरक्ति होने से चित्त कदापि समाधि की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि समाधि तो चित्त की विशिष्ट वृत्तियों का निरोध होने पर ही सम्भव है । चित्त में लिप्सा या इच्छा होने पर चित्त निरुद्ध नहीं हो सकता ।

भ्रान्तिदर्शन

सप्तमयोगविक्षेप है भ्रान्तिदर्शन । भ्रान्तिदर्शन का अर्थ है विपर्ययज्ञान । अर्थात् किसी भी पदार्थ का विपरीत ज्ञान या उसमें तद्भिन्न का ज्ञान । अत: योग साधनों यमनियमादि में असाधन होने का विचार रखना ही भ्रान्तिदर्शन है । साधनों को योग का असाधन मानने पर कोई भी व्यक्ति उनके विषय में प्रवृत्त नहीं हो सकता अर्थात् चित्त की योगांगों में प्रवृत्ति न होने पर समाधि और योग प्राप्त न होगा । इस प्रकार भ्रान्तिदर्शन भी योगप्राप्ति में बाधक है ।

अलब्धभूमिकत्व

अलब्धभूमिकत्व का अर्थ है भूमि को न प्राप्त करना अर्थात् समाधि की विशिष्ट मधुमती, मधुप्रतीका आदि भूमियों को प्राप्त न कर सकना भी एक प्रकार का अन्तराय है । समाधि की इन भूमियों का छठें अध्याय में उल्लेख किया जायगा । किन्हीं अन्य कारणों से समाधि न प्राप्त कर सकना परिणामत: योगप्राप्ति में भी असमर्थ होना ही अलब्धभूमिकत्व है ।

अनवस्थितत्व

अनवस्थितत्व का अर्थ आचार्यों ने चित्त के अस्थैर्य से लिया है--`अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा` अर्थात् चित्त के समाधि की जो भूमि प्राप्त हुई है उस भूमि में भी उसका स्थित न रहना या एकाग्र न होना ही अनवस्थितत्व नामक दोष या अन्तराय है । संक्षेप में आचार्य ने ये नव विघ्न या चित्तविक्षेप ही स्वीकार किया है । इनसे भिन्न पांच विघ्न और हैं जिन्हें पतंजलि ने इन नव विघ्नों का साथी या सहायक माना है, वे हैं-- `दु:खदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासविक्षेप-सहभुव:`, दु:ख, दौर्मनस्य,अंगमेजयत्व,श्वास और प्रश्वास ।

दु:ख

दु:ख कष्ट को कहते हैं । दु:ख को आचार्य भोज ने बाधना रूप कहा है[1] । व्यास ने भी ऐसा ही लक्षण किया है --`येनाभिहता: प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दु:खम्`[2] वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में दु:ख को प्रतिकूलवेदनीय शब्द से स्पष्ट किया है। अर्थात् जिससे पीड़ित होकर प्राणी इस प्रतिकूलवेदनीय दु:ख की निवृत्ति के लिए उपाय कह करते हैं । वही दु:ख है । दु:ख तीन प्रकार के होते हैं-- आध्यात्मिक,आधिदैविक और आधिभौतिक । त्रिविध दु:खों का लक्षण सांख्यसूत्रों के भाष्य में विज्ञानभिक्षु इस प्रकार करते हैं --

`तत्रात्मानं स्वसंघातमधिकृत्य प्रवृत्तमित्याध्यात्मिकं शरीरं मानसं च ।`

---

1 `तत्र दु:खं चित्तस्य रजस: परिणामो बाधनालक्षण: , यद्बाधात्प्राणिन: तदुपघाताय प्रवर्तन्ते` --भोजवृत्ति 1।31,पृ० 13

2 योगभाष्य, पृ० 171

अर्थात् जो दुःख स्वयं अपने शरीर या मन को लेकर प्रवृत्त होता है, वह आध्यात्मिक दुःख है। ये भी द्विविध हैं -- शारीरिक और मानसिक। शारीरिक दुःख शरीर से सम्बंधित ज्वरादि हैं और मानसिक दुःख मन से सम्बद्ध कामक्रोधादि से उत्पन्न दुःख हैं।

आधिभौतिक दुःख प्राणियों के अधिकार से प्रवृत्त होता है--'भूतानि प्राणिनोऽधिकृत्य प्रवृत्तमित्याधिभौतिकम्' प्राणियों से तात्पर्य स्वभिन्न प्राणियों से है अर्थात् अपने से भिन्न चोर व्याघ्र और अन्य पशुओं से जो दुःख होता है, उसे आधिभौतिक दुःख कहते हैं।

तीसरा और अन्तिम है आधिदैविक दुःख। जो दुःख देवताओं के कारण होते हैं उसे आधिदैविक दुःख कहते हैं। 'देवानग्निवाय्वादीनधिकृत्य प्रवृत्तमित्याधिदैविकम्' जैसे इन्द्रादि देवों द्वारा वज्रपात अनावृष्टि आदि से होने वाले दुःख हैं। इस प्रकार त्रिविध दुःख भी समाधि आदि में बाधक होते हैं।

दौर्मनस्य

दौर्मनस्य चित्त के क्षोभ को कहते हैं। अभिलषित पदार्थ विषयक इच्छा की पूर्ति न होने पर अथवा व्याघात होने पर मन में जो क्षोभ होता है उसे ही दौर्मनस्य कहते हैं-- 'दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः'[1] आचार्य भोज ने इससे भिन्न अर्थ किया है--'दौर्मनस्यं बाह्याभ्यन्तरैः कारणैर्मनसो दौःस्थ्यम्' अर्थात् बाह्य अथवा आन्तरिक कारणों से मन का विषादयुक्त होना ही दौर्मनस्य कहलाता है।

---

१ व्यासभाष्य, पृ० १७२

अंगमेजयत्व

जिससे शरीर के अंगविशेष या सम्पूर्ण शरीर में कम्पन हो उसे अंगमेजयत्व कहते हैं-- 'अंगमेजयत्वं सर्वांगीणो वेपथुः'[1] यह भी समाधि के साधनभूत आसन में बाधक है अतः यह भी चित्तविक्षेप का सहकारी ही है ।

श्वास

श्वास पर प्राणायाम के प्रसंग में विचार हो चुका है,जो बाह्य वायु का आचमन या नासिका के द्वारा अन्दर ले जाता है । उसे ही श्वास कहते हैं । यह प्राणायाम का बाधक है अतः चित्तविक्षेप है ।

प्रश्वास

जो अन्दर की वायु को बाहर निकालता है, उसे प्रश्वास कहते हैं । प्राणायाम में प्रश्वास पर भी संयम करना पड़ता है । अतः ये भी चित्तविक्षेप है । इस प्रकार ये पांच भी चित्त को समाहित करने में या चित्तवृत्तियों के निरोध में विघ्न डालते हैं । अतः मुख्यतः ये चौदह ही चित्तविक्षेप हैं ।

(ग) चित्तविक्षेपों के प्रशमन के उपाय

चित्तवृत्तियों चित्तविक्षेपों के प्रशमन के विविध उपायों का आचार्य पतंजलि ने प्रथमपाद में ही वर्णन किया है और उन्हें चित्तपरिकर्म के उपाय कहा है । चित्त का परिकर्म क्या है-- यह तो किसी आचार्य ने स्पष्ट

---

१ भोजवृत्ति,पृ० १३

नहीं किया । हां आचार्य भोज ने परिकर्म के बाह्य कर्म कहा है `परिकर्म चैतद् बाह्यं कर्म' ।

चित्तविक्षेपों के एक प्रमुख उपाय को बताते हुए पतंजलि कहते हैं-- `तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास:' अर्थात् तत् या विक्षेपों के प्रतिषेध या प्रशमन के लिए एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए । एक तत्त्व से आचार्य का क्या अभिप्राय है ? इस विषय में विभिन्न भाष्यकार और टीकाकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं । वाचस्पति मिश्र ने एकतत्त्व से[1] ईश्वर का ग्रहण किया है, क्योंकि विक्षेपों के पूर्व ईश्वर का ही प्रसंग है । अत: उनके अनुसार एकमात्र तत्त्व ईश्वर का अभ्यास अर्थात् चित्त में पुन: पुन: ध्यान करने से विक्षेपों का प्रशमन हो जाता है । अत:[2] ईश्वर का ही अभ्यास करना चाहिए, परन्तु इनके विपरीत विज्ञानभिक्षु ने एकतत्त्व शब्द का अर्थ स्थूलादि किसी तत्त्व से लिया है । अत: उनके मत से पंच महाभूतों या उनके परिणामभूत विभिन्न स्थूल तत्त्वों में से किसी भी एक तत्त्व का अभ्यास करने से चित्त विक्षेप शान्त हो जाते हैं, परन्तु विज्ञानभिक्षु द्वारा मान्य एक स्थूल तत्त्व रूप अर्थ यहां उपयुक्त नहीं प्रतीत होता । यहां स्थूल तत्त्वों का कोई प्रसंग ही नहीं है । साथ ही जिस विषय का उपक्रम में प्रसंग हो उसी का उपसंहार में भी मानना चाहिए और उसे ही विषय रूप से स्वीकार करना चाहिए । इस पाद में विक्षेपसूत्रों के पूर्व ईश्वर प्रणिधान का ही प्रसंग है और ईश्वरप्रणिधान से ही अन्तरायों का प्रशमन और प्रत्यगात्म तत्त्व की प्राप्ति रूप फल बताया है-- तत: प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च

1 तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास:' एकतत्त्वम् --ईश्वर: प्रकृतत्वादिति सूत्र1।35 पृ061।

2 `तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास: एकं स्थूलादि किंचित्--यत्तु एकतत्त्वशब्देनात्र परमेश्वर एवोक्त इति तन्न--बाधकं विना सामान्यशब्दस्य विशेषपरत्वानौचित्यात्... ।`योगवार्तिक, पृ061

अत: एकतत्त्वाभ्यास: पद का अर्थ एक तत्त्व ईश्वरमात्र के अभ्यास से लेना ही उपयुक्त प्रतीत होता है । उपर्युक्त द्विविध आचार्यों से भिन्न आचार्य भोज ने 'राजमार्तण्ड' में एकतत्त्वाभ्यास का 'एकस्मिन् कस्मिश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेतस: पुन: पुनर्निवेशनं कार्य:' एतादृश अर्थ किया है । अत: जो भी अभिमत या इष्ट तत्त्व हो उसी एकमात्र इष्टतत्त्व में चित्त को पुन: पुन: लगाना ही एकतत्त्वाभ्यास है और इसी अभ्यास से चित्त के विक्षेपों या समाधि में बाधक तत्त्वों का प्रशमन होता है । उस इष्ट तत्त्व के रूप में ईश्वर को भी स्वीकार कर सकते हैं ।

(घ) <u>चित्त के अन्य परिकर्म</u>

इसके अतिरिक्त चित्तविक्षेपों के प्रशमन के कुछ अन्य उपाय भी आचार्य ने कई सूत्रों में बताए हैं । जिनसे चित्त का प्रसाद होता है[1] चित्त के प्रसाद का अर्थ है चित्त का विषय की मलीनता से शून्य होना । इनमें प्रथम परिकर्म है-- 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्'[2] अर्थात् सुख दु:ख पुण्य या अपुण्यात्मक विषयों में क्रमश: मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना करने से ही चित्त प्रसन्नता को प्राप्त होता है अर्थात् सुखात्मक विषयों में मुदिता की भावना और अपुण्यात्मक विषयों में उपेक्षा की दृष्टि रखने पर चित्त का प्रसाद होता है । अत: चित्त की प्रसन्नता का यह भी एक साधन है । सभी आचार्यों ने यथा विज्ञानभिक्षु नारायणतीर्थ आदि ने भी सूत्र का एतादृश अर्थ किया है । परन्तु वाचस्पति मिश्र इसका ऐसा अर्थ करने के साथ-साथ इन चारों प्रकार की भावनाओं के फलों

---

1 'प्रसादश्च विषयकालुष्यराहित्यम्' योगसारसंग्रह, पृ० ४४

2 योगसूत्र - १।३३ पृ० १८६

को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-- सुखात्मक विषयों में मैत्री की भावना करने से ईर्ष्याकालुष्य निवृत्त होता है । दु:खात्मक विषयों पर करुणा या दयाभाव रखने से परापकारचिकीर्षाकालुष्य निवृत होता है, पुण्यात्मक विषयों में मुदिता या प्रसन्नता की भावना करने से असूया कालुष्य और अपुण्यात्मक विषयों में उपेक्षा दृष्टि रखने पर अमर्षकालुष्य निवृत्त होते हैं । अत: इन चतुर्विध भावनाओं से चतुर्विध कालुष्य की निवृत्ति होती है । अब प्रश्न यह है कि ये चार प्रकार के कालुष्य क्या हैं ? किसी भी योग-दार्शनिक ने इन कालुष्यों का विवेचन नहीं किया । यहां तक कि वाचस्पति मिश्र ने भी इन्हें स्पष्ट करना आवश्यक न समझा परन्तु व्याख्याकार ब्रह्मलीनमुनि ने योगसूत्र और व्यासभाष्य की हिन्दी व्याख्या करते समय इन्हें स्पष्ट करने का प्रयास किया है -- कालुष्य का अर्थ मलिनता से है अर्थात् उपर्युक्त सभी कालुष्य चित्त को मलिन करते हैं । अत: चित्त के मल कहलाते हैं । इन कालुष्य या चित्तमलों के चित्त में रहते हुए चित्त का निरोध या ज्ञानप्राप्ति सर्वथा असम्भव है । अत: विवेक ज्ञानाधिगमार्थ इन मलों को निवृत्त करना अनिवार्य है । कालुष्य के विशेष प्रकारों को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं-- जब मनुष्य अन्य मानव को सुखी या वैभव सम्पन्न देखकर उसमें ईर्ष्या आदि करने लगता है चित्त के उस ईर्ष्या भाव को ईर्ष्याकालुष्य कहते हैं । अत: ऐसे ही वैभवयुक्त मनुष्यों से मित्रता करना ईर्ष्याकालुष्य के निराकरण का प्रमुख साधन है । यह प्रथम कालुष्य है ।

द्वितीय है परापकारचिकीर्षाकालुष्य । परापकार का अर्थ दूसरे के अहित या हानि से है । अत: दूसरे मनुष्यों या स्वभिन्न जनों को हानि पहुंचाना या उनके अहित या अपकार की भावना करना ही परापकारचिकीर्षाकालुष्य है । अत: ऐसे पुरुषों के साथ दया भावना करना ही परापकारचिकीर्षाकालुष्य है । अत: ~~ऐसे पुरुषों के साथ दया~~

~~भावना करना ही परापकारचिकीर्षाकालुष्य है~~ । अत: ऐसे पुरुषों के साथ दया भावना रखने पर उसके अहित का प्रश्न ही न होगा और इस प्रकार परापकार चिकीर्षाकालुष्य पर जय प्राप्त होगी ।

किसी पुण्यात्मा पुरुष पर अथवा उसके गुणों अथवा पुण्यों पर दोषारोपण करना अर्थात् उसको पुण्यवान् समझने पर भी उसको दोषी ठहराना असूयाकालुष्य कहलाता है । अत: ऐसे पुरुषों को दोषी न समझकर उनके पुण्य कार्यों को देखकर प्रसन्न होने से अर्थात् उनमें मुदिता का भाव करने से असूया कालुष्य पर जय प्राप्त होती है ।

चतुर्थ और अन्तिम कालुष्य है अमर्षकालुष्य । किसी भी पुरुष को स्वद्रोही या दुश्मन जानकर उससे बदला लेने की इच्छा करना ही अमर्षकालुष्य है । अत: ऐसे व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा दृष्टि रखना अर्थात् उनके कुकर्मों पर ध्यान भी न देना या उदासीन होने से यह कालुष्य स्वत: ही दूर हो जाता है इस प्रकार ये चतुर्विध भावनाओं के फल हैं ।

उपर्युक्त सूत्र के पश्चात् छ: सूत्रों तक पतंजलि ने चित्त के भिन्न-भिन्न परिकर्मों का उल्लेख किया है । "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" उनके अनुसार प्राणवायु के प्रच्छर्दन और विधारण से भी चित्त स्थिर हो जाता है । प्रच्छर्दन और विधारण रेचक और पूरक प्राणायाम को कहते हैं[1] । इन प्राणायामों का उल्लेख पूर्व ही हो चुका है ।

इनसे भिन्न एक साधन है विषयवती प्रवृत्ति । विषयवती अर्थात् विषयों में अभ्यास करने से उनका साक्षात्कार होना ही

---

१ कोष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम् । विधारणं प्राणायाम: । —योगदर्शन, पृ० ९९१

विषयवती प्रवृत्ति है। विषय गन्धादि पंचतन्मात्र है। अर्थात् इन पंच गन्धादि तन्मात्राओं में अभ्यास करने से ही इन तन्मात्राओं का साक्षात्कार होता है[1]।

इन तन्मात्राओं के निश्चित स्थान हैं अर्थात् नासिका के अग्रभाग में गन्ध, जिह्वाग्र में रस, तालु में रूप, जिह्वा के मध्यभाग में स्पर्श और मूल में शब्द की स्थिति मानी जाती है। अतः इन स्थानों पर अभ्यास करने से गन्ध, रस रूपादि विषयक प्रवृत्ति होती है अर्थात् इन रूपादि का साक्षात्कार होता है। ये प्रवृत्तियां चित्तस्थैर्य का कारण होने से विवेकज्ञान प्राप्ति में सहायक भी होती हैं। इन द्विविध प्रवृत्तिसूत्रों में प्रयुक्त वा शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि चित्तस्थैर्य के लिए इन प्रवृत्तियों का करना आवश्यक नहीं, परन्तु इस प्रकार की प्रवृत्ति से भी चित्त स्थिर हो सकता है।

'विशोका वा ज्योतिष्मती' इस सूत्र से एक अन्य विशोका नामक प्रवृत्ति का उल्लेख हुआ है। विशोका का अर्थ है 'विगतः शोकः' अर्थात् शोकरहित। अतः आनन्द के उद्रेक के कारण शोकरहित ज्योति रूप अर्थात् प्रकाशरूप प्रवृत्ति को विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहते हैं। यह प्रवृत्ति प्रकाश रूप अर्थात् सत्वप्रधान विषयों पर होती है। वे विषय हैं चित्त और अस्मिता या अहंकार। इस प्रकार ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है। चित्त के स्थान हृदय कमल में धारणादि संयम करने से जो बुद्धि का साक्षात्कार होता है वह बुद्धि या चित्तसंवित् रूप ज्योतिष्मती और अस्मिता या अहंकार में संयम करने से होने वाला[2] साक्षात्कार अस्मितासंवित् रूप ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कही जाती है।

---

1 अमीषां प्रकाशनादुल्याद्विषयवत्प्रवृत्तौ ज्योतिष्मती त्वम्'

—योगसारसंग्रह, पृ० ४५।

इसके अतिरिक्त विरक्त या वैरागी पुरुषों को विषय बनाकर अर्थात् उनमें धारणादि संयम करने से चित्त को उसी विरागी व्यक्ति के चित्त के समान स्थैर्य होता है । अत: यह प्रवृत्ति भी चित्तस्थिति में सहायक है[1] ।

इनसे भिन्न 'स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा' इस सूत्र के अनुसार स्वप्नावस्था के सात्त्विक ज्ञान के विषय निद्रा या सुषुप्ति अवस्था के सात्त्विक ज्ञान के विषय इन सभी विषयों पर भी धारणा का संयम करने से चित्त स्थिति को प्राप्त होता है अर्थात् चित्त के विक्षेप स्वत: निवृत्त हो जाते हैं ।

अन्तिम परिकर्म का निरूपण आचार्य ने इस सूत्र में किया है--'यथाभिमतध्यानाद्वा' अभिमत या इष्ट पदार्थ को विषय बनाने या इष्टार्थ पर संयम करने से भी चित्तस्थिति को प्राप्त करता है । उपर्युक्त सभी परिकर्म चित्तविक्षेपों की निवृत्ति में सहायक होते हैं ।

इन उपर्युक्त परिकर्मों से चित्तविक्षेपों का प्रशमन हो जाने पर अथवा चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर भी समाधि आदि प्राप्ति के लिए अभ्यास और वैराग्य की साधक को आवश्यकता होती है[2] । इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में उन उपायों का उल्लेख हुआ है जिनके द्वारा चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध होता है ।

-०-

---

१ वीतरागविषयं वा चित्तम् --योगसूत्र १।३७, पृ० २०४

२ लब्धमभ्यासवैराग्याख्यं परिकर्माणि योगसाधनमभिहितं सामान्यतो योगद्वितयं --योगवार्तिक सूत्र १।४१, पृ० १०८ ।

षष्ठ अध्याय

-0-

वृत्तिनिरोध के फल

-0-

षष्ठ अध्याय

-o-

चित्त, भूत और इन्द्रियों के विविध परिणाम

(क) चित्त के परिणाम

प्रस्तुत अध्याय में निरुद्ध चित्त के विविध परिणामों और चित्तवृत्तिनिरोध के विविध फलों का वर्णन प्रस्तुत किया जायगा ।यद्यपि इसके पूर्व के अध्यायों में भी चित्त की विविध वृत्तियों और कार्यों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है और वे भी चित्त के परिणामरूप ही हैं,परन्तु उन परिणामों से और प्रस्तुत अध्याय में प्रतिपादित परिणामों में पर्याप्त भिन्नता है । ये परिणाम निरुद्ध चित्त के हैं और अन्य वृत्तियां और कार्य अज्ञानावृत्त चित्त के हैं । इन निरोधकालिक परिणामों को शास्त्र में विशेषरूप से `परिणाम' संज्ञा दी गई है ।

प्रकृति के सभी परिणाम त्रिगुणात्मक हैं, अतः चित्त भी त्रिगुणात्मक होने से और रजस् के क्रियाशील होने के कारण प्रतिक्षण क्रियाशील या चंचल है । अतः यह प्रतिक्षण विविध परिणामों को या यह कहिए कि विविध विषयों के आकार को प्राप्त करता रहता है । इसकी यह भिन्नरूपता ही उसकी चंचलता कही जाती है । यही चित्त का स्वभाव है । साधारणतः यह देखा जाता है कि चित्त क्षण भर में सुखात्मक विषयों के संयोग से सुखी और दुःखात्मक विषयों के संयोग से दुःखी प्रतीत होता है । इस प्रकार प्रतिक्षण इसके रूप भिन्न हैं । अतः यदि हम कोई लक्ष्य बनायें तो सर्वप्रथम तो चित्त के विक्षिप्त होने से उस लक्ष्य का निर्धारण ही असम्भव है । साथ ही चित्त उस लक्ष्य विषय पर स्थिर नहीं होता । चित्त की इस वृत्तिता

या स्वभाव को बदलना ही योग है । क्योंकि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' ऐसा कहा गया है । अतः चित्त की वृत्तियों को रोकना उनका निरोध ही योग है । ऐसे चित्त के योगी को स्थिरचित्त कहा जाता है-- गीता में इसे ही स्थितप्रज्ञ कहा गया है[1] । इस प्रकार के योगी को सुख-दुःख, मानापमान, लाभ-हानि आदि में समान बुद्धि होती है । इस प्रकार गुणों के विभिन्न व्यापार उन्हें प्रभावित नहीं करते ।

इस प्रकार चित्त का इन विविध रूपों में परिणत होना ही उसके विविध परिणाम हैं, यद्यपि आचार्यों ने परिणाम को स्पष्ट नहीं किया, परन्तु फिर भी किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को उसका परिणाम कहा जा सकता है । अतः चित्त के अथवा इन्द्रियों के परिणामों से तात्पर्य उसकी विविध अवस्थाओं से ही है, परन्तु परिणाम का ऐसा अर्थ करने पर चित्तादि की विभिन्न वृत्तियां भी उनके परिणाम ही कहे जायेंगे । बात वस्तुतः ऐसी ही है, चित्त की विभिन्न अवस्थाएं ही उनकी वृत्तियां कही जाती हैं और ये अवस्थाएं चित्त के विभिन्न परिणाम ही हैं, परन्तु योगाचार्यों ने शास्त्र में परिणाम शब्द का प्रयोग कुछ विशेष अर्थ में किया है । आचार्य विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक के प्रथम पाद के द्वितीय सूत्र में ही परिणाम का लक्षण करते हुए लिखा है--'चितिशक्तिः पुरुषाख्या न परिणामिनी पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामस्तद्रहिता कूटस्थनित्या परमार्थसत्येति यावत्[2] ।' वस्तुतः किसी वस्तु में पूर्वधर्मों के तिरोभूत हो जाने पर अन्य धर्मों का आविर्भाव ही

---

१ दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते । --गीता, अध्याय २, पृ० ५६ ।

२ योगवार्तिक, पृ० १४७

परिणाम है। आचार्य व्यास का भी ऐसा ही मत है[1]। अब प्रश्न यह है कि क्या चित्त ही विभिन्न परिणामों में परिणत होता है अन्य तत्त्व नहीं। वस्तुतः प्रकृति के कार्यभूत सभी तत्त्व महत् से स्थूलभूतों पर्यन्त सभी त्रिगुणात्मक होने के कारण और त्रिगुणों में रजस् को क्रियाशील या परिणामी होने के कारण ये सभी क्रियाशील या परिणामी होते हैं, परन्तु शास्त्र में मुख्यतया चित्त, भूत और इन्द्रियों के परिणामों का ही उल्लेख हुआ है।

(ख) परिणामों के प्रकार

चित्तादि तत्वों के परिणाम तो अनेक हैं, क्योंकि वे प्रतिक्षण परिणामी हैं, अतः इनके प्रतिक्षण परिणाम भी भिन्न-भिन्न हैं। परन्तुमुख्यतः इनके त्रिविध परिणाम हैं-- निरोध परिणाम, समाधि परिणाम और एकाग्रता परिणाम। इनके अतिरिक्त चित्त, भूत और इन्द्रियों के त्रिविध अन्य परिणाम भी मान्य हैं-- धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम। इस प्रकार चित्त के छः परिणाम और भूतेन्द्रियों के तीन परिणाम हुए।

चित्त का निरोध परिणाम

चित्त के निरोधादि परिणाम वस्तुतः धर्म, लक्षण और अवस्था ही है। अर्थात् निरोध परिणाम ही धर्म परिणाम कहा जा सकता है। अब प्रश्न यह है कि निरोध परिणाम है क्या ? योगसूत्रकार ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है -- 'व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण चित्तान्वयो निरोध परिणामः'[2] अर्थात् व्युत्थान और निरोध संस्कारों का

---

१ अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः इति।'
--व्यासभाष्य, पृ०५६३

२ योगसूत्र ३।९, पृ०५२१

क्रमशः अभिनव और प्राडुर्भाव होने पर चित्त निरोध क्षण से अन्वित होता है उसे चित्त का निरोध परिणाम कहते हैं । चित्त का प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न विषयों की ओर दौड़ना ही चित्त का व्युत्थान है और इन विविध विषयक ज्ञानों पर निग्रह प्राप्त करने की प्रक्रिया अर्थात् इन ज्ञानों को न उत्पन्न होने देने के प्रयत्न को निरोध कहते हैं । इस निरोध को करने से चित्त में जो संस्कार बनते हैं उन्हें ही संस्कार कहते हैं । अतः जब व्युत्थान संस्कारों का अभिभव हो और निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव चित्त की ऐसी अवस्था ही निरोध परिणाम है । अभिभव का अर्थ है--" अभिभवो न्यग्भूततया कार्यकारणासामर्थ्येनावस्थानं[1] प्रादुर्भावो वर्तमानेऽध्वनि अभिव्यक्तरूपतया आविर्भावः" निर्बल होकर कार्य करने की सामर्थ्य से रहित होकर अथवा फलोत्पादकत्व की सामर्थ्य से रहित होना ही अभिभव है । अर्थात् व्युत्थान संस्कार जब फल उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थ हो जाय और चित्त में स्थित हो । व्युत्थान संस्कारों का इस प्रकार का अभिभव होने पर और निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव, प्रादुर्भाव का[2] अर्थ है--"प्रादुर्भावः वर्तमानेऽध्वनि अभिव्यक्तरूपतया आविर्भावः" अर्थात् वर्तमान काल या मार्ग में चित्त में व्यक्त या स्पष्ट रूप से स्थित रहना ही प्रादुर्भाव है । इस प्रकार व्युत्थान संस्कारों का अभिभव या तिरोभाव होने पर और निरोध संस्कारों का आविर्भाव होने पर चित्त इन द्विविध अवस्थाओं से अन्वित होता है अर्थात् निरोध संस्कारों के प्रबल होने के कारण चित्त का उन संस्कारों से सम्बन्ध ही चित्त का निरोध परिणाम है । इसी परिणाम को चित्त का धर्म परिणाम भी कहते हैं -- अर्थात् पूर्व व्युत्थान रूप धर्म का अभिभव और निरोध रूप धर्मों का आविर्भाव ही चित्त का धर्म परिणाम है, क्योंकि

----

१ भोजवृत्ति, पृ०४१

२ ,, पृ०४१

धर्म परिणाम पूर्व धर्म के अभिभवपूर्वक अन्य धर्म कीउत्पत्ति को ही कहते हैं[1]। इसी प्रकार चित्त के निरोध परिणाम के द्वारा ही चित्त के लक्षण और अवस्था परिणाम भी स्पष्ट हो जातेहैं। आचार्य व्यास ने लक्षण परिणाम का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया --`लक्षणपरिणामश्च निरोधस्त्रिलक्षण-स्त्रिभिरध्वभिर्युक्त:। स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो[2] .... लक्षणाभ्यां वियुक्तम्' यहां लक्षण का अर्थ `लक्ष्यते भिद्यतेऽनेनेति लक्षणम्' इस व्युत्पत्ति से शब्द भेद कराने वाला या कालवाचक लिया गया है, अर्थात् कालभेद के कारण अथवा अतीत, वर्तमान और अनागत रूप त्रिविध कालभेदों से युक्त जो त्रिविध धर्म युक्त निरोध है वही लक्षण परिणाम कहा जाता है अर्थात् अनागतादि धर्म के त्यागपूर्वक वर्तमानादि धर्म का लाभ होना ही लक्षणपरिणाम है। इस प्रकार इसका ऐसा अर्थ न लेना चाहिए कि अनागत लक्षण के नष्ट होने पर वर्तमान के और वर्तमान के नष्ट होने पर अतीतलक्षण परिणाम होता है, क्योंकि सांख्ययोगी नाश को स्वीकार नहीं करते वे तो सत्कार्यवादी हैं, अत: अनागतादि का नाश उनके मत में सम्भव ही नहीं। इस प्रकार अनागत लक्षण ही वर्तमानता को और वर्तमान ही अतीतता को प्राप्त होतेहैं, यही स्वीकार करना चाहिए और यही लक्षण परिणाम है। विज्ञानभिक्षु भी एतादृश अर्थ करते हैं[3] -- किसी धर्म की अनागतावस्था को त्याग देने पर वर्तमान रूप को प्राप्त होना अथवा वर्तमानावस्था को त्याग कर अतीतावस्था को प्राप्त करना ही लक्षण परिणाम है। अत: विद्यमान धर्मों के एक

---

१ `तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणाम:'
--व्यासभाष्य, पृ० ५३४

२ योगभाष्य, पृ० ५३५

३ लक्षणपरिणामो हि अवस्थितस्य धर्मस्यानागतादिलक्षणत्यागे वर्तमानादि-लक्षणलाभ: स चाभिभव प्रादुर्भाववचनेनैव लब्ध: अतीततावर्तमानतयोरेवाभिभव-प्रादुर्भावत्वादिति भाव:।' --योगवार्तिक, पृ० २६७।

लक्षण को छोड़कर लक्षणान्तर से होने वाले परिणाम को लक्षण-परिणाम कहते हैं।[1] अर्थात् चित्त के निरोध परिणाम में जब तक निरोध संस्कार रूप धर्म का आविर्भाव न हुआ हो, वह हुई उसकी अनागत लक्षणवाली अवस्था और आविर्भाव होने पर वर्तमान लक्षणवाली और उसके नष्ट हो जाने पर अतीत लक्षण वाली कही जाती है। इस प्रकार निरोध परिणाम के कथन से ही लक्षणपरिणाम स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार व्युत्थान संस्कारोंका तिरोभाव से तात्पर्य है अनागतकाल का त्याग, निरोध संस्कारों का आविर्भाव वर्तमानकाल का लाभ रूप है।

इसी प्रकार निरोधपरिणाम के माध्यम से ही अवस्थापरिणाम भी स्पष्ट हो जाता है-- अवस्थापरिणाम का लक्षण करते हुए भाष्यकार कहते हैं[2]-- निरोध परिणामकाल में निरोधसंस्कार बलवान होते हैं और व्युत्थान संस्कार दुर्बल होते हैं। संस्कारों का यही दुर्बल और सबल होना ही चित्त का अवस्थापरिणाम है। यही मत विज्ञानभिक्षु को भी अभीष्ट है-- लक्षणस्यैव नवपुराणत्वादिनाऽवस्थापरिणाम इति वक्ष्यमाणत्वाच्च[3] लक्षण परिणाम में कथित लक्षण का नया पुराना आदि होना ही अवस्था परिणाम है। अर्थात् किसी एक संस्कार का दुर्बल होना और किसी अन्य संस्कार का प्रबल होना यही उस धर्म का अवस्था परिणाम है। जिस प्रकार निरोध परिणाम के प्रसंग में व्युत्थान संस्कार की

----

1 पा०दर्शनरहस्य, पृ०१६२

2 तत्र निरोधकालेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थान संस्कारा इति। एष धर्माणामवस्थापरिणामः।' --व्यासभाष्य, पृ०५५०

3 योगवार्तिक, पृ०२९८

दुर्बलता ही उसका तिरोभाव रूप है और निरोध संस्कारों की प्रबलता उसका आविर्भाव रूप है । इस प्रकार निरोध परिणाम का जो अर्थ है वही लक्षण परिणाम का और वही अवस्थापरिणाम का भी है । अत: निरोध परिणाम के कथन से ही चित्त के लक्षण और अवस्था परिणाम भी व्याख्यात हो गए । अब प्रश्न यह है कि निरोध परिणाम कैसे होता है । जब चित्त की निरुद्धावस्था होती है, उस अवस्था में परिणाम का अनुभव कैसे होगा, अत: अनुभव न होने के कारण परिणाम का अस्तित्व स्वीकार करना कुछ सम्भव नहीं प्रतीत होता, परन्तु चित्त के त्रिगुणात्मक होने से और सदैव परिणामी होने से क्षण भर भी बिना परिणाम के उसका अस्तित्व सम्भव नहीं । अत: परिणाम तो होतेही हैं और निरुद्धावस्था के होने के कारण उस अवस्था के परिणाम भी निरोध रूप ही होंगे, व्युत्थान रूप नहीं । इस प्रकार चित्त के व्युत्थान या विक्षेपों के अभिभूत हो जाने पर चित्त शान्त हो जाता है अर्थात् एक ध्येय रूप विषय में ही चित्तस्थिर रहता है विक्षेपों के निरुद्ध हो जाने पर चित्त ध्येय विषय को छोड़कर अन्य विषयों की ओर नहीं जाता । अत: चित्त सदैव एक ही विषय को ग्रहण करता हुआ शान्त, स्थिर होता है । यही चित्त का निरोध परिणाम है ।

चित्त का समाधि परिणाम

समाधि परिणाम जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, चित्त की समाध्यवस्था के परिणाम को कहते हैं, उस समय परिणाम का क्या स्वरूप है, उसे स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार लिखते हैं— 'सर्वार्थतैकाग्रतयो: क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणाम:' अत: सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का उदय ही चित्त का समाधि परिणाम है । सर्वार्थता से तात्पर्य सभी अर्थों या पदार्थों को ग्रहण करने की सामर्थ्यविशेष से है अर्थात् चित्त के चंचल होने सेवह सभी विषयों की ओर प्रवृत्त होता है और ग्रहण भी करता है इसी सर्वार्थग्रहण करने की सामर्थ्य को विक्षिप्तता भी कहसकते हैं । अत: चित्त की विक्षिप्तता

का अभिभव या क्षय और एकाग्रता का उदय ही समाधि परिणाम है ।
क्षय से तात्पर्य यहां पूर्ण नाश से नहीं है । सांख्ययोगदार्शनिक किसी भी सत् पदार्थ का नाश स्वीकार नहीं करते, जो सत् है वह कभी असत् नहीं हो सकता । अत: चित्त के सर्वार्थता रूप धर्म का नाश भी नहीं हो सकता । उसका अस्तित्व तो होगा ही यद्यपि वह अतीतावस्था में ही हो । इस सूत्र में प्रयुक्त क्षय शब्द का अर्थ अतीतावस्था की प्राप्ति से ही लेना चाहिए । इसी प्रकार उदय से तात्पर्य वर्तमानावस्था को प्राप्त होना ही है । अत: एकाग्रता का उदय ही चित्त का समाधि परिणाम है । एकाग्रता का अर्थ है एकमात्रविषयता । अर्थात् किसी एक विषय में ही चित्त का स्थिर रहना अर्थात् किसी एक को अपना विषय बनाना ही एकाग्रता है । अत: विक्षिप्तता का अभिभव और एकाग्रता का प्रादुर्भाव ये दोनों अवस्थाएं लगभग एक ही हैं । जब चित्त के चांचल्य का अभाव होगा और चित्त किसी एक विषय पर स्थिर हो सकेगा, यही उसकी एकाग्रता है । चित्त की चंचलता या विक्षिप्तता ही समाधि आदि के अनुष्ठान में बाधक हैं, अत: इसका अभिभव या चित्तवृत्तियों का निरोध आवश्यक है, इसी कारण योगसूत्रों में पतंजलि ने "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:" कहा है चित्तवृत्तियों का निरोध योग में सहायक और योगप्राप्ति का अनिवार्य अंग है अत: इसे ही योग कहा गया । जब चित्त विक्षिप्त न होगा और विक्षिप्तता के अभाव में भी उसका अस्तित्व होगा, तो अवश्य ही वह किसी न किसी को अपना विषय बनाएगा । इस प्रकार सर्वार्थता व रूप धर्म के संस्कारों का अभिभवपूर्वक एकाग्रता रूप धर्म के संस्कारों का आविर्भाव होने पर चित्त के इन द्विविध धर्मों से अन्वित होने पर चित्त का समाधि परिणाम होता है । निरोधपरिणाम के समान समाधिपरिणाम के माध्यम से भी चित्त के धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम व्याख्यात हो गए ।

अब शंका यह है कि ये क्षय और उदय जब सर्वार्थता और एकाग्रता के होते हैं तो इन्हें सर्वार्थतादि का धर्म कहना चाहिए न कि चित्त का । इस शंका का समाधान भाष्यकार करते हैं -- सर्वार्थता और एकाग्रता का

धर्मी होने के कारण चित्त अन्वयीरूप से स्थित होता है, इसलिए यद्यपि क्षयोदय चित्त के साक्षात् परिणाम न होने पर भी अथवा चित्त के धर्म सर्वार्थतादि का होने पर भी चित्त के कहे जाते हैं[1]। अत: सर्वार्थता और एकाग्रता के धर्म रूप होने से क्षयोदय उनमें रह नहीं सकते, अत: उन्हें चित्त रूप धर्मी का ही मानना चाहिए। इसी कारण क्षयोदय चित्त के धर्म कहे जाते हैं।

चित्त का एकाग्रता-परिणाम

निरोध और समाधि परिणामों के समान चित्त का एकाग्रता परिणाम भी होता है। जिस प्रकार समाधिपरिणामकाल में चित्त, व्युत्थान और एकाग्रता के साथ अन्वित होता है, उसी प्रकार एकाग्रता परिणाम काल में चित्त एकाग्रता से अन्वित होता है। एकाग्रता परिणाम को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं--'तत: पुन: शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणाम:'[2] जब चित्त शान्त और उदित अर्थात् अतीत और वर्तमान इन दोनों प्रकार की समानविषयक वृत्तियों से अन्वित होता है। तब चित्त का एकाग्रता परिणाम होता है। इस अवस्था में जो वृत्तियां शान्त हुई हैं उनके विषय और जो उदित हुई हैं उनके इन दोनों के विषयों में पर्याप्त साम्य होता है अर्थात् एक वृत्ति के शान्त या अतीतावस्था को प्राप्त होने पर तत्सजातीय ही दूसरी वृत्तियां उदित होती हैं। इस प्रकार सजातीय वृत्तियों की एक धारा सी चलती रहती है, यही एकाग्रवृत्ति धारा कहलाती है और उससे चित्त का अन्वय होने पर चित्त का

---

१ योगसूत्र--योगसिद्धि व्याख्या, पृ० ३५६

२ योगसूत्र ३।१२, पृ० ५२८

परिणाम होता है। एकाग्रता की यह धारा चित्त की समाहित अवस्था में ही सम्भव है, व्युत्थित में नहीं। व्युत्थान दशा में तो चित्त भिन्न-भिन्न विषयों की ओर दौड़ता ही रहता है। अत: सम्यक्प्रकारेण समाधिप्राप्त चित्त का ही एकाग्रता परिणाम होता है। सम्प्रज्ञात समाधि के प्रारम्भ काल में ही चित्त का समाधि परिणाम होता है। निरोध,समाधि परिणामों के समान एकाग्रतापरिणाम से भी धर्मादिपरिणामों का स्पष्टीकरण हो जाता है।

(ग) भूतेन्द्रियों के धर्मादि परिणाम

जहां तक भूतों और इन्द्रियों के विविध परिणामों का प्रश्न है, किसी आचार्य ने इनका पृथक् विवेचन नहीं किया। सूत्रकार ने भी `एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा: व्याख्याता:`[1] कहकर छोड़ दिया। यहां ऐसा प्रतीत होता है कि एतेन पद से इनके पूर्व के निरोध,समाधि, एकाग्रतादि परिणामों का वर्णन करने वाले सूत्रों का परामर्श है,परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। यद्यपि इनके पूर्व के सूत्रों से निरोध,समाधि आदि परिणामों का ही कथन हुआ है,परन्तु उनके माध्यम से चित्त के धर्मलक्षणावस्था परिणामों का भी कथन हो जाता है, अत: सभी भाष्यकार और टीकाकारों ने यहां एतेन से धर्म लक्षणावस्था परिणामों का ही परामर्श किया है। अत: उपर्युक्त सूत्र का अर्थ हुआ जिस प्रकार चित्त के विविध धर्मादि परिणाम होते हैं ठीक उसी प्रकार पंचमहाभूतों तन्मात्राओं और इन्द्रियों के भी धर्म,लक्षण और अवस्था परिणाम होते हैं। अब प्रश्न यह है कि भूतादि के परिणामों का क्या रूप होगा? सूत्रकार और भाष्यकार ने इसे स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी, हां वाचस्पति मिश्र ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है--`तत्र भूतानां पृथिव्यादीनां धर्मिणां गवादिर्घटादिर्वा धर्मपरिणाम:.... वेदितव्य:`[2]।

---

१ योगसूत्र ३।१३,पृ०१२१

२ योगतत्ववैशारदी,पृ०२६६

पंचभूतात्मक यह संपूर्ण सृष्टि है, अत: भूतों के गौ घट आदि ही उसके धर्म-परिणाम कहे जाते हैं, अर्थात् पंचभूत किसी-न-किसी विषयरूप से रहते हैं, किसी एक विषय के तिरोभूत हो जाने पर उन भूतों के दूसरे विषय के रूप को धारण करना ही भूतों का धर्मपरिणाम है । इसी प्रकार गौघटादि के ही अपने अतीत, वर्तमान, और अनागत धर्म भूतों के लक्षण परिणाम कहे जाते हैं। अर्थात् अतीत धर्म का तिरोभाव और वर्तमान लक्षण का आविर्भाव, इसी प्रकार वर्तमान लक्षण का तिरोभाव और अनागत लक्षण का आविर्भाव ही भूतों का लक्षण परिणाम है । गौ आदि की बाल्य, कौमार, यौवनादि, अवस्थाएं भूतों की अवस्था परिणाम कहलाती हैं । इसी प्रकार बाल्यावस्था का तिरोभाव और कौमारावस्था का आविर्भाव ही भूतों का अवस्था परिणाम है ।

इन्द्रियों के कार्य नीलादि विषयों का आलोचन ही उसका धर्म है, अत: वह आलोचन ही धर्मपरिणाम है । इसी प्रकार इन नीलादि विषयों का आलोचना की वर्तमानत्व, अतीतत्वादि इन्द्रियों के लक्षण परिणाम हैं । ठीक उसी प्रकार इस आलोचन रूप धर्म की स्पष्टता अथवा अस्पष्टता रूप अवस्था ही इन्द्रियों का अवस्था परिणाम है । उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार चित्त के धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम होते हैं, तादृगैव प्रकारेण भूतों और इन्द्रियों के भी धर्मादि परिणाम होते हैं । इसी कारण सूत्रकार ने इनका पृथक् उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं समझी । केवल एक सूत्र से ही इनका कथन कर दिया ।

विवेकज्ञान

विवेकज्ञान वृत्तिनिरोध का मुख्य फल है । चित्त की विभिन्न वृत्तियों के निरुद्ध होने पर अर्थात् विक्षेपों का भी प्रशमन होने पर साधक का चित्त विवेकख्याति की ओर अग्रसर होता है अर्थात् साधक को तत्वज्ञान होता है । वृत्तिनिरोध का प्रमुख फल है तत्वज्ञान की प्राप्ति । सांख्ययोगदर्शनों

में प्रकृति और पुरुष रूप इन द्विविध तत्वों के पार्थक्य का ज्ञान ही तत्वज्ञान या विवेकज्ञान है । यह तो पूर्व ही स्पष्ट है । 'अहमन्य: प्रकृतिरन्या' यही सांख्ययोगाभिमत तत्वज्ञान का स्वरूप है ।

तत्वज्ञान के अतिरिक्त चित्त परिकर्मों के द्वारा चित्त की स्थिति होने पर चित्त को वशीकार होता है । वशीकार को स्पष्ट करते हुए आचार्य पतंजलि कहते हैं-- 'परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकार:'[1] अर्थात् जिस साधक या योगी का चित्त स्थैर्य को प्राप्त हो गया है, उसके साधक को परमाणु अर्थात् सूक्ष्मपदार्थों से लेकर महान् या सभी स्थूल पदार्थों में भी पूर्ण वशीकार हो जाता है । अत: सूक्ष्म पदार्थों में प्रवेश करके चित्त उसमें स्थिति प्राप्त करता है और उसी प्रकार स्थूल पदार्थों में भी प्रवेश करके चित्त स्थिर होता है । अत: परिकर्मों से निरुद्ध चित्त में सूक्ष्म और स्थूल विषयों में प्रवेश करने की योग्यता आ जाती है और योग्यता आने पर साधक का चित्त पूर्णतया स्थिर समझा जायगा । इस प्रकार वशीकृत चित्त किसी भी स्थल में बाधाओं से बाधित नहीं होता, अर्थात् स्वतंत्र रूप से निर्बाध गति से सर्वत्र या सभी विषयों तक जाता है । अत: एकाग्र चित्त को किसी भी विषय पर धारण करना ही वशीकार है ।

(क) विवेकज्ञान का फल

चित्तवृत्तिनिरोध होने पर, चित्तपरिकर्मों के द्वारा चित्त को संयमित हो जाने पर चित्त को विवेकज्ञान या तत्वज्ञान की प्राप्ति होती है और उस अवस्था में साधक समाधि अवस्था को प्राप्त होता है । 'समाधि' शब्द 'सम आङ्' उपसर्ग पूर्वक धा धातु से निष्पन्न हुआ और 'समाधानं समाधि:' इस व्युत्पत्ति से 'उपसर्गे घो: कि:' इस सूत्र से भावार्थ कि प्रत्यय लगने पर

---

1 योगसूत्र १।४०, पृ० २०७

समाधि का अर्थ चित्त का सम्यग् आधान हुआ । इस शब्द का 'समाधीयते चित्तम-नेनेति समाधिः' एतादृश विग्रह करने पर करणार्थ में कि प्रत्यय लगने से जो समाधि शब्द निष्पन्न हुआ उसका अर्थ है जिसके द्वारा चित्त को समाहित किया जाय, वह समाधि है । इस प्रकार इस शब्द के द्विविध अर्थ द्विविध समाधियों के द्योतक हैं । एक तो अंगभूत समाधि का और एक अंगी समाधि का । उपर्युक्त द्वितीय अर्थ अंगभूत समाधि का द्योतक है । जिसका उल्लेख इसी अध्याय में अष्टांग-योग के प्रसंग में किया गया है । जिस समाधि रूप अंग के अनुष्ठान से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है,इससे विपरीत अंगी समाधि रूप संप्रज्ञात योग में भिन्नता यह है-कि अंग समाधि में ध्येय स्वरूप का किंचिदपि भास नहीं होता,परन्तु संप्रज्ञात में साक्षात्कार के द्वारा समाधि के अविषयरूप विषय भी भासित होने लगते हैं[1] । अर्थात् संप्रज्ञात योग काल में जो विषय समाधिकाल में स्थूल न होने से उसके विषय नहीं बन सकते,उनका भी साक्षात्कार या ज्ञान हो जाने के कारण वे समाधि के वास्तविक विषय न होने पर भी विषय रूप से प्रतीत होने लगते हैं ।

समाधि अवस्था ही अत्यन्त स्थिर या सुदृढ़ हो जाने पर योग शब्द से कही जाती है । योग सामान्य का लक्षण करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने लिखा है--'तत्र पुरुषस्यात्यन्तिकस्वरूपावस्थितेर्हेतुश्चित्तवृत्ति-निरोधो योग इति योगस्यसाधारणं लक्षणम्'[2] अर्थात् पुरुष की आत्यन्तिक अवस्थिति का हेतुरूप चित्तवृत्तिनिरोध ही योग का साधारण लक्षण है अर्थात्

---

१ 'अस्य समाधिरूपस्यांगस्यांगिनः संप्रज्ञातयोगाख्यं भेदो यदत्र चिन्तारूपतया भिन्नविषतो ध्येयस्वरूपं न भासते, संप्रज्ञाते तु साक्षात्कारेण समाध्यविषया अपि विषया भासन्ते इति । एवं च साक्षात्कारयुक्तैकाग्र्यकाले संप्रज्ञात-योगोऽन्यथा तु समाधिमात्रमिति विभागः ।' --योगसूत्रवृत्ति,पृ०२१८

२ योगसार,पृ०२

चित्त की पंचभूमियों में से अन्तिम दो एकाग्र और निरुद्ध में होने वाला निरोध या समाधि तो योग पद से आचार्य को अभीष्ट है, क्योंकि इन भूमिकाओं में चित्तवृत्तियों का निरोध क्षणिक न होकर चिरकालिक होता है और समाधि योगावस्था के लिए उपयोगी भी है, परन्तु इससे भिन्न इनसे पूर्वकालिक क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्तादि अवस्थाओं में भी निरोध तो होता है, किन्तु क्षणिक ही । इन अवस्थाओं में भी चित्तवृत्तियां क्षणमात्र के लिए अवश्य ही समाहित होती है, परन्तु तत्क्षण ही पुन: विक्षिप्त होकर अपना कार्य करने लगती है । अत: योगकालीन चित्तपूर्णतया निरुद्ध रहता है । साथ ही तत्कालिक निरोध सार्व-कालिक ही होता है । अत: योग का उपर्युक्त लक्षण ही उपयुक्त है । योग सामान्य का लक्षण करते हुए वाचस्पति ने भी लिखा है,[1] जिस अवस्था विशेष में चित्त की प्रमाणादि सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है । उसी अवस्था को योग कहते हैं । योग मुख्यत: दो प्रकार का होता है--संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात।

(ख) संप्रज्ञात योग

संप्रज्ञात योग क्या है? इसकी व्युत्पत्ति प्राय: इस प्रकार की जाती है--`तत्र सम्यक्प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन्निरोध इति संप्रज्ञातो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधविशेष:`[2] अर्थात् जिस अवस्था में ध्येय-विशेष विषय का सम्यक् प्रकार से साक्षात्कार किया जाय और उस ध्येयविषयक वृत्ति से भिन्न अन्य सभी वृत्तियों का निरोध हो जाय चित्त की एकाग्र अवस्था को संप्रज्ञात योग कहते हैं । संप्रज्ञात शब्द का लक्षण आचार्य भोज ने इस प्रकार किया--`सम्यक् संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन स: संप्रज्ञात:` अर्थात् भाव्य या विषय का सम्यक् संशय और विपर्यय से रहित या वास्तविक ज्ञान ही संप्रज्ञात ह योग है । अत: इस अवस्था में ध्येयमात्र का ज्ञान होता है । इस योग का वर्णन करते हुए भाष्यकार व्यास

कहते हैं[1]-- चित्त की पांच भूमियों में से अंतिम या एकाग्रभूमि में जब पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो, साथ ही अविद्या के नाश के द्वारा क्लेशों का भी क्षय हो गया हो, क्योंकि अविद्या ही सभी क्लेशों की मूल है और 'छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा' इस नियम से अविद्या रूप मूल के नष्ट हो जाने पर क्लेशादि शाखाओं के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता । क्लेशों के अभाव में कर्मबन्धन भी न होगा । अत: चित्त की एतादृश क्लेशरहित अवस्था को ही संप्रज्ञात योग कहते हैं ।

संप्रज्ञात योग के प्रकार

संप्रज्ञात समाधि के चतुर्विध प्रकारों को पतंजलि ने स्वत: ही सूत्र में स्पष्ट किया है । अत: इस विषय में विद्वानों में सर्वथा मतैक्य है । इनमें सर्वप्रथम वितर्क है । तत्पश्चात् क्रम से ही विचार, आनन्द और अस्मिता नामक योग होता है । अर्थात् संप्रज्ञातयोग क्रमश: स्थूल विषयों से प्रारम्भ किया जाता है और अन्त में सूक्ष्म अस्मितादि विषयों की भावना होती है । क्योंकि कोई भी साधक एक व एकबार में ही सूक्ष्मविषयों में प्रवेश नहीं प्राप्त कर सकता, ऐसा स्मृतियों से भी स्पष्ट है--'स्थूले विनिर्जितं चित्तं स: सूक्ष्मं शनैर्नयेत्' अत: उपर्युक्त सभी समाधियां समान ही विषय पर क्रमश: करनी चाहिए । अर्थात् सर्वप्रथम उस पदार्थ के स्थूल रूप पर तत्पश्चात् सूक्ष्मादि पर समाधि करनी चाहिए ।

वितर्कानुगत

जहां तक वितर्क योग का प्रश्न है भाष्यकार ने उसे स्पष्ट करते हुए लिखा है--'वितर्क: चित्तस्य आलम्बने स्थूल: आभोग:' अर्थात् चित्त का आलम्बन रूप या ध्येय विषय में स्थूल आभोग ही वितर्क है । आभोग का अर्थ है परिपूर्णता या चित्त की तदाकारता । वाचस्पति मिश्र ने

आभोग को स्पष्ट करते हुए लिखा है-- 'स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा भोगः' स्थूल या पंच महाभूतों से बने पदार्थों में (जैसे चतुर्भुजादि,शरीर,विराट्शरीर, घटादि) चित्त की भावना करने से यह वितर्क नामक योग होता है । योग-वार्तिक[1] में इसका कुछ भिन्न लक्षण किया गया, विशेष रूप से तर्क या निश्चय करना ही वितर्क है और इस प्रकार का चित्त का निरोध वितर्कानुगत योग कहलाता है । योगसार में विज्ञानभिक्षु[2] ने ही इसका लक्षण करते हुए लिखा है । आलम्बन या ध्येयविषय के स्थूल भाग की त्रैकालिक विशेषताओं, गुणों आदि जिनका अद्यतन साक्षात्कार न हुआ हो उसपर चित्त को लगाना ही वितर्क योग है । अतः इस अवस्था में इन्द्रियादि का साक्षात्कार होता है । वितर्क संप्रज्ञातयोग को भी आचार्यों ने द्विविध भागों में बांटा है-- सवितर्क और निर्वितर्क । आचार्य भोज ने राजमार्तण्ड में इन दोनों का स्पष्ट लक्षण किया है[3] । जब इन्द्रियादि स्थूलपदार्थों को विषय रूप से ग्रहण करके उनके उद्भव और तिरोभाव आदि के विचार से उसमें भावना की जाती है उसे ही सवितर्का समापत्ति कहते हैं । इससे भिन्न जब उन्हीं विषयों पर उनके उद्भवादि का विचार किए बिना ही भावना की जाती है उसे ही निर्वितर्क योग कहते हैं[4] । इन द्विविध प्रकारों का उल्लेख अन्याचार्यों ने नहीं किया, हां समापत्तियों का वर्णन करते समय उसके विशिष्ट प्रकार रूप से इनका भी उल्लेख पातंजल सूत्रों और भाष्यों में हुआ है।

---

१ 'विशेषेण तर्कणमवधारणं वितर्कस्तेनानुगतो युक्तो निरोधो वितर्कानुगतनामा योग इति भावः' ,पृ०५५ ।

२ 'तत्रालम्बने प्रथमं च स्थूलाकारधारणाध्यानसमाधिभिर्यः स्थूलगताशेषाभतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टानां गुणदोषरूपाणामश्रुतामतानां साक्षात्कारः स वितर्क इत्युच्यते' ।पृ० १७

३ 'तत्र यदा महाभूतानि इन्द्रियाणि स्थूलानि विषयत्वेनादाय पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखसम्भेदेन च भावना क्रियते तदा सवितर्कः समाधिः । पृ०७

४ तस्मिन्नेवालम्बने पूर्वापरानुसन्धानशब्दोल्लेख शून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्तते, तदा निर्वितर्का । ,पृ०७

विचारानुगत

विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि का लक्षण करते हुए आचार्य वाचस्पति ने लिखा है-- 'स्वं चित्तस्यालम्बने सूक्ष्म आभोग: स्थूलकारणभूतसूक्ष्मपंचतन्मात्रलिंगालिंगविषयो विचार:'[1] अर्थात् चित्त का आलम्बन या विषय में, विषय के सूक्ष्मरूप तन्मात्रादि में भावना करना ही विचार है और जिस अवस्था विशेष में यह विचार हो उसे विचारानुगत समाधि कहते हैं । अत: यह समाधि वितर्क से सूक्ष्म है । इस प्रकार यह समाधि उसी विषय में हो सकती है, जिसके स्थूल रूप का साक्षात्कार हो चुका हो, अर्थात् जो विषय वितर्कानुगत समाधि का होता है, उसी विषय पर विचारानुगत समाधि होती है और स्थूलविषय महाभूत इन्द्रियादि के कारणभूत तन्मात्रा, अहंकार, महत् और प्रकृति में भावना या धारणादि संयम करने से विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि होती है । इस प्रकार सूक्ष्म शब्द से इन्द्रियादि के कारणों का ही ग्रहण आचार्यों ने किया है और यह उपयुक्त ही है । कार्य की अपेक्षा कारणों को सूक्ष्म ही कहा गया है । योगसारसंग्रह में इसे स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है-- 'सूक्ष्मशब्दस्य कारणार्थकतया तत्र तन्मात्राहंकारमहत्तत्त्वप्रकृतय: सूक्ष्मशब्देन गृह्यन्ते'[2] वितर्क के समान विचार के भी दो प्रकार होते हैं । जिनका उल्लेख भोज ने राजमार्तण्ड में किया है -- सविचार और निर्विचार । सविचार का लक्षण करते हुए वे लिखते हैं-- जब किसी विषय पर के देशकाल और धर्म पर भावना की जाय उसे सविचारा कहते हैं[3] । इससे भिन्न जब सूक्ष्म विषय के देश

---

१ योगतत्त्ववैशारदी, पृ०५४

२ योगवार्तिक, पृ० १८

३ तन्मात्रान्त: करणलक्षणं सूक्ष्मविषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदं यदा भावना तदा सविचार: । --राजमार्तण्ड, पृ०७ ।

काल धर्मादि से भिन्न धर्मी मात्र पर भावना की जाती है उसे निर्विचारा[1] कहते हैं। इन द्विविध समाधियों का उल्लेख समापत्तियों के प्रसंग में होगा।

आनन्दानुगत

आनन्दानुगत समाधि का उल्लेख करते हुए भाष्यकार व्यास ने कहा है--'आनन्दो ह्लादः' अर्थात् ह्लाद को ही आनन्द कहते हैं। अतः चित्त की स्थूल विषयों में भावना करने पर जो आनन्द या ह्लाद होता है, चित्त की उस आनन्द से युक्त अवस्था को ही आनन्दानुगत समाधि कहते हैं। इस प्रकार आचार्य ने आह्लाद मात्र को ही सुख रूप समाधि कहा है परन्तु किन-किन स्थूल विषयों में यह सुख प्राप्त होता है, यह लिखने का प्रयत्न नहीं किया। अन्य आचार्यों विशेषकर विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति मिश्र में एतद्विषयक मतभेद है। वाचस्पति इन्द्रियमात्र में भावना करने से सुखरूप आनन्द मानते हैं। अर्थात् इन्द्रियमात्र ही सत्त्वांश से उत्पन्न होने के कारण सुखात्मक है, क्योंकि सुख सत्त्वगुण का ही धर्म है। अतः इन्द्रियरूप स्थूल विषय में ही धारणादि संयम करने से आह्लाद या आनन्दानुगत समाधि होती है[2]। इससे भिन्न विज्ञानभिक्षु ने इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य सभी स्थूल पदार्थों का ग्रहण किया है, अर्थात् स्थूल पदार्थों में अनुगत सुख रूप धर्म में धारणादि संयम करने से जो पूर्व के समान ही सुख का पूर्णरूपेण साक्षात्कार होता है--[3] चित्त की एतादृश अवस्था को ही आनन्दानुगत संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इन्द्रिय-

---

१ 'अस्मिन्नेवालम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासित्वेन भावना क्रियमाणा निर्विचार इत्युच्यते'। पृ०७

२ 'इन्द्रिये स्थूलालम्बने चित्तस्याभोगो आह्लादः आनन्दः। प्रकाशशीलतया खलु सत्त्वप्रधानादहंकारादिन्द्रियाण्युत्पन्नानि'। पृ०५४

३ 'चतुर्विंशतितत्त्वानुगते सुखरूपगुणकार्ये धारणादिक्रमेण यः पूर्ववदशेषविशेषतः सुखाकारसाक्षात्कारः स आनन्द इत्युच्यते'। --योगसार, पृ०२०

मात्र का ग्रहण वितर्कानुगत समाधि के स्थूल तत्वों में ही हो जाता है । अत: सूक्ष्म होने से इस प्रसंग में इन्द्रियों के कारण का ही ग्रहण है ।साथ ही इन्द्रियों को सूक्ष्म रूप से इस समाधि में ग्रहण करने में कोई प्रमाण भी नहीं है । नागोजी ने भी वाचस्पति मिश्र के इस मत का खण्डन किया है ।

अस्मितानुगत

संप्रज्ञात समाधि का चतुर्थ और अन्तिम प्रकार है अस्मितानुगत समाधि । चित्त का जो अस्मिता रूप आभोग है,उसी से अनुगत समाधि अस्मितानुगत कहलाती है । प्रश्न यह है कि अस्मिता क्या है ? अस्मिता का उल्लेख करते हुए पतंजलि ने द्वितीय पाद के ६ सूत्र में लिखा है-- `दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता` अर्थात् दृक् शक्ति पुरुष और दर्शन शक्ति बुद्धि आदि इन दोनों की परस्पर भिन्नता होने पर भी इनमें ऐक्य की सी दृष्टि रखना अर्थात् दृक् को दर्शनादि रूप का समझना ही अस्मिता कहलाता है । अत: इन द्विविध शक्तियों के धर्मों में पार्थक्य न कर सकना वस्तुत: अस्मिता शब्द का वाच्य है । ऐसी अस्मिता रूप वृत्ति में भावना करने पर ही अस्मितानुगत समाधि होती है । अस्मिता शब्द को प्राय: आचार्यों ने अहंकार रूप ही कहा है । वस्तुत: इन दोनों में अल्प भेद होने पर भी इस स्थल पर अस्मिता शब्द से अहंकार का ही ग्रहण उपयुक्त प्रतीत होता है । अत: अहंकार में `अहमस्मि` इत्याकारा वृत्ति अर्थात् `अहं पुरुष:` इस प्रकार पुरुषमात्रविषयक वृत्ति का ही ग्रहण है । अहंकार ही इन्द्रियादि का कारण और सूक्ष्मतर भी है । यद्यपि अस्मिता में वृत्ति अभेदात्मक सी होती है परन्तु इसी वृत्ति पर भावना कर लेने पर इनकी भिन्नता का ज्ञान प्राप्त कर अर्थात् `अहं देहादिभिन्नोऽस्मि` एतादृश अहं प्रकारक या पुरुषमात्रविषयक

वृत्ति पर भावना करने से अस्मितानुगत समाधि होती है[1]। नागोजी ने लिखा है--'विविक्तचैतनाकारस्यैवास्मिताशब्देनोपलक्षणात्तदनुगतः सास्मित इति' अस्मितानुगत समाधि का उल्लेख करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं--'अस्मिता प्रभवानीन्द्रियाणि। तेनैषामस्मिता सूक्ष्मं रूपम्। सा चात्मना गृहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संवित्।' समाधि की इस अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् कुछ अन्य ज्ञातव्य नहीं रह जाता, सांख्य योगदर्शनों में पुरुष ही एकमात्र चित्तत्व है, उसी का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, अतः इस समाधि की अवस्था में उस चित् तत्व का भी ज्ञान हो जाने पर कुछ ज्ञातव्य शेष रहने का प्रश्न नहीं उठता। अतः समाधि की इस अवस्था में विवेकज्ञान या ख्याति हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त चार समाधियां वस्तुतः संप्रज्ञात समाधि के प्रकार नहीं है वरन् ये ही एक मूल समाधि का चार सोपान है, अर्थात् ये अवस्थाएं क्रमशः प्राप्य हैं न कि भिन्नक्रम से। सर्वप्रथम स्थूल तत्पश्चात् सूक्ष्म तत्पश्चादेव सूक्ष्मतरानन्दादि समाधियां होती हैं। साथ ही समाधि के चतुर्थ सोपान में वितर्क, विचार और आनन्दादि का सर्वथा अभाव रहता है अर्थात् इन तीनों अवस्थाओं पर जय प्राप्त कर लेने पर इनके चिन्तन का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु प्रथम वितर्कानुगत में विचार आनन्द और अस्मिता इन त्रिविध रूपों का भी अस्पष्ट चिन्तन होता ही है। इसी प्रकार विचारानुगत में भी वितर्क को छोड़कर अन्य दो आनन्द और अस्मिता का और आनन्दानुगत में अस्मितामात्र का चिन्तन होता रहता है। परन्तु

---

1. 'एक एवात्मात्मीयां विषयत्वेनास्ति इत्येकात्मिका (तथा चोक्तम्) एकाकृतौ वा चित्तस्य केवलपुरुषाकारा संवित् साक्षात्कारोऽस्मि इत्येताव-न्मात्राकारत्वादस्मितेत्यर्थः।' --योगवार्तिक, पृ० ५७

अस्मितानुगत में ज्ञान प्राप्त हो जाने पर स्थूलविषयक समाधियों का सर्वथा अभाव ही है ।

(ग) धर्ममेघ समाधि

संप्रज्ञात योग की पराकाष्ठा को ही वस्तुत: धर्ममेघ समाधि कहते हैं । धर्ममेघ समाधि क्या है? जैसा कि धर्ममेघ शब्द से ही स्पष्ट है--`धर्मं विवेकख्यातिं मेहति वर्षति इति धर्ममेघ:` अत: जो धर्म की वृष्टि करने वाला है उसे ही धर्ममेघ समाधि कहते हैं । धर्म का अर्थ ज्ञान से है ।[1] इस अवस्था में ज्ञानमात्र ही शेष है ।चित्तपूर्णत: विवेकज्ञाना-कारित होता है,अत: इसे धर्ममेघ समाधि कहते हैं । धर्ममेघ समाधि का लक्षण करते हुए पतंजलि ने लिखा है--`प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघ: समाधि:` अर्थात् प्रसंख्यान या विवेकज्ञान का अभ्यास करने वाले योगी की विविध सिद्धि आदि प्राप्ति की इच्छा से रहित होने पर भी अर्थात् सर्वथा विरक्त या रागशून्य हो जाने पर भी निरन्तर ज्ञान का प्रवाह होने से धर्ममेघ नामक समाधि होती है । अर्थात् जिस अवस्था में साधक विवेकज्ञान से भी सर्वथा निस्पृह हो जाता है साथ ही ज्ञान के फल रूप से प्राप्त होने वाली विविध अणिमालघिमादि सिद्धियों में भी लिप्सा नहीं रखता, ऐसे साधक को जो स्वत: ज्ञान प्राप्त है अर्थात् ज्ञान का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है,अत: ज्ञान रूप फल देने के कारण ही इस समाधि को धर्ममेघ समाधि कहते हैं । इस प्रकार सर्वथा विरक्त या अनुरागरहित उस योगी को विवेकज्ञान भी नहीं होता क्योंकि वह भी ज्ञान रूप होने से चित्त की वृत्ति ही है, अत: वृत्ति त्रिगुणात्मक होने से दु:खात्मिका ही है,अत: ऐसे विवेकज्ञान के प्रति भी अलं भावना पर ही

---

[1] `धर्ममेघमिमं प्राहु: समाधि: योगवित्तमा: ।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधारा सहस्रश: ।।
--१।६०, पृ०६०

परवैराग्य या यह कहिए कि असंप्रज्ञात योग की अवस्था होती है[1]। इस प्रकार इस अवस्था को प्राप्त योगी को जीवन्मुक्ति प्राप्त रहती है अर्थात् मृत्यु न होने पर भी या संसार में जीवित रहने पर भी वह सर्वथा अननुरक्त या विरक्त होकर जीवित रहता है और निष्कामी के समान कर्म करने से कर्मफलों से उसका सम्बन्ध छूट जाता है, परन्तु पूर्वकृत प्रारब्धादि कर्मों के फल भोग रूप से वह जीवन धारण करता है। अतः जीवित रहता हुआ भी पूर्णतया मुक्त है। अर्थात् असंप्रज्ञात योग धर्ममेघ समाधि का नान्तरीयक है। संप्रज्ञात की पराकाष्ठावस्था या धर्ममेघावस्था में योगी के पूर्ण विरक्त होने पर भी ज्ञानप्रवाह शेष है। अतः धर्ममेघ समाधि संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात की मध्यावस्था है और असंप्रज्ञात से उसकी केवल यही भिन्नता है कि असंप्रज्ञातकाल में ज्ञान भी शेष नहीं रहता अथवा ज्ञान के प्रति भी पूर्ण वितृष्णा हो जाने के कारण संस्कारमात्र ही शेष है। संस्कारमात्र से सूत्रकार का क्या अभिप्राय है— ज्ञान संस्कारों अथवा अन्य किसी से यह जानना आवश्यक है। साधारण रूप से तो "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः"[2] इस सूत्र में प्रयुक्त संस्कारशेष पद का सभी आचार्यों ने प्रज्ञारूपसंस्कारों से अर्थ लिया है। अर्थात् ज्ञान के प्रति भी अलंबुद्धि हो जाने पर ज्ञान के संस्कारमात्र शेष होने पर असंप्रज्ञात समाधि होती है, परन्तु यह प्रारम्भिक असंप्रज्ञातावस्था है। असंप्रज्ञात की परिपक्वावस्था होने पर इन प्रज्ञाकृत संस्कारों का भी निरोध हो जाता है। इस प्रकार इन सभी संस्कारों का निरोध हो जाने पर ही इस समाधि को निर्बीज समाधि कहते हैं[3]।

---

१ योगसार संग्रह, पृ० ८८

२ योगसूत्र, १।१८, पृ० १०७

३ ,, १।५१ पृ० २५९

(घ) असंप्रज्ञात योग

संप्रज्ञात समाधि के पश्चात् धर्ममेघ समाधि की परिपक्वावस्था होने पर साधक का चित्त असंप्रज्ञात योग की ओर उन्मुख होता है। 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः'[1] अर्थात् विराम सभी वृत्तियों का निरोध, प्रत्यय-कारण है। अतः वृत्तियों के निरोध के प्रत्यय या कारण का अभ्यास या पुनः पुनः अनुष्ठान करने से जो चित्त की संस्कारमात्रशेषावस्था होती है, उसे ही असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। अतः संप्रज्ञात समाधि में जो रजस् तमोवृत्तियों का निरोध होने पर भी सात्त्विक वृत्तियों का अस्तित्व रहता है अर्थात् विवेकज्ञान रूप सात्त्विक वृत्ति शेष है, परन्तु असंप्रज्ञातकालिक चित्त में ज्ञानात्मक वृत्ति का भी सर्वथा अभाव या निरोध हो जाता है। इस विवेकज्ञान को भी दुःखरूप जानकर उसके प्रति भी साधक विरक्त हो जाता है। अतः इस अवस्था में कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। उन सभी निरुद्ध वृत्तियों का संस्कारमात्र चित्त में अवशिष्ट रहता है। वृत्तिहीनावस्था होने से ही इसे असंप्रज्ञात नाम दिया गया। योगवार्तिककार ने इस शब्द का विग्रह करते हुए लिखा है--' न किंचित्तत्र योगे ज्ञायते इति विग्रहेणासंप्रज्ञातनामा चेति'[2] इस योग को ही पतंजलि आदि आचार्यों ने निर्बीज संज्ञा भी दी है। निर्बीज का अर्थ है जो बीज से हीन हो या जिस अवस्था से बीज निकल गए हों। बीज क्या है, इस विषय में कुछ मतभेद है-- बीज शब्द का अर्थ वाचस्पति मिश्र ने क्लेशकर्माशयादि से लिया है--'क्लेशसहितः कर्माशयो जात्यायुर्भोगाः बीजं तस्मान्निर्गतः इति निर्बीजः'[3] अर्थात् क्लेशमूलक

---

१ योगसूत्र १।१८, पृ० १०७

२ योगवार्तिक, पृ० १५

३ योगतत्त्ववैशारदी, पृ० १२

विभिन्न कर्माशय जाति,आयु,भोगादि ही बीज संज्ञा से कहे जाते हैं ।
इन बीजों के रहित होने के कारण इस असंप्रज्ञातावस्था को निर्बीज समाधि कहते हैं । अर्थात् कर्म सदैव संस्कार रूप से ही चित्त में रहते हैं । वाचस्पति मिश्र का 'बीज' शब्द से तात्पर्य उन संस्कारों के निरोध से है,जो फलोन्मुख या भोग संस्कार हों । इनसे भिन्न प्रज्ञासंस्कार अथवा जो संस्कार फल देने योग्य न हों ऐसे संस्कार शेष हों । निर्बीज का वाचस्पतिकृत यह अर्थ असंप्रज्ञात की प्रारम्भावस्था वश में घटित होता है । इस अवस्था में जात्यादि व्युत्थान संस्कारों का निरोध होने से प्रज्ञाकृत संस्कारमात्र शेष है । परन्तु इनसे भिन्न विज्ञानभिक्षु ने बीज शब्द का अर्थ विभिन्न संस्कारों से लिया है और वे लिखते हैं-- 'असंप्रज्ञातयोगे चित्तबीजस्य संस्कारस्य तत्प्रज्ञानजन्यपर्यन्त-स्याशेषतो दाहात् निर्बीजः संज्ञा ।'[1] अतः असंप्रज्ञातकाल में चित्त के बीज भूत विभिन्न संस्कारों का यहां तक ज्ञान या प्रज्ञाकृत संस्कारों का पूर्णरूपेण दाह या निरोध हो जाने के कारण इस अवस्था को निर्बीज कहा जाता है ।
विज्ञानभिक्षुकृत यह लक्षण असंप्रज्ञात की पराकाष्ठावस्था को प्रकट करता है । क्योंकि वे व्युत्थान संस्कारों के साथ -साथ प्रज्ञाकृत संस्कारों का भी निरोध स्वीकार करते हैं,अर्थात् इन सभी संस्कारों का पूर्ण निरोध होने पर निरोध संस्कारमात्रशेषावस्था ही निर्बीज समाधि है । साथ ही इस अवस्था विशेष में कोई आलम्बन या ध्येय विषय भी नहीं रह जाता । संप्रज्ञात योग की पराकाष्ठा होने पर ही ध्येयविषयक ज्ञान निरुद्ध हो जाता है । अतः हरिहरानन्द ने बीज का अर्थ ध्येयविषयक से ही लिया है ।[2] अर्थात् ध्येयविषय रूप बीज का अभाव होने से इस अवस्था को निर्बीज कहते हैं । इस प्रकार यद्यपि उपर्युक्त आचार्यों के बीज के अर्थ के विषय में कुछ मतभेद है तथापि इन सभी का मत

---

१ योगवार्तिक,पृ० १५

२ 'ध्येयविषयरूपस्य बीजस्याभावात् निरोधः समाधिः निर्बीजः' भास्वती,पृ० १७

उपयुक्त ही है । अत: असंप्रज्ञात योग को ध्येय या आलम्बनहीन साथ ही सभी वृत्तियों और तज्जन्यसंस्कारों से रहित होने से निर्बीज कहने से ही स्पष्ट हो जाता है कि संप्रज्ञात योग अवश्य ही सबीज होगा, क्योंकि इस अवस्था में स्थूल सूक्ष्म पदार्थों ध्येय विषय या आलम्बन रूप से विद्यमान रहता है और उसका ज्ञान भी होता रहता है । सूत्रकार ने इन चतुर्विध संप्रज्ञात समाधियों को सबीज संज्ञा दी है-- 'ता एव सबीज: समाधि:'[1] भाष्यकार व्यास ने सबीज का अर्थ 'बहिर्वस्तुबीजा इति' लिया है । अर्थात् महदादि बाह्य पदार्थ इन समाधियों में ध्येय या आलम्बन रूप से रहते हैं । अत: ये सबीज समाधि हैं । इनसे भिन्न असंप्रज्ञात निर्बीज समाधि होती है । निर्बीज शब्द का अर्थ इस प्रकार 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज: समाधि:'[2] अर्थात् तस्यापिप्रज्ञाकृतसंस्कारों का भी निरोध हो जाने पर सभी वृत्तिसंस्कारों का निरोध हो जाता है । सर्वनिरोधावस्था होने के कारण इस अवस्था को निर्बीज कहते हैं ।

असंप्रज्ञात समाधि के प्रकार

भवप्रत्यय असंप्रज्ञात योग:-

संप्रज्ञात के समान असंप्रज्ञात योग के दो प्रकार हैं । इन दोनों का उल्लेख भिन्न-भिन्न योगियों के लिए हुआ है--कैवल्येच्छुक योगियों के लिए उपाय प्रत्ययरूप असंप्रज्ञात समाधि और विदेह और प्रकृतिलीन उपासकों के लिए भवप्रत्यय समाधि होती है । ये दोनों प्रकार क्या हैं इन्हें स्पष्ट करना अत्यन्तावश्यक है । सुगमता के कारण सूचीकटाहन्याय से सूत्रकार ने भवप्रत्यय का ही पहले उल्लेख किया है । सूत्र १।१९ में सूत्रकार कहते हैं--'भव-प्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' विदेह और प्रकृतिलीन उपासकों की असंप्रज्ञात

---

१ योगसूत्र १।४६, पृ० २४१

२ योगसूत्र १।५१, पृ० २५६

समाधि भवप्रत्यय रूप होती है, वास्तविक योग नहीं । भव प्रत्यय क्या है ? इस विषय में विविध मत हैं । प्रत्यय का अर्थ है कारण, परन्तु भव का अर्थ विविध आचार्यों ने भिन्न-भिन्न किया है । वाचस्पति ने भव से तात्पर्य अविद्या से लिया है । अविद्या रूप कारणवाला जो वृत्तिनिरोध होता है, उसे तो भवप्रत्यय समाधि कहते हैं । उनसे भिन्न भोजराज ने भव का अर्थ इस प्रकार किया है — जन्म रूप कारण वाला अर्थात् भव से तात्पर्य जन्म से है । उनके अनुसार भव का अविद्या अर्थ करने पर अविद्यायुक्त प्राणी में असंप्रज्ञात योग का साधनभूत परवैराग्य ही सम्भव न होगा । परवैराग्य तो तत्त्वज्ञान की पराकाष्ठा है । अतः ऐसे प्राणियों को परवैराग्य के अभाव में योग भी असम्भव ही होगा । अतः भव का जन्म अर्थ लेना ही अधिक उपयुक्त है । भवप्रत्यय असंप्रज्ञात समाधि को स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु ने योगसार में लिखा है--'प्राग्भवीयसाधनानुष्ठानादौत्पत्तिकज्ञानवैराग्याभ्यामिच्छामात्रेण योऽसंप्रज्ञातो विदेहप्रकृतिलयानां देवतादिविशेषाणां जायते स भवप्रत्यय उच्यते जन्ममात्रकारणत्वात् ।'[1] पूर्वजन्मों में साधनों के अनुष्ठान करने से जो विदेह और प्रकृतिलीन उपासकों को जन्मसिद्ध ज्ञानादि से इच्छामात्र से जो असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है उसे ही भवप्रत्यय समाधि कहते हैं । अतः एतादृश उपासक संस्कारमात्रावशिष्ट चित्त से कुछ काल तक कैवल्य पद के समान आनन्द सा प्राप्त करते रहते हैं और उन कर्मफलों के विपाकोन्मुख होने पर पुनः संसार में प्रवृत्त होते हैं । इस प्रकार इन उपासकों की वृत्तियां अवश्य ही समाप्त हो जाती हैं, परन्तु उनके वृत्तिहीन होने पर भी वस्तुतः विवेकख्याति या ज्ञान न होने के कारण उनका चित्त साधिकार होता है और कार्यारम्भण रूप अधिकार से युक्त होने के कारण पुनः ये सांसारिक कार्यों

---

१ योगसार, पृ०३३

में प्रवृत्त हो जाते हैं । अत: यह समाधि वस्तुत: मोक्षोपयोगी नहीं,इसलिए यह योग कहलाने का अधिकारी नहीं, वस्तुत: ये योग नहीं परन्तु इसे योग की संज्ञा दी जाती है । योग की वास्तविकता इसमें नहीं है । अत: भवप्रत्यय समाधि असंप्रज्ञात समाधिहै योग नहीं । यह समाधि योगियों का धर्म भी नहीं हो सकती । यह अवस्था संस्कारमात्र शेष होने से समाधि है । परन्तु योग नहीं है । इस समाधि से युक्त व्यक्ति वास्तविक मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते, हां वृत्तिविरहित संस्कारमात्र शेष होने से कैवल्य का सा अनुभव करते हैं और कर्मों के फलोन्मुख होने पर पुन: संसार मेंआ जाते हैं । अब प्रश्न यह है कि विदेह और प्रकृतिलीन उपासक हैं कौंन ? जिनके लिए इस योग का निरूपण हुआ है ।

विदेह

विदेह और प्रकृतिलीन उपासकों के विषय में द्विविध मत प्रचलित हैं--एक तो योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु का और दूसरा तत्त्ववैशारदीकार वाचस्पति का । विज्ञानभिक्षु ने योगसार में विदेह उपासकों का इस प्रकार उल्लेख किया है--"तत्र विदेहा नाम स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिंगदेहेनाखिलव्यवहारक्षमा हिरण्यगर्भादय:"[1] अर्थात् जो उपासक स्थूल शरीर के बिना ही लिंग या केवल सूक्ष्म शरीर से सम्पूर्ण व्यापार करने में समर्थ होते हैं,उन्हेंही विदेह कहते हैं-- उनसे भिन्न वाचस्पति ने विदेह का लक्षण करते हुए लिखा है-- "भूतेन्द्रियाणामन्यतममात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्त:करणा: पिण्डपातानन्तरमिन्द्रियेषु भूतेषु वा लीना: संस्कारमात्रावशेषमनस: षाट्कौशिकशरीररहिता: विदेहा:"[2] । अर्थात् जो उपासक भूत या इन्द्रियों आदि चौबीस

---

1 योगसार,पृ०३३

2 योगतत्त्ववैशारदी,पृ०५६

पदार्थों में से किसी तत्त्व में आत्म की भावना करते हुए उस वासना से वासित अन्तःकरण वाला होकर पिण्डपात या शरीरपात हो जाने पर इन्द्रियादि में ही लीन होकर संस्कारमात्रावशिष्ट चित्त वाले स्थूलशरीर से रहित होते हैं ऐसे साधकको विदेह उपासक कहते हैं अर्थात् एतादृश उपासक इन्द्रिय या भूतोंको ही परमतत्व समझता है । इससे भिन्न अन्य तत्त्वों के ज्ञान की उसको कोई आकांक्षा भी नहीं होती । आचार्य भोज ने इनका लक्षण इस प्रकार किया है--`तस्मिन्नेव समाधौ यो बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहंकारत्वाद्विदेहशब्दवाच्याः'[1] इस लक्षण में `तस्मिन्नेव समाधौ' शब्दों से सानन्द संप्रज्ञात समाधि का ग्रहण किया गया है क्योंकि इनके पूर्व की पंक्तियों में आचार्य ने इसी समाधि का विवेचन किया है । अतः सानन्द समाधि में ही धैर्यपूर्वक भावना करने वाले अर्थात् आनन्द[2] को ही परमतत्व रूप से स्वीकार करके प्रकृति पुरुषादि अन्य तत्वों के ज्ञान की इच्छा न करने वाले साधक विदेह कहलाते हैं, क्योंकि उनके चित्त से अपने शरीर के अभिमान की भावना या वृत्ति निरुद्ध हो चुकी है । विदेहोपासकों को नागोजी भट्ट ने हेय भी कहा है ।

प्रकृतिलीन

जो उपासक प्रकृति को ही परम तत्व समझते हैं अर्थात् प्रकृति में ही समाधि परिनिष्ठित[3] करते हैं, ऐसे उपासकों को प्रकृतिलीन उपासक कहते हैं । विज्ञानभिक्षु ने लिखा है--`ये तु प्रकृत्युपासनया तच्छबलपरमेश्वरोपासनया वा ब्रह्माण्डं भित्वा महत्तत्त्वपर्यन्तावरणान्यतीत्य प्रकृत्यावरणं गता ईश्वरकोट्यस्ते प्रकृतिलयाः उच्यन्त इति' जो प्रकृतिविशिष्ट परमात्मा की उपासना

---

१ भोजवृत्ति, पृ०७

२ आनन्द पर आनन्दानुगत समाधि के प्रसंग में विचार हो चुका है । आनन्द के विषय में आचार्यों में विवाद है । सामान्यतः आनन्द ह्लाद को कहते हैं ।

३ योगवार्तिक, पृ०३३

के कारण ब्रह्माण्ड का भेदन करके महत्तत्त्वपर्यन्त सम्पूर्ण आवरणों को पार कर प्रकृति के आवरण में पहुंच गए हैं। ऐसे उपासक ईश्वर रूप होते हैं और प्रकृतिलीन कहे जाते हैं। इनसे भिन्न वाचस्पति मिश्र ने कहा है--[1] 'तथा प्रकृतिलयाश्चाव्यक्तमहदहंकारपंचतन्मात्रेष्वन्यतममात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्त:करणा: पिण्डपातानन्तरमव्यक्तादीनामन्यतमे लीना:।' अत: अव्यक्त या प्रकृति, महत् अहंकार या पंचतन्मात्र रूप सूक्ष्म तत्वों में से किसी तत्व पर आत्म भावना करके उसकी ही उपासना करके उन्हीं अव्यक्तादि में लीन हो जाता है उसे ही प्रकृतिलीन उपासक कहते हैं। आचार्य भोज इनका[2] लक्षण इस प्रकार करते हैं जो साधक अस्मितानुगत संप्रज्ञात समाधि अवस्था से ही सन्तुष्ट है, अर्थात् जिन्हें परमतत्व पुरुष के ज्ञान की इच्छा नहीं है, ऐसे साधकों का चित्त अपने कारण प्रकृति में लय को प्राप्त हो जाता है और वे साधक ही प्रकृतिलीन कहे जाते हैं।

इस प्रकार इन द्विविध साधकों की प्रकृति आदि तत्वों में भावना होने से और उनमें पुरुष ज्ञान का सर्वथा अभाव होने से वे तत्वज्ञान प्राप्ति में सर्वथा असमर्थ होते हैं और तत्वज्ञान के अभाव में मोक्ष तो उनके लिए सर्वथा असम्भव ही है। अत: ऐसे साधक वास्तविक मोक्ष प्राप्त न करके समाध्यवस्था के बाद मोक्ष के समान आनन्द प्राप्त करते हुए कर्म संस्कारों के फलोन्मुख होने पर पुन: इस संसार में प्रवृत्त होते हैं।

उपायप्रत्ययअसंप्रज्ञात योग

भव प्रत्यय समाधि योगियों के लिए उपयोगी न होने से पतंजलि ने उपायप्रत्यय रूप समाधि का भी उल्लेख किया और व्यास ने भी

---

१ योगतत्ववैशारदी, पृ०६०

२ राजमार्तण्ड, सूत्र १।१७, पृ०८

'उपायप्रत्ययो योगिनां भवति' कहकर यह स्पष्ट कर दिया कि कैवल्येच्छुक अथवा मुमुक्षु उपासकों या योगियों को उपायप्रत्यय रूप समाधि का अनुष्ठान करना चाहिए। उपाय प्रत्यय का अर्थ है-- उपाय ही है साधन जिस समाधि का। भोज ने भी उपायप्रत्यय को इस प्रकार स्पष्ट किया है--' विदेहप्रकृतिलय-व्यतिरिक्तानां श्रद्धादिपूर्वकः, श्रद्धादयः पूर्वे उपाया यस्य स श्रद्धादिपूर्वकः। ते च श्रद्धादयः क्रमादुपायोपेयभावेन प्रवर्तमानाः संप्रज्ञातसमाधेरुपायतां प्रतिपद्यन्ते'[1] अर्थात् श्रद्धादि उपायों से साध्य समाधि ही उपायप्रत्यय समाधि है। श्रद्धादि उपायों की गणना पतंजलि ने १।२० सूत्र में की है-- श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा ये संप्रज्ञात योग के विभिन्न उपाय हैं। इन उपायों का क्रमशः अनुष्ठान करना चाहिए। क्रमशः इन सभी के अनुष्ठान से अन्ततोगत्वा निरोध समाधि प्राप्त होती है। इन सभी उपायों को आचार्यों ने स्पष्ट किया है।

भाष्यकार कहते हैं--'श्रद्धा चेतसः संप्रसादः' अर्थात् चित्त के संप्रसाद या वैशारद्य का नाम ही श्रद्धा है। अतः चित्त की योगविषयक प्रसन्नता को ही श्रद्धा कहते हैं। यह उपाय योगियों की माता के समान अनर्थों से रक्षा करता है। इस प्रकार श्रद्धावान् विवेकाभिलाषी योगी को वीर्य उत्पन्न होता है। वीर्य का अर्थ भोज ने उत्साह से लिया है--'वीर्यमुत्साहः' भास्वतीकार ने वीर्य को बल भी कहा है। अर्थात् चित्त के क्लान्त होने या विषयान्तर में दौड़ने पर जिस बल के द्वारा उसे पुनः साधन की ओर लौटाया जाता है, वही वीर्य होता है। इस प्रकार वीर्यवान् योगी में स्वतः स्मृति उत्पन्न होती है-- इस स्थल पर स्मृति का स्मृति रूप चित्तवृत्ति अर्थ न लेकर ध्यान अर्थ किया है। वाचस्पति लिखते हैं--'स्मृतिर्ध्यानमिति'[2] परन्तु भोज ने चित्तवृत्ति रूप अर्थ ही ग्रहण किया है--'स्मृतिरनुभूतासंप्रमोषः'[3] परन्तु यहां ध्यान अर्थ लेना

---
१ भोजवृत्ति, पृ०६
२योगतत्त्ववैशारदी, पृ०४२
३भोजवृत्ति, पृ०६

ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । क्योंकि भाष्यकार ने स्मृति के पश्चात् चित्त के समाधान की बात कही है सूत्र में स्मृति के बाद समाधि कही गई है अर्थात् स्मृति या ध्यान प्राप्त होने पर चित्त समाधि के योग्य हो जाता है अर्थात् तत्पश्चात् चित्त समाध्यवस्था को प्राप्त होता है । इस प्रकार समाहित चित्तवाले योगी को विवेकज्ञान का अधिगम होता है, विक्षिप्त चित्त होने पर नहीं । विवेकज्ञान की पराकाष्ठा को ही प्रज्ञा कहते हैं । इसी प्रज्ञा को ऋतम्भरा भी कहते हैं । 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'[1] अर्थात् तदवस्था में सत्यस्वरूप का ज्ञान हो जाने के कारण ऐसे ज्ञान को ऋतम्भरा कहते हैं-- अर्थात् 'ऋतं सत्यं बिभर्ति इति ऋतम्भरा' इस प्रकार असंप्रज्ञात योग की प्राप्ति के उपर्युक्त उपायशास्त्र में प्रतिपादित हैं, जिनका योगी को अनुष्ठान करना चाहिए । इस प्रकार असम्प्रज्ञात योग के उपर्युक्त दो प्रकार ही हैं और यही चित्तवृत्ति निरोध का चरम फल है ।

समापत्ति

इस प्रकार विभिन्न परिकर्मादि के द्वारा स्थिति को प्राप्त चित्त का स्वरूप और विषयादि भिन्न हो जाते हैं और ऐसे साधक को चित्तस्थैर्य का अभ्यास हो जाने पर समापत्ति की प्राप्ति होती है । समापत्ति का अर्थ है--[2] 'समापत्तिः सम्यगालम्बनाकारत्वापत्तिः प्रत्ययवृत्तिरित्यर्थः' अर्थात् आलम्बन के आकार को सम्यक् प्रकार से प्राप्त कर लेना ही समापत्ति है । सूत्रकार १।४१ सूत्र में इसका लक्षण करते हैं--'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः' अर्थात् जिस साधक के चित्त की (राजस और तामस) वृत्तियां क्षीण हो गई हैं, ऐसे साधक के चित्त की ग्रहीता ग्रहण

---

१ योगसूत्र १।४८, पृ० २४७

२ योगवार्तिक , पृ० १०८

या ग्राह्य विषयों में स्थिति होती है तथा चित्त पूर्णरूपेण उन विषयों के आकार का हो जाता है चित्त की वह अवस्था समापत्ति कही जाती है अर्थात् अर्थात् जिस प्रकार अभिजात मणि अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल होता है और जिस किसी भी पदार्थ के सन्निकर्ष को प्राप्त होता है । उसी विषय के आकार को पूर्णरूपेण प्राप्त कर लेता है उसी मणि के समान जिस साधक का चित्त राजस तथा तामस वृत्तियों के सम्यग्रूपेण निरुद्ध हो जाने के कारण अत्यन्त निर्मल हो गया है, ऐसे चित्त का ध्येय पदार्थ में पूर्णरूपेण उपरक्त होना या तदाकाराकारित होना ही समापत्ति है । इस प्रकार इससूत्र से तो ऐसा प्रतीत होता है कि गृहीतृविषयक, ग्रहण विषयक और ग्राह्यविषयक ये त्रिविध विषय होने से त्रिविध समापत्तियां होती हैं,परन्तु आचार्यों ने मुख्यत: वितर्क और विचार रूप अथवा सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा से चतुर्विध समापत्तियां स्वीकार की हैं । इनमें प्रथम दो स्थूलविषयक और अन्त की दोनों सूक्ष्मविषयक है । अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त चतुर्विध समापत्ति स्थूल और सूक्ष्म विषयों को विषय बनाने के कारण ग्राह्य विषयक ही कही जायगी, अत: गृहीता और गृहण विषयक समापत्तियां कौन सी हैं । अधिकतर आचार्यों ने ये ही चार प्रकार स्वीकार किये हैं और इनमें से सूक्ष्मविषयक सविचारा में ही गृहीता और ग्रहण को भी स्वीकार किया है,क्योंकि ये भी सूक्ष्म विषय ही हैं । जिस प्रकार, अहंकार का कार्य तन्मात्रांश सूक्ष्म है उसी प्रकार इन्द्रियां भी अहंकार का कार्य होने से सूक्ष्म अत: सविचारा समापत्ति का ही विषय है । उसी प्रकार गृहीता पुरुष भी । भाष्यकार से भिन्न वाचस्पति ने अष्टविध समापत्तियां स्वीकारकी हैं । उपर्युक्त ग्राह्यविषयक चार गृहण विषयक दो(सविचारा और निर्विचारा) और गृहीतृविषयक भी दो । इस प्रकार आठ समापत्तियां हैं[1]।

---

१ तेन ग्राह्ये चतस्र: समापत्तयो गृहीतृग्रहणयोश्च चतस्र इत्यष्टौ सिद्धा भवन्तीति -- सूत्र १।४६,पृ०१२३

वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु ने ५ ही समापत्ति स्वीकार की है। उनके अनुसार ग्राह्य और ग्रहण विषयक चतुर्विध और गृहीतृविषयक एक इस प्रकार ५ प्रकार की समापत्तियां हैं[1]। परन्तु वस्तुत: यह मत भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि सवितर्का आदि चारों में ही गृहीतृविषयक समापत्ति का भी अन्तर्भाव हो जाता है। अत: उनका पृथक्ग्रहण व्यर्थ ही है।

(क) सवितर्का समापत्ति

जहां तक समापत्तियों के स्वरूप का प्रश्न है अधिक कहने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। सूत्रकार ने पृथक्-पृथक् सूत्रों में इनका लक्षण किया है[2]। 'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पै: संकीर्णा सवितर्का समापत्ति:' अर्थात् जब शब्द, अर्थ, (शब्द का वाच्य विषय या पदार्थ) और उस शब्दार्थ से उत्पन्न ज्ञान इन तीनों प्रकार के विकल्प जब मिश्रित होकर अर्थात् अभेद रूप से साधक के चित्त में उपस्थित हों अर्थात् जब विषय, ज्ञान और पदार्थ के वाचक शब्द में भेद होने पर कोई भेद प्रतीत न हो रहा हो उसे सवितर्का समापत्ति कहते हैं। इस अवस्था में ये तीनों अभेद रूप से चित्त में भासित होते रहते हैं जैसे यदि गौ शब्द का उच्चारण किया जाय यह हुआ शब्द, उस शब्द का वाच्य जिस पदार्थ या सास्नादियुक्त वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है यह उस शब्द का अर्थ हुआ। साथ ही उस प्रस्तुत पदार्थ के आकार की जो साधक की चित्तवृत्ति हुई, अत: उसकी बुद्धि जब गौ के आकार में परिणत हो गई यह ज्ञान हुआ। इस प्रकार जब 'अयं गौरिति' कहा जाय उस समय उसमें

---

१ 'तस्मादवान्तरभेदेन पंचैव समापत्तय: —ग्राह्यग्रहणयो: स्थूलसूक्ष्मभेदेन सवितर्कादिका श्चतस्र:, पंचमी च गृहीतृव्यिति।', पृ० १२५।

२ योगसूत्र १।४२, पृ० २५१

'गौ' शब्द गौ अर्थ, और गौवर्थविषयक ज्ञान इन तीनों का अभेदात्मक ज्ञान हो रहा है उस अभेद में ही जब चित्त समाहित होकर अभिन्नगवाकाराकारित हो जाता है, उसे सवितर्का समापत्ति कहते हैं। इनमें वस्तुत: शब्द, अर्थ और ज्ञान भिन्न हैं, परन्तु उसमें मिथ्यारूप से अभेद बुद्धि होती है। अब प्रश्न यह है कि वस्तुत: सवितर्का के विषय कौन पदार्थ हो सकते हैं। सूत्रकार ने तो सूत्र में ऐसा कोई उल्लेख न किया और भाष्यकार ने इस पर कोई प्रकाश न डाला परन्तु सूत्र १।४६ के भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं-- तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्का निर्वितर्का, सूक्ष्मेऽर्थे सविचारा निर्विचारा इति...[1]। भाष्यकार की इस पंक्ति से प्रतीत होता है कि सवितर्का समापत्ति का विषय स्थूल पदार्थ ही हैं सूक्ष्म नहीं। इसके अतिरिक्त सूत्रकार ने भी सविचारा निर्विचारा समापत्तियों का व स्वरूप निर्धारण करते हुए 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता'[2] सवितर्कादि से इनकी यही विशेषता है। यदि ये भी सूक्ष्मविषयक होती तो उनके लक्षण सूत्रों में भी सूक्ष्मविषय पद का प्रयोग होता। योगवार्तिक में आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी ऐसा ही लिखा है[3]। अत: यह स्पष्ट है कि इस समापत्ति का विषय स्थूल पदार्थ या पंचभूतात्मक सभी पदार्थ हैं। इस प्रकार इन्द्रियगोचर इन द्विविध पदार्थों का उनके शब्द और शब्दजन्य ज्ञान की अभेदरूपेण चित्त में उपस्थिति ही सवितर्का समापत्ति है।

(ख) निर्वितर्का समापत्ति

सवितर्का के समान निर्वितर्का भी स्थूलपदार्थों को ही विषय बनाती है, परन्तु इस अवस्था में चित्त को यथार्थस्वरूप का ज्ञान होता है। सवितर्का में विकल्पात्मक या मिथ्याज्ञान। इसका लक्षण करते हुए सूत्रकार कहते हैं--'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का'[4]

१ योगभाष्य १।४६, पृ० २४१

२ 'एतेन पूर्वस्या: स्थूलविषयत्वं प्रतिपादितं भवति' --योगसूत्र १।४४, पृ० भोजवृत्ति, पृ० १७

३ 'तदेव स्थूलविषये सूत्रद्वयेन समापत्तिद्वयस्य विभागं कृत्वा--एतया सवितर्कनिर्वितर्करूपया स्थूलविषयकसमापत्त्या सूक्ष्मविषया चि... । योगसूत्र, १।४४, पृ० १२०

४ योगसूत्र १।४३, पृ० २२०

अर्थात् जब शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प समाप्त हो जायं साथ ही स्मृति, आगम और अनुमानादि प्रमाणों से उत्पन्न विकल्प भी पूर्णरूपेण निवृत्त हो जाय तब तथा ग्राह्य विषय अपने स्थूल स्वरूप से जब चित्तवृत्ति में व भासित हो, अर्थात् जब चित्तवृत्ति अपने ज्ञान स्वरूप को पूर्णतया त्यागकर पदार्थ के स्थूल रूप के आकार को प्राप्त कर लेती है तब उसे निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। सूत्र में प्रयुक्त स्मृति शब्द का अर्थ भाष्यकार और अन्य वृत्तिकारों ने 'शब्दसंकेतश्रुतानुमानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ' इस प्रकार किया है। अर्थात् शब्दसंकेत या शब्दार्थज्ञान श्रुत--आगम और अनुमान ज्ञान रूप विविध विकल्पात्मक या अध्यास या मिथ्यात्मक स्मृतियों के निवृत्त हो जाने पर जब चित्त विषयैकगोचर और विषय या ध्येय के भी स्थूलरूपैकगोचर हो जाता है अर्थात् वह वृत्यात्मक या ज्ञानात्मक रूप को भी भूल सा जाता है चित्त की ऐसी अवस्था को निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। इस प्रकार सवितर्का में तो शब्द, शब्दार्थ और तज्जन्य ज्ञान इनका मिश्रित-रूपेण भान होता है और वह विकल्पात्मक है, परन्तु निर्वितर्का में शब्दार्थ या ध्येयमात्र का ही ज्ञान होता है। अन्य ग्रहणादि का नहीं। अत: यह समापत्ति संकीर्णता से रहित है। अत: इस समापत्ति के यथार्थविषयक होने से आचार्यों ने पर प्रत्यक्ष भी कहा है।

(ग) सविचारा और निर्विचारा समापत्ति

अब सविचारा और निर्विचारा समापत्तियों का प्रसंग है। इन दोनों का लक्षण एक ही सूत्र में किया गया है[1]--'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता' इसी से सूक्ष्म विषयक सविचारा, और निर्विचारा समापत्तियां भी स्पष्ट हो गई। सूत्र में प्रयुक्त एतया पद से इसके पूर्व के समापत्ति सूत्र (निर्वितर्का समापत्ति) का ग्रहण किया

---

१ योगसूत्र १।४४, पृ० २३२

गया है अर्थात् जिस प्रकार सवितर्का और निर्वितर्का समापत्तियां होती हैं उसी प्रकार सविचारा और निर्विचारा भी । भिन्नता केवल इस बात की है कि प्रथम दो स्थूलविषयक और अन्तिम दो सूक्ष्मविषयक । अब प्रश्न उठता है कि सूक्ष्म विषय कौन हैं-- इनका स्पष्टीकरण सूत्रकार ने 'सूक्ष्मविषयत्वं चाऽलिंगपर्यवसानम्'[1] इस सूत्र से किया है, अर्थात् सस्थूलभूतों (पृथ्वी, अप्, तेजादि) के सूक्ष्म रूप तन्मात्राओं से लेकर अव्यक्त या लिंग पर्यन्त अर्थात् अहंकार एकादशेन्द्रियां महत्, और अव्यक्त प्रधान में सभी सूक्ष्म विषय कहे जाते हैं । इस प्रकार सविचारा और निर्विचारा दोनों ही समापत्तियां सूक्ष्मविषयक होती हैं, अर्थात् ये दोनों ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता तीनों को अपना विषय बनाती है, क्योंकि तन्मात्राएं ग्रहण इन्द्रियां और ग्रहीता अहंकार या अस्मिता ये सभी सूक्ष्म विषय हैं । अव्यक्त यद्यपि सूक्ष्मविषयक होती है, परन्तु उसमें समापत्ति नहीं होती । समापत्ति तो उसी विषय में होती है, जो व्यक्त हो अव्यक्त में समापत्ति मानने पर तो वह भी व्यक्त हो जायगा । अत: यह समापत्ति का विषय नहीं है ।

अब प्रश्न यह है कि जब सविचारा और निर्विचारा दोनों ही समापत्तियां सूक्ष्मविषयक हैं, तो उनमें अन्तर क्या है ? भाष्यकार कहते हैं-- 'तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्ति: स सविचारा इत्युच्यते ।'[2]

अर्थात् देश, (स्थान), काल और निमित्त (कारणों) से युक्त सूक्ष्म विषयों या भूतों के सूक्ष्म रूपों (अहंकार, इन्द्रियादि) में जब

---

१ योगसूत्र १।४५, पृ० २३७

२ योगभाष्य, पृ० २३३

चित्त समापन्न होता है । तब सविचारा समापत्ति होती है । इस प्रकार सविचारा समापत्ति काल में भूतसूक्ष्म का तत्कालिक रूप अपने कारणादि सहित चित्तवृत्ति में भासित होता रहता है, परन्तु निर्विचारा समापत्ति में भूतसूक्ष्म के देशकालादि का ज्ञान नहीं होता । जैसा कि भाष्यकार कहते हैं -- " या पुन: सर्वथा सर्वत: शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्ति: सा निर्विचारा इति उच्यते[1] अर्थात् निर्विचारा समापत्ति काल में सविचारा समापत्ति के समान चित्त सूक्ष्मविषयों के भूत, वर्तमान, भविष्यादि काल के धर्मों से संकीर्ण नहीं होता । भूतसूक्ष्म में सभी धर्मों का आश्रय रूपसे युक्त होने की योग्यता बीज या कारण रूप से विद्यमान रहती है । अत: निर्विचारा समापत्ति का विषय अपने शुद्ध रूप में चित्त-वृत्ति में भासित होता है । इस प्रकार ये चार ही समापत्तियां हैं । योगसूत्रकार ने इन्हें सबीज समाधि कहा है -- " ता स्व सबीज: समाधि:" ता से यहां पूर्वप्रतिपादित चतुर्विध समापत्तियों का ही परामर्श होता है । इन्हें समाधि क्यों कहा गया? समापत्ति और समाधि एक ही हैं । वस्तुत: समाधि साधक को होती है, परन्तु समापत्ति चित्त को । यदि समाधि और समापत्ति समान हो तो निर्बीज समाधि भी समापत्ति हो सकती है; परन्तु ऐसा नहीं सबीज समाधि काल में ही चतुर्विध समापत्तियों का अन्तर्भाव हो जाता है । इससे प्रतीत होता है कि संप्रज्ञात समाधिकाल में समापत्ति हो सकती है । अब प्रश्न यह है कि संप्रज्ञात समाधि तो चार प्रकार की है--वितर्क, विचार, आनन्द, और अस्मिता । वितर्कानुगत संप्रज्ञातसमाधिकाल में सवितर्का और निर्वितर्का, स्थूलग्राह्यविषयक

---

१ योगभाष्य, पृ० २३४

समापत्तियां होती हैं । आनन्दानुगत समाधि काल में गृहीतृविषयक सविचारा और निर्विचारा । इस प्रकार सम्पूर्ण संप्रज्ञात समाधि काल में इन चार समापत्तियों का इन्हीं चार में अन्तर्भाव हो जाता है । अत: ये चार ही समापत्तियां अधिक मान्य हैं ।

इस प्रकार इस शोध प्रबन्ध के पंचमाध्याय में प्रतिपादित विविध उपायों के द्वारा चित्त की वृत्तियों का उपशम हो जाने पर चित्त के समाध्यादि परिणाम होते हैं और साथ ही चित्त को विवेकज्ञान प्राप्त होता है और तत्पश्चात् ही ये विविध समाधियां होती हैं ।

वृत्तिनिरोध के अन्य फल

उपर्युक्त समाध्यादि के अतिरिक्त वृत्तिनिरोध के कुछ अन्य फल भी हैं,जिन्हें विभूति इस संज्ञा से कहा गया है । ये विभूतियां साधारण चित्त का धर्म नहीं । साधारण चित्त चंचल होने के कारण किसी भी विषय पर स्थिर नहीं हो सकता और स्थैर्य के अभाव में विभूतियों का प्रश्न ही नहीं उठता । अत: ये परिष्कृत या योगापन्न चित्त का धर्म है । योगापन्न से अभिप्राय निरुध्यमान चित्त से है,अर्थात् जिस चित्त की चंचलता या विक्षिप्तता का विविध उपायों या परिकर्मादि से निरोध हो चुका हो । अत: ऐसा चित्त किसी भी विषय पर स्थिर किया जा सकता है । विभूतियों को ही सिद्धि भी कहते हैं । अत: वस्तुत: ये सिद्धियां भी चित्तवृत्तिनिरोध के परिणाम या फल ही हैं,परन्तु मोक्षप्राप्ति में सहायक न होने से अथवा वृत्तिनिरोध का मुख्यफल न होने से ही इनका इस अध्याय में उल्लेख नहीं किया गया । ये सिद्धियां मुमुक्षु साधकों के लिए विघ्न या बाधक हैं,परन्तु व्युत्थान की अपेक्षा ये स्थायी हैं अत: इन्हें सिद्धि कहा गया है,परन्तु समाधि

आदि में ये विघ्न रूप हैं[1],क्योंकि ये विभिन्न आलम्बन वाली होने से समाहित चित्त वाले योगी व्यक्ति को इन विषयों की ओर प्रवृत्त करती हुई विक्षिप्त करती हैं । अतः एकाग्रता की विरोधी होने से समाधि में अन्तराय रूप हैं । अतः व्युत्थान की अपेक्षा इन्हें सिद्धि संज्ञा दी गई है । मोक्षप्राप्ति में सहायक न होने से इनका यहां निरूपण उतना आवश्यक भी नहीं है । अतः इनका उपसंहार में संक्षिप्त विचार किया जायगा ।

-o-

---

१ 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः'

--योगसूत्र ३।३७,पृ०६६५

उपसंहार

(१) योगापन्न चित्त की विभूतियां

(२) कैवल्य

उपसंहार

(१) योगापन्न चित्त की विभूतियां

सिद्धियां या विभूतियां मुख्यत: निरुध्यमान चित्त की हैं। सिद्धियां चित्तवृत्तिनिरोध का फल हैं, परन्तु इनका क्या स्वरूप है, या सिद्धियां किसे कहते हैं, यह जानना अनिवार्य है। 'कायचित्तेन्द्रियाणामभीष्ट उत्कर्ष: सिद्धि:' अर्थात् काय या शरीर, चित्त और इन्द्रियों के अभीष्ट या उपर्युक्त पर्याप्त उत्कर्ष को सिद्धि कहते हैं। योगवासिष्ठ में सिद्धि को समझाते हुए कहा गया है -- 'ऐसी शक्तियों को प्राप्त कर लेने को, जो कि साधारणतया से लोगों को प्राप्त नहीं है, उसे सिद्धि कहते हैं'[1]। परन्तु सांख्ययोगाचार्यों ने इसका कोई लक्षण नहीं किया[2]। हां, जयमंगलाकार ने सिद्धि को 'सिद्धिर्ज्ञानप्राप्ति: तस्या: भेदा: उपायभेदात्' इस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति कहा है। अत: सिद्धियां भी चित्त की स्थितिविशेष हैं।

जहां तक सिद्धियों की संख्या या प्रकारों का प्रश्न है, सिद्धियां अनेक हैं। योगसूत्रों का तृतीय पाद विविध सिद्धियों का निरूपण करता है। इसी आधार पर इस पाद का विभूतिपाद नाम भी पड़ा। परन्तु सूत्रकार पतंजलि ने सिद्धि के मुख्य पांच प्रकार स्वीकार किए हैं[3]--'जन्मौषधिमन्त्रतप: समाधिजा: सिद्धय:' अर्थात् जन्मजा, औषधिजा, मंत्रजा, तपोजन्य और

---

१ 'योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त', पृ०२६२

२ जयमंगला, पृ०५४

३ योगसूत्र ४।१, पृ०७४२

समाधिजा ये पांच प्रकार की सिद्धियां होती हैं । सूत्रकार ने इनको नाममात्रेण उद्देश किया है । इनका उदाहरण करने की उन्होंने कोई आवश्यकता न समझी । परन्तु भाष्य एवं वृत्तियों में इन सभी का पृथक् उदाहरण हुआ है । प्रथम है जन्मजा सिद्धि । आचार्य व्यास ने जन्मजा सिद्धि के विषय में लिखा है-- 'देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः' देहान्तर में होने वाली अर्थात् अन्य शरीर में जो सिद्धि जन्म लेने के साथ ही प्राप्त होती है, उसे ही जन्मजा सिद्धि कहते हैं । जैसे-- पक्षियों के आकाशादि में उड़ने का सामर्थ्य उन्हें पक्षी रूप जन्म लेने के साथ ही प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार कपिलादि ऋषि मुनियों को पूर्वजन्मों के संस्कार-वश मानव जन्म में दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है । इसी प्रकार औषधिजन्य सिद्धि भी । 'औषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादिः' अर्थात् असुरों के भवन में कमनीय असुरकन्याओं के द्वारा रसायन प्राप्त होने पर जब मनुष्य उस रसायन के प्रभाव-मात्र से शरीर वज्र के समान बना लेता है । ऐसे ही रसायन रूप औषधि से उत्पन्न होने के कारण औषधिजन्य सिद्धि कहते हैं । अब प्रश्न यह है कि क्या केवल असुर भवनों में ही रसायन का सेवन सम्भव है । इस शंका का समाधान करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं--'असुरभवनेष्विति प्रायिकाभिप्रायेणोक्तम् अन्यत्राप्यौषधिभिः सुवर्णादिसिद्धीनां भावात्'[1] इस प्रकार असुर भवनों में यह सिद्धि प्राप्त होती है । अतः इसी का भाष्यकार ने कथन किया, परन्तु अन्त में आदि पद के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि अन्य स्थलों पर भी यह सिद्धि सम्भव है अर्थात् इस लोक या पृथ्वी में भी पारा आदि औषधियों से जो सामर्थ्यविशेष प्राप्त होता है, उसे औषधिजन्य सिद्धि कहते हैं, जैसे--माण्डव्य मुनि रसायन के उपभोग से विन्ध्यवासी हो गए ।

---

१ योगवार्तिक, पृ०३६७

अब मन्त्रादि के जप करने से मनुष्य को आकाश गमनादि की सामर्थ्य प्राप्त होती है,उसे ही मंत्रज सिद्धि कहते हैं,जैसे दशरथादि को प्राप्त सिद्धियां । तप के अनुष्ठान से जो संकल्पसिद्धि या संकल्पमात्र से कामनानुसार इच्छित स्थान पर गमन की सिद्धि प्राप्त होती है,उस सिद्धि को तपोजन्य सिद्धि कहते हैं । जैसे-- विश्वामित्र को प्राप्त विविध सिद्धियां । अन्तिम और पंचम ही समाधिज सिद्धि है । समाधि का अनुष्ठान करने से जो सिद्धि प्राप्त होती है,अर्थात् चित्त को जो सामर्थ्यविशेष प्राप्त होता है उसे ही समाधिज सिद्धि कहते हैं । समाधिज सिद्धियां अनेक प्रकार की होती हैं, जिनका उल्लेख पातंजलदर्शन के तृतीयपाद में किया गया है । वस्तुत: ये सभी सिद्धियां मोक्षप्राप्ति में अन्तराय है,यह पूर्व अध्याय में ही स्पष्ट किया जा चुका है,परन्तु विज्ञानभिक्षु ने समाधिज सिद्धियों को मोक्षोपयोगी बताया है। उनके अनुसार ये सिद्धियां साधक को यौगमार्ग पर और अधिक आरूढ़ करती है अर्थात्समाधिज ऐश्वर्य से युक्त चित्त समाधिसंस्कृतहोकर आत्मसाक्षात्कार द्वारा साक्षात् मोक्ष का हेतु बनता है[1]। परन्तु यह उपयुक्त नहीं प्रतीत होता,क्योंकि समाधिज सिद्धियां भी विभिन्न आलम्बनों पर समाधि करने से ही प्राप्त होती है । अत: ये सिद्धियां भी समाहित चित्त वाले साधक को विभिन्न विषयों की ओर प्रवृत्त करती हैं ।

सांख्याचार्यों ने योगदार्शनिकों से भिन्न सिद्धियों को आठ प्रकार की ही बताया है । सांख्यसूत्रकार ने[2] `सिद्धिरष्टधा` लिखकर इसे स्पष्ट किया[3] । सांख्यकारिकाओं तत्त्वसमाससूत्रादि में भी सिद्धियों की

१`समाधिसंस्कृतं चित्तमेवात्मसाक्षात्कार द्वारा साक्षान्मोक्षहेतुर्न जन्मादि सिद्धमिति`-- योगसार,पृ० १०५

२ सांख्यसूत्र ५।४०,पृ०१५५

३ तत्त्वसमाससूत्र --`अष्टधा सिद्धि:` ४।१७,पृ० २८७

अष्ट संख्या ही बताई गई है । इन अष्ट सिद्धियों की गणना करने की सांख्यसूत्रकार ने अधिक आवश्यकता नहीं समझी, तथापि 'ऊहादिभि: सिद्धि:'[1] सूत्र लिखकर ऊहादि को ही सिद्धि कहा है । ऊहादि के अन्तर्गत किनका अन्तर्भाव है, यह सूत्र की वृत्तियों और कारिकाओं से स्पष्ट है । आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचन भाष्य में प्रस्तुत सूत्र का भाष्य करते हुए कारिका ५७ को उद्धृत किया है--

ऊह: शब्दोऽध्ययनं दु:खविघातस्त्रय: सुहृत्प्राप्ति: ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धे: पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविध: ।'

अर्थात् ऊह, शब्द अध्ययन, त्रिविध दु:खों के नाश से त्रिविध सिद्धियां, सुहृत्प्राप्ति और दान ये आठ प्रकार की सिद्धियां होती हैं । सभी आचार्यों ने (वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु) इन आठ सिद्धियों में दु:खों के विघात से होने वाली त्रिविध सिद्धियों को ही मुख्य बताया है । और एतद्भिन्न पांच सिद्धियां गौण हैं । अत: सर्वप्रथम मुख्यसिद्धियों का उल्लेख आवश्यक है । दु:ख तीन ही प्रकार के होते हैं--आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । आध्यात्मिक दु:ख के प्रणाश या उपशम से ह होने वाली सिद्धि प्रमोद कहलाती है । जब आध्यात्मिक दु:ख का अपनयन या दूर करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रकर्ष आनन्द देने के कारण उसे ही प्रमोद नामक सिद्धि कहते हैं[2] । इसी प्रकार जब आधिभौतिक दु:ख का अपनयन करने वाला ज्ञान होता है, उसे प्रमुदिता नामक सिद्धि कहते हैं और तीसरी अर्थात् आधिदैविक दु:ख का नाश करने वाला ज्ञान ही प्रमोदमाना

----

१ सांख्यसूत्र ३।४४, पृ० १६०

२ 'यदाध्यात्मिकदु:खस्यापनोदकं ज्ञानं सा चतुर्थी प्रमोदेति',

--तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, पृ० २८७

नामक सिद्धि कही जाती है । अतः मुख्यतः ये तीन ही सिद्धियां होती हैं, क्योंकि दुःख का विनाश या प्रशमन के पूर्व किसी भी सिद्धि की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है । अतः सर्वप्रथम इन दुःखनाश का उपशम करके इन सिद्धियों की उपलब्धि करना चाहिए ।

ऊह नामक सिद्धि का लक्षण करते हुए तत्त्वकौमुदीकार कहते हैं[1]-- आगम के अविरोधी युक्तियों से अर्थात् शास्त्रोक्त युक्तियों से शास्त्रोक्त विषयों की परीक्षा करना ही तर्क या ऊह है । परीक्षण का अर्थ है संदिग्ध पूर्वपक्ष का निराकरण करके उत्तर पक्ष या निश्चित पक्ष का स्थापन । इस ऊह या तर्क नामक सिद्धि को ही अधिक तारक होने से सांख्यदर्शन में 'तारतारम्' संज्ञा दी गई है । इसे अन्य दार्शनिक मनन भी कहते हैं । 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यश्च' उपनिषद् की इस पंक्ति को स्पष्ट करते हुए किसी आचार्य ने 'मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः' ऐसा लिखा है अर्थात् जिसका गुरुमुखादि से श्रवण किया जा चुका है उसका उपपत्तियों या तर्कों से मनन करना चाहिए । अतः मनन तर्क से ही सम्भव है । इस कारण तर्क या ऊह को मनन कहना उचित ही है ।

ऊह के पश्चात् शब्द का प्रसंग है । शब्द के विषय में सभी का मन्तव्य है-- वाचस्पति मिश्र कहते हैं-- शब्दः इति पदं शब्दजनितमर्थज्ञानमुपलक्षयति कार्ये कारणोपचारात्' अर्थात् शब्दों से प्राप्त अर्थ का ज्ञान ही शब्द नामक सिद्धि कही जाती है, अर्थात् शब्द से उत्पन्न होने वाला ज्ञान शब्द का कार्य हुआ, परन्तु कार्य और कारण में अभेद का आरोप करके यहां शब्दजनितज्ञान को भी शब्द ही कहा गया है । इसी सिद्धि को सुतार भी

---

[1] 'ऊहस्तर्कः आगमाविरोधिन्यायेनागमार्थपरीक्षणं परीक्षणं च संशयपूर्वपक्षनिराकरणेनोत्तरपक्षव्यवस्थापनम्', पृ० २०२ ।

कहते हैं । सुखपूर्वक या सरलतया संसार से तारक होने के कारण ही इसे 'सुतार' सिद्धि कहते हैं । अब अध्ययन नामक सिद्धि को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति लिखते हैं--'विधिवत् गुरुमुखादध्यात्मविद्यानामक्षरस्वरूपग्रहणमध्ययनं' शास्त्रोक्त नियमों या विधि के अनुसार गुरु के मुख से अध्यात्मविद्या का पारायण या श्रवण ही अध्ययन नामक सिद्धि कहलाती है । इसकी शास्त्रीय संज्ञा तार है । संसार से तरण करने का हेतु होने से ही इसे तार नामक सिद्धि कहते हैं । अध्ययन का एतादृश लक्षण ही विज्ञानभिक्षु ने भी किया है--'अध्ययनं च यथा--शिष्याचार्यभावेन शास्त्राध्ययनाद् ज्ञानमिति'[1] ।

उपर्युक्त त्रिविध सिद्धियों में स्वरूप की दृष्टि से इस प्रकार का पौर्वापर्य नहीं जिस क्रम से इसका प्रतिपादन किया गया है । क्योंकि सर्वप्रथम अध्यात्मविद्या का गुरु के मुख से अध्ययन या पारायण करके तत्पश्चात् ही गुरुमुख से श्रवण या श्रवणजन्य ज्ञान या शब्द सम्भव है । अत: अध्ययन के बाद शब्द और उसके बाद ही उस अध्यात्मविद्या का तर्कों या उपपत्तियों से मनन होगा । अत: इन सिद्धियों का क्रम इस प्रकार का है-- अध्ययन, शब्द और तब मनन । परन्तु इस स्थल पर उनका निरूपण यथापेक्षित न होकर कारिकानुसारी है । कारिका में प्रतिपादित यह क्रम यथापेक्षित नहीं है और कारिका के इसी क्रम को यहां अपनाया गया है । क्रियात्मक दृष्टि से इनका विपरीत क्रम ही मान्य है ।

सुहृत्प्राप्ति जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है-- सुहृज्जनों से प्राप्त परामर्श को कहते हैं । अर्थात् ऊह द्वारा स्वयं परीक्षित विषयों पर गुरु शिष्य,या सुहृज्जनों से संवाद करना ही सुहृत्प्राप्ति है । वाचस्पति

---

१ योगवार्तिक,पृ० १५७

इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं-- स्वत: परीक्षित पदार्थ भी तब तक विश्वास करने योग्य नहीं होता, जब तक कि उसके विषय में गुरु आदि से संवाद न किया जाय । शास्त्रार्थादि होने से रमणीय होने के कारण इस सिद्धि को रम्यक् भी कहते हैं ।

दान शब्द के सामान्यार्थ को छोड़कर आचार्यों ने यहां भिन्न अर्थ किया है । अर्थात् 'दैप् शोधने' इस धातु से निष्पन्न दान शब्द का अर्थ भी शोधन अर्थात् विवेकज्ञान की शुद्धि ही लिया है[1]। तत्त्वकौमुदी कीटीका में शिवनारायणशास्त्री ने भी एतादृश अर्थ किया है[2]। शिष्य के द्वारा धनादि के दान से सन्तुष्ट गुरु जब प्रसन्न होकर शिष्य को ज्ञान का उपदेश करता है,उसे ही दान संज्ञा से कहा जाता है । इस सिद्धि को सार्वकालिक आनन्द का हेतु होने से सदामुदित भी कहते हैं ।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य सिद्धियां भी योगदार्शनिकों को अभिमत है,जो परिणामों,परिकर्मों आदि पर संयम करने से प्राप्त होती है । उन सभी सिद्धियों के मुख्य दो प्रकार हैं -- एक ज्ञानरूपसिद्धियां और दूसरी क्रियारूप सिद्धियां । अर्थात् कुछ सिद्धियां ऐसी हैं,जो ज्ञान या चित्तवृत्ति रूप है अथवा जिनमें विविध प्रकार के ज्ञान प्राप्त होते हैं,जैसे परिणामों में संयम करने से अतीत और अनागतकाल का ज्ञान, शब्दार्थों में संयम से सभी प्राणियों की वाणी का ज्ञान, प्रत्यय या चित्त में संयम

---

१ 'दानं च शुद्धिर्विवेकज्ञानस्य,'दैप् शोधने' इत्यस्माद्धातोर्दानपदव्युत्पत्तेः'
-- तत्त्वकौमुदी, पृ०३०३।

२ 'यत्र धनस्य दानेन संतुष्टो भूत्वा गुरुर्ज्ञानं ददाति सा सिद्धिः धनादान-कारणकत्वात् दानमिति भाष्यते' -- सारबोधिनी,पृ०४४७

से सभी प्राणियों की वाणी का ज्ञान, प्रत्यय या चित्त में संयम करने से परचित्त का ज्ञान इत्यादि । ये सभी सिद्धियां ज्ञानात्मक होने से चित्तवृत्ति रूप हैं । इनसे भिन्न कुछ सिद्धियां क्रियात्मक हैं, जैसे--'बन्धन कारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः'[1] अर्थात् बन्धन के कारणों के शिथिल हो जाने पर और चित्त प्रचार का ज्ञान होने पर स्वचित्त को योगी दूसरे शरीर में प्रविष्ट कर सकता है । अतः योगी में इतनी सामर्थ्य हो जाती है कि वह अपने चित्त को अपने जीवित शरीर से निकाल कर अन्य मृत या जीवित ~~अदि~~ किसी शरीर में प्रवेश कर सकता है और चित्त का परशरीरावेश हो जाने पर इन्द्रियां भी चित्त की अनुगामिनी होने से उस परशरीर में चली जाती है । चित्त के बिना इन्द्रियों का अस्तित्व हीसम्भव नहीं अर्थात् चित्त का परशरीरावेश होने पर इन्द्रियां उसी प्रकार उनका अनुगमन करती है, जिस प्रकार मधुमक्खियां मधुकरराज के उड़ने पर उनका अनुगमन करती है । इसी प्रकार उदानजय से कण्टकादि स्थलों पर सुखपूर्वक गमन की और समानजय से ऊर्ध्वगमन की सामर्थ्य से युक्त जठराग्नि प्रज्ज्वलित होती है । ये सिद्धियां क्रियात्मक होने से संयमजन्य क्रियारूप सिद्धियां कहलाती हैं ।

इन सभी के अतिरिक्त कुछ अणिमादि सिद्धियां भी सांख्य योगियों को मान्य हैं साथ ही पुराणों महाभारतादि में भी सिद्धियों के प्रसंग में उनका उल्लेख हुआ है[2] । ये सिद्धियां संख्या में आठ हैं--अणिमा,

---

१ योगसूत्र ३।३८, पृ० ६६६

२ 'स्तान्गुणान्निराकृत्य यऋतो योगिनस्तथा
सिद्धयोऽष्टौ प्रवर्तंते योगसंसिद्धिकारकाः ।
अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च । प्राकाम्यं च तथेशित्वं वशित्वं च तथापरे।
यत्र कामावसायित्वं माहेश्वरपदस्थिता ।,- स्कान्द माहेश्वरखण्ड, अध्याय ५५, पृ० ११६

लघिमा,महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व और कामावसायित्व ।
अणिमा अणुभाव को कहते हैं,अत: इस सिद्धि को प्राप्त करने पर योगी
अणु-- अत्यन्त छोटा या सूक्ष्म रूप आकार वाला-- परिमाण वाला हो जाता
है । लघिमा लघुभाव को कहते हैं-- अत: लघिमा की प्राप्ति होने पर योगी
लघु-- हल्का-- हो जाता है । महिमा महानभाव का नाम है इस सिद्धि के
प्राप्त होने पर योगी महान रूप को धारण कर सकता है । प्राप्ति नामक
सिद्धि को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं-- 'प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि
स्पृशति चन्द्रमसम्'[1] प्राप्ति सिद्धि को प्राप्त होने पर योगी अपनी अंगुली की
नोक या अग्रभाग से ही चन्द्रमा को स्पर्श कर सकता है ।ये चार प्रकार की
सिद्धियां भूतों के स्थूल रूप में संयम करने से प्राप्त होती हैं । प्राकाम्य इच्छा
के अनभिघात को कहते हैं--अर्थात् प्राकाम्य सिद्धि प्राप्त होने पर योगी अपनी
इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है, जैसे जल में स्नान करता है, उसी प्रकार
पृथिवी में घुसकर पुन: पुन: बाहर निकल जाता है । योगियों को मान्य
भूतों के द्वितीय रूप में अर्थात् स्वरूप में संयम करने से प्राकाम्य नामक सिद्धि
प्राप्त होती है । वशित्व सिद्धि प्राप्त होने पर योगी को भूत और
भौतिकादि पदार्थों में वश हो जाता है अर्थात् ये पदार्थ योगी के अधीन हो
जाते हैं,परन्तु वह स्वत: किसी के अधीन नहीं होता । ईशितृत्व वस्तुत:
ईश्वरत्व को कहते हैं । अत: ईश्वर के समान होता हुआ प्रकृति को वश में करके
सभी पदार्थों की उत्पत्ति,स्थिति आदि कर सकता है । इसी को तत्त्वकौमुदीकार
ने ईशित्व कहा है । अन्तिम है कामावसायित्व । इसका उल्लेख करते हुए
भाष्यकार कहते हैं[2]-- जिसका योगी का संकल्प हो ठीक उसी प्रकार का भूतों

----

1 व्यासभाष्य,पृ०६६५

2 'यत्र कामावसायित्वं सत्यसंकल्पता यथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्'
--योगभाष्य,पृ०६६७

का स्वभाव हो जाना ही सत्यसंकल्पता है,इसी को कामावसायित्व भी कहते हैं । भूतों के अर्थवत्व रूप पर संयम करने से यह सिद्धि प्राप्त होती है । तत्वकौमुदी में वाचस्पति ने एक अन्य गरिमा नामक सिद्धि भी स्वीकार की है,परन्तु इनको आठ संख्या मानना ही अधिक उपयुक्त है । इस प्रकार ये आठ अणिमादि सिद्धियां हैं ।

इन सभी से भिन्न कुछ अन्य सिद्धियां भी हैं जो यम, नियमादि पर संयम करने से प्राप्त होती हैं,जिनका उल्लेख आचार्य पतंजलि ने द्वितीय पाद में ही किया है । अहिंसादि यमों का अनुष्ठान करने से अर्थात् योगी की इन यमों में स्थिति हो जाने पर उस योगी को विभिन्न सिद्धियां प्राप्त होती हैं-- जैसे अन्य प्राणियों से वैर का त्याग, सभी रत्नों की प्राप्ति, सभी प्रकार की शक्ति या सामर्थ्य से युक्त होना, भूत,भावि आदि जन्मों का साक्षात्कार आदि । इसी प्रकार विभिन्न नियमों एवं आसनादि के अनुष्ठान से भी विविध सिद्धियां प्राप्त होती हैं । इस प्रकार संक्षेप में ये मुख्य सिद्धियां हैं,इनसे भिन्न अनेक सिद्धियां भी हैं,जिनका उल्लेख यहां आवश्यक नहीं है ।

कैवल्य

पुरुष के द्विविध पुरुषार्थ हैं--भोग और मोक्ष । पुरुष के भोग का सम्पादन तो अविद्याकृत होने पर ही अर्थात् प्रकृति के संयोग से ही होता है,क्योंकि प्रकृति ही पुरुष के भोग को प्रस्तुत करती है । अज्ञान के कारण पुरुष स्वयं को प्रकृति के द्वारा प्रस्तुत किए गए विविध भोगों का भोक्ता समझ लेता है, परन्तु यथार्थत: पुरुष सर्वथा निर्गुण,अपरिणामी,और इन सभी सांसारिक विषयों से सर्वथा असंस्पृष्ट है,अत: वह कर्ता,भोक्तादि भी नहीं है । अज्ञान के कारण ही ये सब धर्म उसमें आरोपित हैं । अत: पुरुष की अज्ञानावस्था में ही भोग रूप प्रयोजन की सिद्धि होती है ।

त्रिविध दु:खों की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति को या पुरुष की आत्यन्तिक स्वस्वभावस्थिति को मोक्ष कहते हैं। आत्यन्तिक से अभिप्राय दु:ख के पूर्णरूपेण दाह से है। अर्थात् दु:खों के स्थूल और सूक्ष्म इन द्विविध रूपों में न रहना ही कैवल्य है। दु:ख की निवृत्ति को विज्ञानभिक्षु ने चित्त की निवृत्ति कहा है--'अतो यावच्चित्तसत्त्वं तावदेवानागतदु:खसत्त्वानुमीयते तन्निवृत्तिश्च पुरुषार्थ इति'[1]। यह कहना उचित है क्योंकि जब तक चित्त की स्थिति है, तब तक दु:ख की सम्भावना बनी ही रहती है। अत: दूसरे शब्दों में चित्त की निवृत्ति को ही मोक्ष कहा जा सकता है। सांख्ययोग सभी दार्शनिक मोक्ष का एक ही स्वरूप स्वीकार करते हैं, वह है पुरुष की एकाकिता या केवलता[2]।

जहां तक मोक्ष के स्वरूप का प्रश्न है योगसूत्रकार ने चतुर्विध सूत्रों से इसका उल्लेख किया है-- प्रथम पाद के तृतीय सूत्र 'तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्', द्वितीय पाद के 'तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशे: कैवल्यम्', तृतीय पाद के 'सत्त्वपुरुषयो: शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' और चतुर्थ पाद के अन्तिम सूत्र 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव: कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति' में मुख्य रूप से इसका प्रतिपादन हुआ। इनमें प्रथम सूत्र में कैवल्य और उसकी प्राप्ति के साधनभूत योग के सम्बन्ध का और साथ ही कैवल्य के स्वरूप का भी उल्लेख हुआ है। 'तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्' का अर्थ है, इसमें अथवा चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग के होने पर द्रष्टा का स्वरूप से ही

---

१ सांख्य प्रवचनभाष्य, पृ०७

२ 'तस्माच्च संयोगादुत्पद्यमानस्य प्राकृतदु:खस्य पुरुषे य: प्रतिबिम्ब: स एव दु:खभोगो दु:खसम्बन्धस्तन्निवृत्तिरेव च मोक्षाख्य: पुरुषार्थ इति।'
— सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ०११२

अवस्थान होता है । निरोध रूप योग से तात्पर्य यहां असंप्रज्ञात योग से है--
परन्तु असंप्रज्ञात की संस्कारमात्रशेषावस्था होने के कारण उस अवस्था में
स्वरूपावस्थिति का कथन उपयुक्त नहीं है । अतः यहां यह स्पष्ट करना
आवश्यक है कि असंप्रज्ञात से तात्पर्य यहां उसकी प्रारम्भावस्था से नहीं,
परन्तु उसकी चरमावस्था अथवा निर्बीज समाधिकाल से है । जब साधक के चित्त
की वृत्तियों के साथ-साथ उनके संस्कार भी निरुद्ध हो जाते हैं यही पुरुष की
चिद्रूपता है । और चिद्रूपता ही पुरुष का स्वरूप है । अतः चिद्रूप होना ही
उसकी स्वरूपावस्थिति है । अब प्रश्न यह है कि क्या व्युत्थान काल में पुरुष
स्वभिन्न रूप को प्राप्त होता है और असंप्रज्ञातदशा में पुनः स्वरूप से उसकी
अवस्थिति होती है । वस्तुतः पुरुष तो अपरिणामी है अतः वह भिन्न
भिन्न अवस्थाओं को कैसे प्राप्त होता है, इस शंका के समाधान रूप से भाष्यकार
कहते हैं--"स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये । व्युत्थानचित्ते तु सति
तथापि भवन्ती न तथा ।"[1] अर्थात् संप्रज्ञातसमाधिकाल में चितस्वरूप में स्थित
रहता है, जिस प्रकार कैवल्यावस्था में । परन्तु व्युत्थान काल में अपने रूप में
स्थित होने पर भी स्वरूप का प्रतीत नहीं होता । इस प्रकार पुरुष की
स्थिति दोनों अवस्थाओं में समान ही है । वह परिणामी नहीं, अतः भिन्न-
भिन्न रूपों को नहीं धारण करता, परन्तु अज्ञानावृत्त होने के कारण बुद्धि के
प्रतिबिम्ब से युक्त होने से बुद्धिस्थ ज्ञान का अभिमान करता हुआ बुद्धिवृत्तियों

----

१ योगभाष्य, पृ०३२

के आकार का प्रतीत होताहै । इस प्रकार यद्यपि सूत्र में कैवल्य का कोई प्रसंग नहीं, परन्तु भाष्यकार ने 'यथा कैवल्ये' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया कि कैवल्य में पुरुष का क्या स्वरूप होता है । चित्त की सभी वृत्तियों के सम्यक्-प्रकारेण निरुद्ध हो जाने पर अर्थात् असंप्रज्ञात काल में पुरुष की सभी विषयों के प्रति यहां तक कि ज्ञान के प्रति भी पूर्ण वैतृष्ण्य होने पर पुरुष को मुक्ति तो प्राप्त हो जाती है, परन्तु प्रारब्ध कर्मों के फलभोगार्थ वह शरीर धारण करता है और प्रारब्ध समाप्त होने पर शरीरपात होने से विदेहमुक्ति प्राप्त होती है । इस प्रकार इस अवस्था में पुरुष अपने शुद्ध चैतन्य रूप से रहता है एवं विविध वृत्तियों आदि का उसमें आरोप नहीं होता । वस्तुत: निर्गुण होने से वह इन वृत्तियों से सर्वथा असंस्पृष्ट ही है । इस प्रकार असंप्रज्ञातकाल और कैवल्यावस्था दोनों में ही उसकी स्वरूपावस्थिति ही होती है । भिन्नता केवल इस बात की है कि चिद्रूप से रहने पर भी असंप्रज्ञातावस्था में वह प्रारब्ध कर्मों के फलभोग के लिए शरीर धारण करता है और कैवल्य में उन कर्मों का पूर्ण दाह हो जाने पर उस शरीर का भी त्याग कर चिन्मात्ररूप से ही रहता है ।

इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य का संयोग निवृत्त हो जाने पर अथवा वियोग होने पर द्रष्टा का अकेले रहना ही पुरुष का कैवल्य है-- 'तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशे: कैवल्यम्' तत् अर्थात् अविद्या का अभाव होने पर संयोग (प्रवृत्तिपुरुषसंयोग) का भी अभाव हो जाता है । वही हान है और वही द्रष्टा का कैवल्य है । विवेकज्ञान सिद्ध हो जाने पर अज्ञान की निवृत्ति और तत्पश्चात् अज्ञानजन्य संयोग की भी निवृत्ति होती है । इस

~~इस~~
प्रकार पुरुष का प्रकृति के विषयों से सम्बन्ध न होने से वह उन विषयों को आरोपित नहीं करता । बुद्धि की वृत्ति के आकार को प्राप्त करना ही पुरुष

का बन्ध है और इस अज्ञानारोपित विषयों का हान ही पुरुष की मुक्ति है। पुरुष के कैवल्य से अभिप्राय उसके एकाकीपन से है और ज्ञान होने पर ही यह सम्भव है। इस प्रकार पुरुष का प्रकृति से अथवा उसके विषयों से पुनः कभी संयोग न होना ही पुरुष का कैवल्य है। अतः त्रिविध दुःखों का आत्यन्तिक और ऐकान्तिक विनाश अथवा बुद्धि या गुणों से सन्निधिमात्र का भी न होना ही पुरुष का मोक्ष है[1]। तत्त्वकौमुदी में भी कैवल्य का ऐसा ही स्वरूप वर्णित है[2]। सांख्यसूत्रकार का भी एतादृश मत है--'द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः'[3] अर्थात् प्रकृति और पुरुष इन दोनों का अथवा किसी एक का उदासीन रूप से रहना ही अपवर्ग है। अब प्रश्न यह है कि प्रकृति और पुरुष का परस्पर औदासीन्य कैसे सम्भव है। प्रकृति तो जड़ है अतः उसमें उदासीनता का कथन कुछ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। इसी को दृष्टि में रखकर सूत्रकार ने सूत्र में 'एकतरस्य.वा' पदों का ग्रहण किया है अर्थात् किसी एक का उदासीन होना ही अपवर्ग है। एकतरस्य से उनका तात्पर्य वस्तुतः पुरुष से है। विज्ञानभिक्षु इस उदासीनता को ही एकाकिता या अपवर्ग कहते हैं--'द्वयोः प्रधानपुरुषयोरौदासीन्यमेकाकिता परस्परवियोग इति यावत् सोऽपवर्गः। अथवा पुरुषस्यैव कैवल्यम्...[4]।' अतः दोनों के औदासीन्य का अर्थ है-- प्रकृति

---

१ 'पुरुषस्य कैवल्यं पुनर्गुणासंयोगरूपमपि भवतीत्यर्थः' योगवार्तिक, पृ०३८०
तद्दृशेः कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः' --व्यासभाष्य पृ०४२४
अथ त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' --सांख्यसूत्र १।१, पृ०७
२ 'प्रधानस्य तं पुरुषं प्रति विनिवृत्तौ 'ऐकान्तिकम्' अवश्यम्भावि 'आत्यन्तिकम्' अविनाशि इत्युभयं 'कैवल्यं' दुःखत्रयविगमं प्राप्नोति पुरुषः' ।
--सांख्य तत्त्वकौमुदी, पृ०२२१
३ सांख्यसूत्र ३।६५, पृ०१६५

का विवेकी पुरुषों के प्रति प्रवृत्त न होना और पुरुष का प्रकृति से असम्बन्ध होना[1]।

तृतीय पाद के इस सूत्र "सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्" से भी कैवल्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है-- सत्त्व बुद्धि और पुरुष इन दोनों की समानरूप से शुद्धि हो जाने पर कैवल्य होता है। अर्थात् विवेकज्ञान होने पर बुद्धि और पुरुष दोनों शुद्धता को प्राप्त होते हैं। अत्यन्त निर्मल बुद्धि पुरुष के भोग को उपस्थित न करके अपने कारण में लीन होती है और पुरुष भी अविद्या के कारण प्राप्त बुद्धि के संयोग को त्यागकर निर्गुण चिन्मात्र रूप से रहता है, यही पुरुष की शुद्धि है। पुरुष की शुद्धता से तात्पर्य पुरुष में उपचरित भोगों के अभाव से है। बुद्धि जब रजतमरूप मलों से रहित केवल विवेकज्ञान में ही तत्पर दग्धक्लेशबीजवाली होती है, उसे ही बुद्धि की शुद्धता कहते हैं। यद्यपि बुद्धि के त्रिगुणात्मक होने से बुद्धि की शुद्धता का प्रश्न ही नहीं उठता। बुद्धि की शुद्धता को स्पष्ट करते हुए तत्त्वकौमुदीकार ने भी लिखा है[2] पुरुष का राजस तामस वृत्तियों से मलिन बुद्धि से सम्पर्क का अभाव होने पर भी सात्त्विक बुद्धि से थोड़ा सा सम्बन्ध बना ही रहता है, अन्यथा प्रकृति का दर्शन असम्भव है। अर्थात् बुद्धि में सत्त्व का प्राबल्य रहता है। इसी कारण भाष्यकार ने

---

१ "स्वच्छः" इति रजस्तमोवृत्तिकलुषया बुद्ध्यासम्भिन्नः। सात्त्विक्या बुद्ध्या तदाऽप्यस्य मनाक् सम्भेदोऽस्त्येव, अन्यथेत्थम्भूत प्रकृतिदर्शनानुपपत्तेरिति"
-- सांख्यकौमुदी, पृ० ३२६

प्रस्तुत सूत्र का भाष्य करते हुए 'शुद्धिसाम्यमिवापन्नं भवति' ऐसा अर्थ किया है। पुरुष की व्युत्थानकालिक भोगों का अभाव रूप शुद्धि उपयुक्त है। परन्तु बुद्धि की पूर्णतः शुद्धि सम्भव न होने के कारण वह पुरुष के समान शुद्ध नहीं हो सकती, इसीलिए यहां 'इव' पद का ग्रहण किया गया। अत्यन्त शुद्ध हो जाने के कारण पुरुष के समान शुद्ध सी प्रतीत होती है। बुद्धि जीवन्मुक्तिदशा में विवेक का प्राबल्य होने से उस प्रकार के भोगों को प्रस्तुत नहीं करती। इस प्रकार वैराग्यादि की प्राप्ति ही बुद्धि की शुद्धि है। इस शुद्धि के कारण पुरुष के साथ बुद्धि का साम्य कहा गया है। अतः दुःख के भोग का पूर्णरूपेण निवृत्त हो जाना ही मोक्ष रूप पुरुषार्थ है[1]।

इन सभी के अतिरिक्त कैवल्यपाद के अन्तिम सूत्र 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति' में पतंजलि ने कैवल्य के स्वरूप को पूर्णतया स्पष्ट किया है। इस सूत्र में कैवल्य का द्विविध दृष्टियों से प्रतिपादन हुआ है— गुणों की दृष्टि से और पुरुष की दृष्टि से। गुणों की दृष्टि से मोक्ष का तात्पर्य है, गुणों का पुनः कर्मों में प्रवृत्त न होना अर्थात् गुणों का कार्यारम्भण रूप व्यापार का न होना। पुरुष के भोग रूप पुरुषार्थ का सम्पादन कर चुकने के कारण चरिताधिकार इन गुणों का सृष्टि से निवृत्त हो जाना अर्थात् इन्द्रियादि सभी का स्वस्वकारण में लय होना और अन्ततोगत्वा गुणों का भी अलिंग

----

१ बुद्धिधर्मत्वात्पुरुषस्य उपचरितमात्रस्य प्रत्ययविशेषरूपभोगस्याभावः पुरुषस्य तु शुद्धिः, बुद्धेरपि जीवन्मुक्तदशायां विवेकित्वेन तादृशो भोगो नास्तीति शुद्धिसाम्यमित्यर्थः' —योगवार्तिक, पृ०३२४

में लीन हो जाना ही गुणों की दृष्टि से मोक्ष है, परन्तु यह न समझना चाहिए कि सम्पूर्ण सृष्टि सभी पुरुषों के प्रति निवृत्त हो जाती है। वस्तुत: जिस पुरुष का भोग समाप्त हो चुका हो ऐसे ज्ञानी पुरुष के लिए गुणों का कार्य समाप्त हो जाता है। अत: इसके लिए सृष्टि भी निवृत्त हो जाती है। ऐसे कृतार्थ गुणों का लय होना ही मोक्ष है। पुरुष का कैवल्य या मोक्ष पुरुष की एकाकिता या कैवलरूपता ही है, जिस प्रकार जपा के सन्निकर्ष से स्फटिक विविध रंगों को प्राप्त होता है, परन्तु जपा के हटा देने पर स्फटिक अपने निर्मल रूप से रहता है ठीक उसी प्रकार पुरुष का बुद्धि रूप उपाधि के अभाव में अपने चिद्रूप से रहना ही पुरुष की एकाकिता है, अत: औपाधिक रूप की शाश्वतिक निवृत्ति अथवा पुरुष स्वरूप की आत्यन्तिक निरुपाधिता ही पुरुष का कैवल्य है।

यह मुक्ति या कैवल्य द्विविध है— जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। साधक को विवेकज्ञान प्राप्त हो जाने से वस्तुत: उसे मोक्ष प्राप्त ही है, अर्थात् क्लेशों का दग्धरूपत्व सम्पन्न हो जाता है अर्थात् कर्ममात्र का नाश हो जाता है, क्योंकि कर्म भी अविद्याजन्य है। अत: अविद्या के नाश से क्रियमाण कर्म तो समाप्त हो ही जाते हैं, संचित कर्म भी फल देना प्रारम्भ नहीं करते, क्योंकि उनके प्रति अहंता की भावना समाप्त हो जाने से उन कर्मों का स्वत: दाह हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म शेष हैं और उन कर्मों के रहने से उनके फलों के भोगने के लिए उसे शरीरधारण करना पड़ता है। वस्तुत: उसका उस शरीर या सांसारिक विषयों के प्रति भी निस्पृहभाव रहता है। यही साधक की जीवित रहते हुए मुक्ति है। अत: धर्ममेघ समाधि की स्थिति ही जीवन्मुक्ति है। इसे विज्ञानभिक्षु ने कार्य मुक्ति या कर्तव्य समाप्ति भी कहा है। इन फलों का पूर्णरूपेण भोग हो जाने पर अत: प्रारब्ध के समाप्त

हो जाने पर साधक का स्वत: शरीरपात हो जाता है तभी उसे पूर्ण या विदेहमुक्ति प्राप्त होती है । शरीरादि के अभाव में स्वरूप से रहना ही पूर्ण या परमुक्ति है । तत्त्वसमाससूत्रों में त्रिविध मुक्ति का प्रतिपादन हुआ है, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति और परममुक्ति परन्तु वस्तुत: ये दो ही हैं, विदेहमुक्ति ही परममुक्ति है ।

इस प्रकार शोधप्रबन्ध के प्रस्तुत विषय -- सांख्य योग-दर्शनों में मान्य मानसिक -(आन्तरिक) तत्त्वों का आलोचनात्मक अध्ययन -- में प्रतिपाद्य विषयों पर अब प्रभृति विचार हुआ । उन विषयों में मुख्यता चित्त की ही थी, अत: चित्त के स्वरूप, विविध व्यापारों, उनकी विविध वृत्तियों के निरोधादि के पश्चात् होने वाली चित्त की विविध अवस्थाओं का विवेचन हो चुकने पर साधक का जो मुख्य प्राप्तव्य है, उस मोक्ष रूप पुरुषार्थ को भी स्पष्ट किया गया, यही योगी के जीवन का उद्देश्य है । इस संसार से मुक्त होना या पुन: संसरण का न होना मोक्षावस्था में ही सम्भव है । जन्म अविद्याजन्य है, अत: अविद्या के निराकरण से जन्म का भी निराकरण होगा, वही पुरुष की स्वरूपावस्थिति है । इस प्रकार उस परम प्रयोजन के निरूपण के साथ ही हम इस प्रबन्ध का उपसंहार करते हैं ।

-0-

सहायक ग्रन्थ-सूची

क्रम ग्रन्थ	रचयिता	सम्पादक	प्रकाशक	काल
१ अनुराधा	डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी	--	नारायण पब्लिशिंग हाउस दिल्ली	१९६९
२ अनुभूति प्रकाश	विद्यारण्य मुनि	देवकीनन्दन शास्त्री	विद्याविलास प्रेस	१९२४
३ अग्निपुराण	आचार्य व्यास	श्री राम शर्मा	संस्कृति संस्थान ख्वाजाकुतुब	१९६८
४ कूर्म पुराण	,, ,,	नीलमणुखोपाध्याय	गिरीशविद्यारत्न	१८९०
५ गरुड़ पुराण	,, ,,	,, ,,	,, ,,	१८९०
६ ज्योतिष्मती	डा०रामशंकर भट्टाचार्य	--	मोतीलाल बनारसीदास, बनारस	१९६७
७ जीवन्मुक्तिविवेक	विद्यारण्यमुनि	हरिनारायण आप्टे	आनन्दाश्रम मुद्रणालय	१९१६
८ तत्त्वकौमुदी	वाचस्पतिमिश्र	डा०आद्याप्रसाद मिश्र	सत्यप्रकाशन, प्रयाग	१९६६
तत्त्वकौमुदी प्रभा	डा०आद्याप्रसाद मिश्र			
९ तत्त्वविभाकर	वंशीधर मिश्र	आचार्य०विश्वेश्वर श्रीरामशास्त्री	चौखम्बा संस्कृत-सिरीज	१९२७
१०तर्कभाषा	केशव मिश्र	आचार्य विश्वेश्वर	,, ,,	१९५३
११देवीभागवत पुराण	आचार्य व्यास	श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब	१९६८
१२पंचदशी	विद्यारण्य मुनि	हरिश्चन्द्र विद्यालंकार	लक्ष्मी प्रिंटिंग वर्क्स	१९६०
१३प्रशस्तपादभाष्य	आचार्य व्यास	ढुण्ढिराज शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सिरीज	१९६६
१४ ब्रह्मवैवर्तपुराण	,, ,,	राधाकृष्ण मोरे	गोपाल प्रिंटिंग वर्क्स	१९५५
१५ भास्वती योगकारिका	हरिहरानन्द। विज्ञानभिक्षु।	श्रीगोस्वामी दामोदरशास्त्री	चौखम्बा सं०सिरीज	१९३५

क्रम	ग्रन्थ	रचयिता	सम्पादक	प्रकाशक	काल
१६	मनोविज्ञानमीमांसा	आचार्य विश्वेश्वर	--	आत्माराम एण्ड संस	१९५६
१७	मत्स्यपुराण	आचार्य व्यास	राधाकृष्ण मारे	गोपाल प्रिंटिंग प्रेस	१९५४
१८	महाभारत (अनुशासनपर्व)	,,	पी०पी०एस०शास्त्री	विविल्ला प्रेस	१९३६सं०
१९	महाभारत (शांतिपर्व)	,,	--	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० २०१४
२०	महाभारत (भीष्मपर्व)	,,	पी०एस०शास्त्री	विविल्ला प्रेस	सं० १९३४
२१	मार्कण्डेय पुराण	,,	श्रीराम शर्मा	संस्कृत संस्थान ख्वाजाकुतुब	१९६८
२२	मनुस्मृति	आचार्य मनु	गंगानाथ झा	इण्डियन प्रेस, प्रयाग	१९३२
२३	युक्तिदीपिका	अज्ञात	रामचन्द्र पाण्डेय	मोतीलाल बनारसीदास	१९६७
२४	योगसूत्र योगभाष्य	पतंजलि आचार्य व्यास	ब्रह्मलीन मुनि	चेतन प्रकाशन मंदिर, गुजरात	१९५८
२५	योगतत्ववैशारदी योगवार्तिक	वाचस्पति मिश्र विज्ञानभिक्षु	श्रीनारायण मिश्र	भारतीय विद्या प्रकाशन	१९७१
२६	योगसूत्रवृत्ति	नागेश भट्ट	अभ्यंकर वासुदेव शास्त्री	आर्य भूषण प्रेस	१९८७
२७	योगसूत्रवृत्ति	भावागणेश	महादेव गंगाधर	निर्णय सागर प्रेस	१९२७
२८	योगसिद्धांतचंद्रिका (सूत्रार्थबोधिनी)	नारायणतीर्थ	रत्नगोपाल भट्ट	चौखम्बा संस्कृत सिरीज	१९११
२९	योगसूत्र मणिप्रभा	रामानन्दयति	दामोदरलाल गोस्वामी	विद्याविलास प्रेस	१९०३
३०	योगसार संग्रह	विज्ञानभिक्षु	स्वामी सनातनदेव	मोतीलाल बनारसीदास	सं० २०१४
३१	योगवासिष्ठ	००वसिष्ठ	[illegible]	गणपतिकृष्णजी मुद्र०	--
३२	योग याज्ञवल्क्य	योगी याज्ञवल्क्य	प्रह्लादचन्द्रदीवानजी	बी०बी०आर०एस०मानोग्राफ बम्बई	१९५४
३३	राजमार्तण्डवृत्ति	भोजदेव	डा०रामशंकर भट्टाचार्य	भारतीय विद्या प्रकाशन	१९६९
३४	विद्वत्तोषिणी	बालरामोदासीन	आत्मस्वरूपउदासीन	गुजराती मुद्रणालय	१९३१
३५	विष्णुपुराण	आचार्य व्यास	श्रीराम शर्मा	संस्कृत संस्थान	१९६७

क्रम	ग्रन्थ	रचयिता	संपादक	प्रकाशक	काल
३६	वायुपुराण	आचार्य व्यास	श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान	१९६७
३७	वेदान्त सार	सदानन्द	रामसरन त्रिपाठी	चौखम्बा सं०विद्याभवन	१९६५
३८	श्री मद्भागवतम् स्कन्ध ११	व्यास	मुंशी नवलकिशोर	सी०आई०बी०प्रेस,लखनऊ	१८६७८
३९	,, स्कन्ध ३	,,	नित्यस्वरूपशास्त्री	देवकीनन्दन मुद्राणालय	सं० १९
४०	षड्दर्शन समुच्चय	हरिभद्रसूरि	--	ऐशियाटिक सोसायटी	१९०५
४१	षड्दर्शन रहस्य	पं०रंगनाथ पाठक	--	विहार राष्ट्रभाषा परिषद्	१९५८
४२	सांख्यसूत्र सांख्यप्रवचनभाष्य सांख्यसार तत्त्वसमाससूत्र	आचार्य कपिल विज्ञानभिक्षु ,, भावागणेश	रामकृष्ण भट्टाचार्य	भारतीय विद्याप्रकाशन	१९६६
४३	सांख्यसूत्रवृत्ति	अनिरुद्ध	,, ,,	प्राच्य भारतीय प्रकाशन	१९६४
४४	सांख्यकारिका	गौडपाद	ढुण्ढिराजशास्त्री	चौखंबा सं०सिरीज	१९६८
४५	,,	माठर	विष्णुप्रसादशर्मा	,, ,,	१९२२
४६	,,	जयमंगला	हरदत्त शर्मा	बैलाव प्रिंटिंग प्रेस	—
४७	सांख्यतत्त्वालोक	हरिहरानन्द	गोपीनाथ कविराज	हितचिन्तक प्रेस	१९३६
४८	सुषमा	हरिराम शुक्ल	--	चौखंबा सं०सिरीज	सं० १९
४९	सुवर्णसप्ततिसूत्र	परमार्थ	अय्यास्वामीशास्त्री	तिरुपति प्रेस	१९४४
५०	सांख्यचन्द्रिका	नारायणतीर्थ	ढुण्ढिराजशास्त्री	चौखंबा सं०सिरीज	१९५३
५१	सारबोधिनी	शिवनारायण शास्त्री	पाण्डुरंग जावाजी	निर्णयसागर प्रेस	१९४०
५२	सर्वदर्शन संग्रह	सायनमाधव	काशीनाथ शास्त्री	तिरुपति प्रेस	१९५४
५३	स्कन्द पुराण	आचार्य व्यास	श्रीकृष्णदास	श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय	सं० १९
५४	२० स्मृतियां	,,	श्रीरामशर्मा	संस्कृति संस्थान	१९६७
५५	सांख्यतत्त्वकौमुदी	राजेश्वरशास्त्री	--	विद्याविलासप्रेस	१९१७
५६	हठयोग प्रदीपिका	आत्माराम योगीन्द्र	मिहिरचन्द्र	श्रीकृष्णदास श्रेष्ठ	सं० १८

(हिन्दी ग्रन्थ)

क्रम	ग्रन्थ	रचयिता	संपादक	प्रकाशक	काल
५७	आचार्यविज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान ।	डा० सुरेशश्रीवास्तव		लोकभारती,इलाहाबाद	

क्रम	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्रकाशन	काल
६०	सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा।	डा० आद्याप्रसाद मिश्र	सत्य प्रकाशन	१९६७
६१	सांख्य योग दर्शनों का जीर्णोद्धार।	हरिशंकर जोशी	चौखम्बा विद्याभवन	१९६५
६२	सांख्यदर्शन	श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान	१९६९

(अंग्रेजी ग्रन्थ)

क्रम	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्रकाशन	काल
६३	ए क्रिटिकल स्टडी आफ द सांख्य सिस्टम।	वी०वी० सोवानी	पूना ओरियण्टल एजेंसी	१९३५
६४	ए स्टडी आफ भागवतपुराण	पूर्णेन्दुनारायण सिन्हा।	दि थियासाफिकल पब्लिशिंग हाउस, मद्रास	१९३७
६५	ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी अंक १	एस० एन० दासगुप्ता	युनिवर्सिटीप्रेस कैम्ब्रिज	१९३७
६६	क्लैसिकल सांख्य	गेराल्ड जेम्स	मोतीलाल बनारसीदास	१९६९
६७	इंडियन फिलासफी अंक २	डा० राधाकृष्णन्		
६८	मैनुअल आफ साइकालोजी	यदुनाथ सिन्हा	दि सेण्ट्रल बुक एजेंसी	१९५९
६९	सांख्य सिस्टम	प्रो० ए०बी० कीथ	दि कलकत्ता एसोसिएशन प्रेस	१९१८
७०	दि सांख्य कारिका आफ ईश्वर कृष्ण।	जान डेवीस	सुशीलगुप्ता लिमिटेड	१९५७
७१	तत्त्व कौमुदी	गंगानाथ झा	तुकाराम तात्य	१८९६
७२	योग फिलासफी	एस०एन०दास गुप्ता	यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता	१९३०

(हिन्दी पत्र-पत्रिकाएं)

क्रम	विषय	लेखक	पत्रिका
१	प्रकृति पुरुष योग	श्रीगोपालचैतन्य देवजी	'कल्याण' साधनांक, सं० २, सितम्बर १९४०
२	योग का सोपान	श्री शिवानन्द जी सरस्वती	'कल्याण' साधनांक सं० १
३	देवी भागवत में तन्त्राधिकारी	श्री शंकरतीर्थ जी महाराज	,, देवीभागवतांक, अंक १, १९६०

(अंग्रेजी पत्रिकाएं)

क्रम	विषय	लेखक	पत्रिका
१	प्राणायाम इन योगसूत्राज एण्ड व्यासभाष्य ।	स्वामी कुवलयानन्द	योग मीमांसा, जून १६५०
२	स्केच आफ द साइकालाजी फाउण्डेड बाई योग ।	मेसिना स्कालिगैरो	लिवेण्ट फेयर, नवम्बर १६५६
३	दि सांख्य	प्रो० हरियन्ना	दि कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया खण्ड ३
४	योग साइकालोजी	हरिदास भट्टाचार्य	,, ,,